

GL H 320.454

PUN



121752
LBSNAA

L.B.S. National Academy of Administration

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

मुसूरी
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

अवधि संख्या

Accession No.

वर्ग संख्या

Class No.

पुस्तक संख्या

Book No.

PUN

121752

22108

GLH 320.454

पुष्पता

9

हिन्दू-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला

भारतीय लोकनीति और सभ्यता

(ऐतिहासिक आधार-पृष्ठ और अर्वाचीन-समस्याएँ)

दूसरा खंड

लेखक

श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुण्णतांबेकर

एम० ए० (आक्सफर्ड), बैरिस्टर-एट-ला, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में
इतिहास और राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर, इतिहास विभाग के
प्रधान तथा 'An Introduction to Civics
& Politics,' के लेखक



प्रकाशक

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय

सं० १८८१ विक्रम

प्रथम संस्करण

**Printed by A. Bose,
at The Indian Press, Ltd., Benares-Branch.**

समर्पण

आदर्श नागरिक, आदर्श राजा,
आदर्श पति, आदर्श पुत्र,
मर्यादा - पुरुषोत्तम भगवान्
श्री रामचन्द्र को समर्पित

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु
सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

सुराज्य

ब्रह्मप्रदिता लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षक्षयवर्जितः ॥
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः कचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥
न चाग्निजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ।
न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥
न चापि क्षुद्रयं तत्र न तस्करभयं तथा ॥
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ।
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥

रामायण बालकांड, सर्ग १, श्लोक ८८-९१



परिभाषा

१. अप्रतिकार का सिद्धान्त	Doctrine of non-resistance.
२. एकतन्त्र शासन	Monarchy.
३. औपनिवेशिक शासन	Colonial government.
४. औपनिवेशिक स्वराज्य	Dominion status.
५. अधिकारों का विभाग	Devolution.
६. केन्द्रीय शासन	Central government.
७. प्रजातन्त्र	Democracy.
८. प्रत्यक्ष कार्य	Direct action.
९. प्रतिनिधित्व	Representation.
१०. राष्ट्रीय महासभा	National Congress.
११. राज्यतन्त्र	Government.
१२. मन्त्रिमण्डल	Cabinet.
१३. व्यक्तिवादी	Individualist
१४. विरोध का सिद्धान्त	Doctrine of resistance.
१५. वैध आन्दोलन	Constitutional agitation.
१६. वैध शासन	Constitutional government
१७. वर्गीयतन्त्र	Aristocracy.
१८. वैध स्वातन्त्र्य	Constitutional liberty.
१९. राष्ट्रवादी	Nationalists.
२०. साम्राज्यवादी	Imperialists.
२१. संघात्मक संघटन	Federal Constitution.
२२. साम्यवादी	Socialists.
२३. स्वभाग्य निर्णय	Self-determination.
२४. कानूनी अधिकार	Legal rights.
२५. कानूनी कर्तव्य	Legal duties.
२६. रक्षात्मक अधिकार	Protective rights.
२७. कल्याणात्मक अधिकार	Welfare rights.
२८. राष्ट्र-संघ	League of Nations.

प्राक्थन

मेरे मित्र और सहकारी प्रोफ़ेसर श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुण्यताम्बेकर ने यह महत्त्वपूर्ण छोटी पुस्तक एक ऐसे विषय पर लिखी है जो बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी का एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण विशिष्ट विषय है; और इसका संक्षिप्त प्राक्थन लिखते हुए मुझे बहुत अधिक आनन्द होता है। यद्यपि इस विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा के अर्थकर अंग की उपेक्षा नहीं की गई है, बल्कि यों कहना चाहिए कि आधुनिक भारत की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उस शिक्षा के विकास पर निरन्तर पूरा ध्यान दिया जाता है, तथापि यह बात सदा स्वीकृत की गई है कि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी का अस्तित्व वास्तव में भारत की प्राचीन संस्कृति की खोज करने और उस पर फिर से विचार करने के लिए ही हुआ है। यही उद्देश्य सामने रखकर मेरे मित्र प्रोफ़ेसर तैलंग ने और मैंने सन् १९२३ में इस विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम में भारतीय तथा समस्त संसार के सामान्य नागरिक शास्त्र और प्राचीन भारत के इतिहास तथा संस्कृति की शिक्षा की व्यवस्था की; और अब यह देखकर बहुत सन्तोष होता है कि ये विभाग दिन पर दिन उन्नति कर रहे हैं और बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं। प्रो० पुण्यताम्बेकर ने दो पुस्तकें लिखी हैं। एक तो Introduction to Civics and Politics और दूसरी Introduction to Indian Citizenship and Civilization और ये दोनों पुस्तकें यह बात सूचित करती हैं कि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में नागरिक शास्त्र की शिक्षा बिलकुल मामूली तौर पर नहीं दी जाती, बल्कि उसमें बहुत कुछ सार और तत्त्व है।

लेखक ने यह बात बहुत ही ठीक और मार्क की कही है कि—“भारतीय नागरिक के सम्बन्ध की बातों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान

रखना चाहिए कि स्वयं वह कैसी परिस्थिति में था, वह किस रूप में विकसित हुआ था और उसकी संस्थाएँ आदि कैसी थीं; और साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि इस समय वह किस रूप में है और भविष्य में किस रूप में होना चाहता है।” और आगे चलकर इस विषय का जो विवेचन किया गया है, वह यद्यपि स्थान की कमी के कारण कुछ संक्षिप्त हो गया है, तथापि वह इतना विचारपूर्ण अवश्य है जिससे विद्यार्थी के मन में विचार पुष्ट हो सकते हैं। इसके सिवा उन्होंने हिन्दू सभ्यता की कई आवश्यक विशेषताओं पर भी ध्यान देकर उनका विवेचन किया है। उदाहरणार्थ एक तो यह कि हिन्दू सभ्यता गतिशील भी है और निश्चल भी। हिन्दू लोग यद्यपि अपनी समझ में संकुचित और संकीर्ण विचारवाले हैं, तथापि अनजान में वे उदार हैं। दूसरे यह कि अपने पड़ोसी के प्रति हिन्दू का यह भाव रहता है कि “संसार में हम भी सुखपूर्वक रहें और तुम भी रहो”। और साथ ही तीसरे यह कि उसकी प्रवृत्ति में बिल्कुल उदासीनता या नितान्त एकान्तता नहीं है, बल्कि उसके पड़ोसी के जीवन में जितनी अच्छी से अच्छी और आवश्यक बातें होती हैं, उन्हें वह शान्ति और उदारतापूर्वक ग्रहण कर लेता है।

भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या यह है कि प्राचीन हिन्दुओं के वास्तविक और आदर्श जीवन के अन्तर का कैसे पता लगाया जाय, और इसी कारण आदर्श की उस वास्तविकता के सम्बन्ध में सन्देह किया जाता है जो प्राचीन ग्रन्थों में अंकित की गई है। उदाहरणार्थ कुछ लोग इस बात में सन्देह किया करते हैं कि क्या आश्रमोंवाली व्यवस्था का कभी वास्तविक जीवन में भी पालन होता था ? और क्या रामायण के महानरनायक के समान राजा भी किसी समय हुए थे ? वास्तविक और आदर्श जीवन में जो अन्तर होता है, उसका महत्त्व तो माना जा सकता है; पर फिर भी ऐसी बहुत सी और विश्वसनीय कसौटियाँ हैं जिनसे यह निश्चित किया जा सकता है कि आदर्श किस सीमा तक वास्तविक माना जा सकता है। व्यक्ति की ही भाँति किसी समाज में भी वास्तविक जीवन कभी पूर्ण रूप से आदर्श जीवन का समकक्ष नहीं हो सकता। लेकिन इतना होने पर भी आदर्श

का इतना अधिक ग्रहण और पालन हो सकता है कि वह वास्तविक समझा जा सके। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था बहुत कुछ आदर्श के ही रूप में थी; और राजा का आदर्श भी ऐसा ही था, जिसके ज्वलन्त तथा उज्ज्वल उदाहरण वास्तविकता के क्षेत्र में मिला करते थे। इसलिए प्रो० पुण्यताम्बेकर ने अपने वक्तव्यों का आधार वास्तविक इतिहास पर रखा है; पर साथ ही उन्होंने उस मूल भाव का भी ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है जिससे वह इतिहास अनुप्राणित है। इस प्रकार इतिहास और दर्शन के जो तत्त्व आपस में मिलते-जुलते और समान हैं, उनका उन्होंने ठीक-ठीक ग्रहण और अनुकरण किया है।

जो भारतवासी हिन्दू सभ्यता के नागरिक अंग का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उनसे मैं लेखक की इन दोनों पुस्तकों का अध्ययन करने की सिफारिश करता हूँ।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय }
रामनवमी, सं० १९८८

ए० बी० ध्रुव ।

लेखक की भूमिका

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में भारतीय लोकनीति और सभ्यता-सम्बन्धी विषयों की शिक्षा देने के समय उनकी समस्याओं का मुझे जो अध्ययन करना पड़ा था, प्रस्तुत पुस्तक उसी के फल-स्वरूप है। इस देश के लोगों को अपने पूर्वजों से जो अच्छी से अच्छी बातें मिली हैं, जिनका परम्परा से अध्ययन होता आया है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जो अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण की गई हैं तथा एकत्र की गई हैं और साथ ही संसार की जिन अच्छी से अच्छी बातों का ज्ञान-पूर्वक अध्ययन तथा अनुकरण किया गया है और आदर तथा श्रद्धा के भाव से जिनका ग्रहण किया गया है, उन सबको एकत्र करके एक स्थान पर रखना ही इस विश्वविद्यालय का उद्देश्य और आदर्श है। हिन्दुओं में सदा से उच्च आकांक्षाएँ रही हैं और वे ज्ञानक्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ बातों तक पहुँचने की कामना करते रहे हैं। जीवन के भिन्न-भिन्न विभागों और अङ्गों में जितनी जटिलताएँ और जितनी विविधताएँ होती हैं, उन सबके संग्रह की क्रिया ही मानें उनका इतिहास है। इसलिए उनका धार्मिक और सामाजिक संघटन स्वतः बनाये हुए वर्गों की एक ऐसी प्रणाली पर आश्रित है जो मूलतः जन-साधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के बितान्त अनुकूल है और उनकी शिक्षा प्रणाली का आधार व्यक्तिगत प्रयत्न और संघटन है। जीवन के बाह्य विभेदों को वे बिल्कुल स्वतन्त्र छोड़ देते हैं और जीवन की आन्तरिक एकता के उद्देश्य से वे उनका एकीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। यह पुस्तक दो भागों में प्रकाशित होगी। यह एक प्रकार से केवल आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करानेवाली पुस्तक है और इसमें मोटे तौर पर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि प्राचीनकाल में नागरिक जीवन के कौन से भिन्न-भिन्न अङ्ग और उद्देश्य थे, इतिहास में वे किस प्रकार प्रकट या प्रत्यक्ष हुए और उसकी भिन्न-भिन्न श्रेणियों में क्या-क्या परिवर्तन घटित हुए। उसकी प्रत्येक श्रेणी या अवस्था में उन्नति या वृद्धि का तत्त्व वर्त्तमान है, और सब जगह

यही दिखलाई पड़ता है कि सब अङ्गों को ठीक तरह से स्थापित करने, उन में बल की समानता बनाये रखने और सामञ्जस्य स्थापित रखने का प्रयत्न किया गया है। उसमें केवल व्यवस्था का ही तत्त्व नहीं है, बल्कि इस सभ्यता के विस्तृत और बहुकालव्यापी क्षेत्र में उन्नति भी दृष्टिगोचर होती है। यही एक ऐसा तत्त्व है जो उसका इतिहास केवल मनोरञ्जक ही नहीं बनाता, बल्कि उसे मूल्यवान् या महत्त्वपूर्ण भी बनाता है।

भारत के इतिहास से महत्त्व की एक और बात भी प्रकट होती है। और वह यह कि जो लोग यहाँ किसी समय विदेशी के रूप में आते थे, वे कुछ दिनों बाद इसी देश के नागरिक हो जाते थे। इस क्रिया का एक मुख्य अङ्ग यह था कि इसके उदर में सबको स्थान मिल जाता था, यह सबको पचा लेता था, विदेशियों को अपनी सीमा में भुक्त कर लेता था और इस देश के आदिम निवासियों को मनुष्य बनाता था। भारत की प्राचीन लोकनीति के सम्बन्ध में ये तत्त्व बहुत बड़े और महत्त्व के हैं। यहाँ आकर विदेशियों को अपने नितान्त आवश्यक विचारों या स्वतन्त्रताओं का परित्याग नहीं करना पड़ता था और वे यहाँ के सीमा-सम्बन्धी या राष्ट्रीय वर्ग में सम्मिलित हो जाते थे, उसके संरक्षण और नियमन का भोग करते थे और उसकी सहनशीलता प्राप्त करते थे।

पड़ोसियों के प्रति हिन्दुओं का यही भाव था कि “हम भी सुखपूर्वक रहें और तुम भी रहो।” यह एक बहुत ही मनुष्योचित भाव है और इससे भारत की राष्ट्रीयता तथा मनुष्यत्व की नवीन नागरिकता का निर्माण करने में बहुत सहायता मिलेगी।

आगे के पृष्ठों में मैंने इन में से कुछ समस्याओं का विवेचन किया है और भारतीय लोकनीति तथा सभ्यता के स्थायी महत्त्व और आवश्यकताओं पर जोर दिया है।

इस प्रचीन विशाल नगर और इस आधुनिक आदर्श विश्वविद्यालय ने मेरे अध्यापन के कार्य में मेरे चारों ओर ज्ञान, संस्कृति और परम्परागत शुभ बातों की जो विशाल परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, उसी के कारण मुझे यह पुस्तक लिखने की थोड़ी बहुत प्रेरणा मिली है। इस परिस्थिति में मुझे आधुनिक और

प्राचीन दोनों ही प्रकार के बड़े-बड़े ऋषियों की उपस्थिति और प्रधानता का अनुभव होता है, और मैं बहुत ही अद्भुत तथा नम्रतापूर्वक उनका आभार स्वीकृत करता हूँ ।

मैंने यह विस्तृत सिंहावलोकन इसलिए किया है कि विद्यार्थी जोग उस विशाल और उन्नतिशील सभ्यता के भिन्न-भिन्न अङ्गों को अच्छी तरह और विस्तृत दृष्टि से देख सकें जो अपने दीर्घ जीवन में निरचल होने के साथ ही साथ गतिशील भी है । मैं आशा करता हूँ कि इससे उनकी दृष्टि विस्तृत होगी, उनके विचार गम्भीर होंगे और मातृभूमि की सबसे बड़ी आवश्यकता और ज्ञान-सम्बन्धी संघर्ष के समय उसकी सेवा के लिए उनके हृदय को महान् तथा समस्त सद्गुणों से युक्त करने में सहायता मिलेगी ।

वन्देमातरम् ।

यह पुस्तक मेरी अँगरेज़ी पुस्तक Indian Citizenship and Civilization का हिन्दी अनुवाद है । बनारसनिवासी श्रीयुत बाबू रामचन्द्र वर्मा ने कृपा कर अनुवाद को सुसंस्कृत किया है । इस परिश्रम के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ !

हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस । } श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुराताम्बेकर ।
रामनवमी, सं० १९८८

भारतीय लोकनीति

विषय-सूची

परिच्छेद १

आर्थिक जीवन

पृष्ठ

(१) साधारण रूप—उच्चतर आर्थिक जीवन की आवश्यकता—भारतवर्ष के प्रचुर साधन—जल और स्थल के आवागमन के मार्ग—भारतीयों की प्रतिभा—भारत की आर्थिक उन्नति—शिल्प-प्रणाली—राज्य के आर्थिक कर्त्तव्य और नीति—कौटिल्य-काल में—अकबर के शासन-काल में—देश की वर्त्तमान आर्थिक अवस्था—एक भारतवासी की औसत आमदनी—दूसरे देशों के निवासियों की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी—भारत की सम्पत्ति और आय के अनुमानों की सूची—दरिद्रता की वास्तविकता—बहुत बड़ी कर्जदारी—अकाल—भारत में अकाल—अकाल-सम्बन्धी सरकारी नीति ।

(२) कृषि की अवस्था—भारत की आबादी—श्रीयुक्त पिछाई के अनुसार ब्रिटिश भारत में देहातों में रहनेवाले लोगों का वर्गीकरण (१९११)—ज़मींदार—काश्तकार जो स्वयं अपनी ज़मीन या ज़मींदार को खगान देकर उनकी ज़मीन जोतते-बोते हैं—खेतों आदि में काम करनेवाले नौकर और मजदूर—बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों के गुमाश्ते, मैनेजर और उनके नौकर-चाकर

आदि—प्रति गृहस्थी एकड़ की संख्या—भूमि का वर्गीकरण—
 देश में फैलने या विदेश में जाकर बसने की गुंजाइश नहीं है—
 जन-संख्या की वृद्धि—वैज्ञानिक प्रणालियों को भी प्रोत्साहन
 नहीं दिया जाता—भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है—
 सरकार और कार्तकार का सम्बन्ध—सरकारी मिल्कियत का
 ज़मीन पर प्रभाव—बन्दोबस्त की प्रणालियाँ—ज़मींदारी प्रथा—
 संयुक्त प्रथा—स्वामित्व का स्वरूप—व्यक्तिगत और सामाजिक
 कठिनाइयाँ—कृषि के सिवा और पेशों की आवश्यकता—
 कृषि तथा अन्य व्यवसायों के सामंजस्य का लोप—कृषकों की
 शिक्षा—सरकार द्वारा वैज्ञानिक सहायता—सिँचाई का
 कार्य—कोआपरेटिव या सहयोग आन्दोलन—निषेधकारी
 कानून—सरकारी सहायता और संरक्षण—सहायक शिल्पों
 की व्यवस्था—सार्वजनिक मत के प्रभाव की आवश्यकता—
 कुछ कड़े उपाय ।

१—४०

परिच्छेद २

आर्थिक जीवन (क्रमागत)

(३) शिल्प—भारत की शिल्पी जनता—शिल्प कार्य में
 भारत के पिछड़े रहने के कारण—ज़मीन पर दबाव
 बेकारी—सरकारी विभाग—कुटी-शिल्प और उनका महत्त्व—
 कुटी-शिल्पों के भेद—पुराने शिल्पियों की अवस्था—नये
 शिल्पकार और मज़दूर—उनकी आय—विज्ञान और मशीनों
 की सहायता से काम—भारतीय शिल्पी जीवन की श्रेणियाँ—
 आधुनिक शिल्पवाद—भारत में शिल्प-संघ—मज़दूरों की
 वर्तमान अवस्था ।

(४) मजदूरों का विदेश जाना—इसके लाभ और शर्त—
बहुत ही थोड़ा क्षेत्र और स्वतन्त्रता ।

(५) व्यापार और व्यवसाय—व्यापार का आरम्भ—उसका
उन्नत स्वरूप; हिन्दू-काल—मुस्लिम-काल—युरोपियन—बैंक
का काम या महाजनी—निर्यात—आयात—आयात की मुख्य
मुख्य वस्तुएँ (सन् १६२५-२६)—निर्यात की मुख्य-मुख्य
वस्तुएँ (१६२५-२६) ।

(६) गाँव का आर्थिक संघटन—गाँव—उसका आर्थिक
स्वरूप—वर्गीय या सामुदायिक जीवन—कर या आय के
साधन—ग्राम-पञ्चायत और जाति-पञ्चायत—गाँव और केन्द्रीय
शासन या सरकार ।

नगर का आर्थिक संघटन—नगर—वहाँ का समाज—
वहाँ का श्रेणी-संघटन—उनका नागरिक भाव—नगर और
केन्द्रीय सरकार—नगरों के शिल्पीय जीवन का ह्रास—ज़मीं-
दारी की प्रथा—परिशिष्ट (१)—नगरों तथा ग्रामों के
सम्बन्ध के लेखे—परिशिष्ट (२)—पेशों के अनुसार भारतीयों
का विभाग—सारांश ।

४१—८५

परिच्छेद ३

राजनीतिक जीवन

(१) शासन के ऐतिहासिक प्रकार—वैदिक काल; प्रजा-
तन्त्र और वर्गीय तन्त्र—एकतन्त्री राज्य—एकतन्त्र शासन-
प्रणाली—सप्ताङ्ग राष्ट्र—स्थानिक स्वराज्य—अमाल्य—मुसल-
मानी राज्यतन्त्र—ईश्वर के स्वामित्ववाली कल्पना—जागीरदारी

की भावना—ब्रिटिश राज्यतन्त्र—स्वेच्छाचारपूर्ण और नौकर-शाही से युक्त—शासन में कार्यकारी शासकों का प्रभुत्व ।

(२) सरकार और जनता—सहयोग और संघटन की आवश्यकता—राष्ट्र के व्यक्तिवादी और समष्टिवादी सिद्धान्त—सरकार का कर्त्तव्य—आधुनिक काल में सरकार का कर्त्तव्य—आजकल संसार में विदेशी शासन असह्य हो रहा है—जनता की जाग्रति—विदेशी शासन के प्रभाव ।

८६—१०७

परिच्छेद ४

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(१) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन—इसके आरम्भिक मार्ग-दर्शक—आरम्भिक सभाएँ—एकता की आरम्भिक शक्तियाँ—एक नई शक्ति—भारतीय राष्ट्रीय महासभा—आरम्भिक स्थानिक तथा प्रान्तीय सभाएँ और प्रयत्न—राष्ट्रीय मनोवृत्ति—राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवर्तक—भिन्न-भिन्न राजनीतिक शाखाओं का उदय—राजभक्त—वैध आन्दोलनकारी—उदार और नरम-दलवाले—राष्ट्रवादी—असहयोगी—प्रतिकारी सहयोगी—क्रान्तिकारी—जातीय शाखाएँ—लार्ड लिटन का शासन-काल और उनकी साम्राज्यवादिता—लार्ड रिपन का शासन-काल—भारतीय राष्ट्रीय विवेक की जाग्रति—भारतीय राष्ट्रीय महासभा की सृष्टि—भारतीय राष्ट्रीय महासभा के उद्देश्य (१८८५)—राजनीतिक समस्याओं पर विचार—स्वीकृत प्रस्तावों का स्वरूप—विशिष्ट सिद्धान्तों के लिए आग्रह—उसकी शाखाएँ और कार्य—कांग्रेस आन्दोलन के कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ता—उद्देश्यों और

संघटन का पुनर्निर्णय (सन् १८६६)—आरम्भिक कांग्रेसों के कार्य का महत्त्व—उसका राष्ट्रीय स्वरूप—आरम्भिक उद्देश्य—नवीन दल और नवीन उद्देश्य; उदय के कारण—लार्ड कर्जन की साम्राज्यवादिता और आचरण—दादाभाई द्वारा नये उद्देश्य की व्याख्या—सूरत कांग्रेस में फूट (१९०७), नरम और गरम दल—कांग्रेस पर नरम दल-वालों का अधिकार—उनका सिद्धान्त और कन्वेंशन कांग्रेस—कांग्रेस के उद्देश्य—सदस्यता—सूरत के ऋगड़े के बाद कांग्रेस—मार्ले-मिंटो सुधारों की अनुपयुक्तता—१९१४ के बाद कांग्रेस की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण प्रभाव—लुटकारे के बाद तिलक का रुख—श्रीमती बेसेंट और राजनीति—महायुद्ध से जोर पहुँचना—कांग्रेस में राष्ट्रीय दल का प्रवेश—होम रुख लीगों का काम—कांग्रेस-लीग योजना (१९१६)—अगस्तवाली घोषणा (१९१७)—सुधारों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दलों के विचार—कांग्रेस का भाव—असहयोग का सन् १९२०—गान्धी की नई नीति और कार्य-प्रणालियाँ—सरकार के कार्य और गान्धी का सन्देश—उनका आदर्श और सत्याग्रह आश्रम की नियमावली—(१) सत्य, (२) अहिंसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) सरल जीवन, (५) अस्तेय व्रत, (६) अपरिग्रह व्रत, (७) स्वदेशी और बहिष्कार, (८) अभय या निर्भीकता—नये ढंग के कार्य-कर्त्ताओं की आवश्यकता—असहयोग का कार्य-क्रम—एक वर्ष में स्वराज्य—आंशिक सफलता—बारडोली और उसके बाद—दो दल—स्वराज्यवादियों का उदय और बल—दो प्रवाह—प्रत्यक्ष कार्य और पार्लिमेंटो कार्य—क्रान्तिकारक आन्दोलन—उसका स्वरूप और विस्तार ।

परिच्छेद ५

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(४) शासकों की नीति—नियन्त्रण उनके हाथ में है—सेना—कुछ समाधानकारक उपाय—१८५३ का ऐक्ट—स्थानिक स्वराज्य (१८८२)—इंडियन कांसिल ऐक्ट (१८९२)—१९०९ का इंडियन कांसिल ऐक्ट—ऐक्ट का स्वरूप—डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन—१९११ में सम्राट् का भारत-आगमन—१९१४ का लार्ड हार्डिंज का भाषण—अगस्त १९१७ की घोषणा—मांटफ़ोर्ड सुधार के प्रस्ताव—परिवर्तन—दो नियामक तत्त्व—भारत का भविष्य—वे समस्याएँ जिनका निराकरण नहीं हुआ है ।

(५) साम्प्रदायिक आन्दोलन—मुसलमानों का साम्प्रदायिक आन्दोलन—अब्राह्मण साम्प्रदायिक आन्दोलन—अछूतों का आन्दोलन—साम्प्रदायिक आन्दोलन राष्ट्रीयता के विरोधी और भयानक हैं ।

१५५—१७६

परिच्छेद ६

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(६) राष्ट्र-संघटन सम्बन्धी समस्याएँ ।

(१) संघ-सम्बन्धी समस्या—भारत के मानचित्र का स्वरूप—१८३३ का ऐक्ट—१८५३ का ऐक्ट—१८६१ का ऐक्ट—शासनाधिकार का विभाग—डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन (१९१०)—आर्थिक अधिकार-विभाग—क़ानून बनाने के अधिकारों का विभाग—अधिकार-विभाग के मुख्य कारण—संघात्मक संघटन ।

(२) भारत की स्वराज्य-भोगी देशी रियासतों की समस्या—देशी रियासतों का संघ में सम्मिलित होना आवश्यक है—उनके हित भी शेष भारत के हित के समान ही हैं—देशी रियासतें और ब्रिटिश सम्राट्—१८५८ की घोषणा—देशी रियासतों का वर्गीकरण—उनका वास्तविक स्वरूप—शासक और शासित—ब्रिटिश भारत और ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध—पुरानी सन्धियों का स्वरूप—देशी राजाओं की बेचैनी—उनकी कामनाएँ—नरेन्द्र-मंडल—भारतीय दृष्टिकोण—छोटे-छोटे राजा—उनकी स्थिति—साम्राज्य और विदेशी शासन ।

(३) औपनिवेशिक स्वराज्य या स्वतन्त्रता की समस्या—औपनिवेशिक स्वराज्य अधिक उत्तम और कार्यरूप में परिणत करने के योग्य है—उसके लाभ—साम्राज्य की संगति और सहयोग—साम्राज्य में भारत की स्थिति—राष्ट्र-संघ और उसके उद्देश्य—“आज्ञा” का सिद्धान्त—इसके अन्यान्य कार्य—उसके सदस्य और संघटन—भारत और संघ ।

(४) भारतीय राष्ट्र-संघटन में सुधार—१९१६ वाले ऐक्ट की प्रस्तावना—स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार—भारतीय नेशनल कांग्रेस का निश्चय (१९१८) ।

१८०—२१६

परिच्छेद ७

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(७) नागरिकों के कानूनी अधिकार और कर्तव्य—सामाजिक नियमों की आवश्यकता—सामाजिक नियम और राज्य के कानून—कानूनी अधिकार—नागरिक प्रजा और पर-

देशी—नागरिकों के भिन्न-भिन्न अधिकार—रक्षात्मक—
मुख्य अधिकारों की घोषणा—कुछ मूल सिद्धान्त—
भारत में नागरिक अधिकारों का उत्पन्न—विवेक और आरा-
धना की स्वतन्त्रता—सरकारी नौकरियों में जातीय पक्षपात—
सार्वजनिक सभा करने का अधिकार—सम्मेलन का अधिकार—
बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाना—दण्ड-स्वरूप अतिरिक्त
पुलिस—एक्जिक्यूटिव के हस्तक्षेप—लेखन तथा भाषण की
स्वतन्त्रता—सम्मिलन की स्वतन्त्रता—व्यक्तिगत रक्षा का अधि-
कार—अ-प्रतिकार का सिद्धान्त—साम्यवादियों का क्रान्ति
और प्रत्यक्ष आक्रमणवाला सिद्धान्त—विरोध का सिद्धान्त—
आज्ञापालन की आदत—मताधिकार—प्रान्तों का पुनर्विभाग
और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता—समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता और
उसका महत्त्व—प्रेस ऐक्टों का इतिहास—समाचारपत्रों की
स्वतन्त्रता और विदेशी शासन पर मनरो का मत—राजा राम-
मोहन राय के मत और सरकार से प्रार्थना—१८३५ का
ऐक्ट—१८७८ का ऐक्ट—१८७८ के ऐक्ट का रह होना—
नई कानूनी भाषाएँ—१९१० का ऐक्ट ।

२२०—२४६

परिच्छेद ८

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(८) स्थानिक स्वराज्य—स्थानिक स्वराज्य के उद्देश्य—
लार्ड रिपन का निश्चय—डिसेंट्रलाइजेशन कमिशन—लार्ड
हार्डिज का निश्चय—१९१८ का निश्चय—उनका विस्तार
और शक्ति ।

(९) सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण—१८३३
का ऐक्ट और १८५८ वाली घोषणा—स्टैट्यूटरी सिविल

सर्विस रेगुलेशन—इस्टिंग्टन कमीशन—मांटफोर्ड रिपोर्ट—
ली कमीशन ।

(१०) सेना का भारतीयकरण—सेना का स्वरूप—
भारतीयों के अधिकार की उपेक्षा—साम्राज्य सरकार का हस्त-
क्षेप और नियन्त्रण—सिविल अधिकारियों का सैनिक अधि-
कारियों के अधीन होना—कुछ वर्गों और जातियों के साथ
पक्षपातपूर्ण व्यवहार—भारतवासियों का अधिकार और भारत
का सङ्कट—वर्तमान बल और संघटन—सेनाओं का
वर्गीकरण ।

(११) विदेशों में भारतीय नागरिक ।

२५०—२७०

परिच्छेद ६

स्वास्थ्य

जनता की शारीरिक अवस्था—जनता के स्वास्थात्मक
जीवन का स्वरूप—नगरों की समस्या—बच्चों की मृत्यु—
स्त्रियों की अवस्था—रोग—सरकार का कर्तव्य ।

२७१—२७७

परिच्छेद १०

हमारे जीवन का संक्रमण-काल ।

२७८—२८०

अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी कर सकता है और सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से वह कहाँ तक उन्नति कर सकता है, तो हमें इस बात का विचार करना पड़ेगा कि उसके आर्थिक तत्त्व तथा लौकिक साधन कैसे और कितने हैं।

मनुष्य अपनी भौतिक परिस्थितियों का जैसा और जितना उपयोग करता है, उसका आर्थिक जीवन भी वैसा और उतना ही अच्छा होता है। तात्पर्य यह कि देश की भूमि और प्राकृतिक शक्तियों तथा परिस्थितियों से मनुष्य को जो सहायता मिलती है और उसकी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ जितनी बढ़ती हैं, उतना ही उसका आर्थिक जीवन भी अच्छा और सुखपूर्ण होता है।

अतः इस प्रकार के अध्पयन के लिए नीचे लिखी बातों का ज्ञान होना आवश्यक है—

१—सबसे पहले, देश के उन लौकिक साधनों तथा भूगर्भ में निहित शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है जिनसे मनुष्य को लौकिक जीवन के साधन प्राप्त करने में सहायता मिलती है अथवा जिनका उन साधनों पर प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में इन बातों पर भी विचार करना चाहिए कि उस देश के जल-वायु, भूमि और उसकी पैदावारों का वहाँ के निवासियों की शक्ति और चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य अपने चारों ओर के वायु-मण्डल की सृष्टि करता है, उसी प्रकार चारों ओर का वायु-मण्डल भी मनुष्य के चरित्र आदि की सृष्टि करता है। साथ ही हमें इस बात का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि—

२—वहाँ के निवासी और उनकी भीतरी शक्तियाँ कैसी हैं; क्योंकि उन्हीं शक्तियों से वह अपने आस-पास होनेवाले कच्चे मालों का उपयोग करके लौकिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्रस्तुत करता है, अथवा प्रयत्न करके उन पर अपना अधिकार करता है। इस सम्बन्ध में यह भी जानने की आवश्यकता होती है कि उन लोगों में शारीरिक शक्ति कितनी होती है, उनका कला और शिल्प-सम्बन्धी ज्ञान कैसा है और वे वैज्ञानिक

सिद्धान्तों आदि का कहाँ तक परिचय रखते हैं; क्योंकि इन्हीं सब बातों के कारण वह उन लौकिक साधनों तथा शक्तियों का उपयोग करता है जो उन्हें प्राप्त होती हैं।

भारतवर्ष के प्रचुर साधन—हम पहले ही बता चुके हैं कि भारत में बहुत अधिक लौकिक या प्रकृति-सुलभ साधन वर्तमान हैं, जो बहुत मूल्यवान् भी हैं और उपयोगी भी। देश के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत अच्छी और उपजाऊ भूमि है, अच्छा जल-वायु है, भूमि के नीचे बहुत अधिक खनिज सम्पत्ति है, नदियों और वर्षा के कारण पर्याप्त जल मिलता रहता है, जङ्गलों आदि में लकड़ियाँ भी खूब होती हैं, कोयला और धातुएँ भी अच्छी मात्रा में पाई जाती हैं, और पालतू चौपाये भी बहुत अधिक हैं। जल, कोयले और तेल के रूप में सब जगह प्राकृतिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं और देश के भिन्न-भिन्न भागों में वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से भाप और बिजली पैदा की जा सकती है। विस्तृत समुद्र-तट पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्राकृतिक बन्दरगाह हैं जिनके कारण विदेशों से सहज में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। बड़े-बड़े जङ्गलों से गृहस्थी तथा शिल्प के काम के लिए सब तरह की चीजें और कच्चे माल मिलते हैं। साथ ही उन जंगलों में हाथी सरीखे जंगली जानवर, जड़ी-बूटियाँ और पौधे आदि मिलते हैं जो मनुष्य के लिए उपयोगी होते हैं। देश में बड़ी-बड़ी नालों और जहाजों के चलने के योग्य नदियाँ हैं जो देश के भीतरी व्यापार की उन्नति में उस समय से सहायता देती चली आ रही हैं जब कि सड़कें या रेलें नहीं बनी थीं; और उनसे देश के भिन्न-भिन्न भागों में सभ्यता का भी प्रचार होता आया है। और आजकल भी देश के जिन भागों में आवागमन के नये अथवा और दूसरे साधन प्राप्त नहीं हैं अथवा अधिक व्ययसाध्य पड़ते हैं, वहाँ अब भी उन नदियों से ही ये सब काम निकलते हैं।

इतने विशाल देश के निवासियों की रुचियाँ और आवश्यकताएँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं और उनकी तुष्टि तथा पूर्ति उन अनेक प्रकार

के अनाजों, पौधों और फलों आदि से होती है जो यहाँ की भूमि में उत्पन्न होते हैं। इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पदार्थ चावल, गेहूँ, जौ, बाजरा, तरह-तरह की दालें, तेलहन, तिल, रेंडी, राई, महुआ, नारियल, कपास, सन, पाट, गन्ना, मसाले, मिर्च, लौंग, इलायची, दारचीनी, केसर, अदरक, हल्दी, रज्जद पौधे, नील, चन्दन, आम, बेर, सेब, सुपारियाँ, खजूर, केले, अंगूर, अनार, चकोतरे, नीबू और अमरूद आदि हैं। यहाँ इतने अधिक प्रकार के खाने योग्य फल और कन्द आदि होते हैं कि उनकी गिनती ही नहीं गिनाई जा सकती। रेशम और लाख भी बहुत अधिक मात्रा में होती है।

गृहस्थी में पालने के योग्य पशु भी बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। जंगली जानवरों से भी बहुत सी काम की चीज़ें मिलती हैं। चराई और खेती के कामों के लिए उनका बहुत अधिक उपयोग होता है। जोते जानेवाले पशु, दूध देनेवाले पशु, ऊन देनेवाले पशु, खाने के योग्य मांस देनेवाले पशु और सवारी तथा लड़ाई के काम में आनेवाले पशु सभी यहाँ मिलते हैं। शान्ति और युद्ध के समय भेड़ें, बकरियाँ, साँड़, गौएँ, भैंसे, घोड़े, ऊँट, गधे और हाथी बहुत ही उपयोगी होते हैं। शेर, चीते, भालू, हिरन और सूअर आदि के चमड़े भी बहुत काम के होते हैं। बहुत प्राचीन काल से हाथी-दाँत का भी यहाँ बहुत बड़ा और अधिक उपयोग होता रहा है। कस्तूरी-मृग की कस्तूरी और सुरा गाय की पूँछ की चँवरे भी बहुत प्रसिद्ध हैं। मछलियाँ और कुछ पक्षी यहाँ बहुत अधिकता से होते हैं और उनका मांस खाने के काम में आता है। सीपों के कारण यहाँ का मोतियों का व्यापार भी बहुत फायदे का होता है।

खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी भारत बहुत सम्पन्न है। देश में सोना, ताँबा, लोहा, कोयला, मैंगनीज़ और अबरक भी बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है और इसलिए यहाँ शिल्प आदि का बहुत कुछ विस्तार और उन्नति हो सकती है। चाँदी तथा इसी प्रकार की और अनेक उपयोगी धातुएँ भी भिन्न-भिन्न मानों में पाई जाती हैं।

भारत में हीरे और नीलम आदि बहुमूल्य रत्न भी अधिकता से होते हैं । इसके सिवा यहाँ नमक की खानें भी हैं और समुद्र के पानी से भी नमक निकाला जाता है ।

जल और स्थल के आवागमन के मार्ग—भारतवर्ष एशिया महाद्वीप के मध्य में पड़ता है और दक्षिण में तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है । इसलिए प्राचीन काल में यहाँ के निवासी सहज में पश्चिम और पूर्व के देशों तथा भारतीय महासागर के बहुत से द्वीपों में भी जाया-आया करते थे । अतः बहुत आरम्भिक काल से ही बहुत से समुद्री व्यापारिक मार्ग खुल गये थे और जल-यात्रा या जहाज़ आदि चलाने की यहाँ की कला बहुत उन्नत अवस्था को पहुँच गई थी । यहाँ के प्राकृतिक द्रव्यों तथा हाथ से तैयार की हुई चीज़ों की सब देशों में बहुत अधिक माँग होने लग गई थी और संसार के आस-पास के भिन्न-भिन्न भागों में वे सब पदार्थ भारतीय तथा विदेशी व्यापारियों के द्वारा बहुत सहज में पहुँच जाया करते थे ।

भारत के जो स्थल-मार्ग तथा पहाड़ी दर्रे उत्तर-पश्चिमी, उत्तर-पूर्वी तथा उत्तरी देशों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करते थे, उनका आर्थिक और व्यापारिक महत्त्व तो कम था, पर सांस्कृतिक और सैनिक महत्त्व अधिक था । तो भी उन मार्गों से इस देश में आर्थिक महत्त्व की कुछ नई कलाओं तथा शिल्पों आदि का प्रचार हुआ था ।

भारतीयों की प्रतिभा—भारत के प्राचीन इतिहास तथा मानव-शास्त्र की आधुनिक खोजों आदि से पता चलता है कि यह देश ऐसी अनेक जातियों से बसा हुआ था जिनमें भिन्न-भिन्न कार्य करने की शक्ति, अनेक प्रकार के शिल्पों के लिए आवश्यक योग्यता, अनेक प्रकार की मानसिक शक्ति, शारीरिक बल और प्रवृत्तियाँ थीं । अनेक प्रकार की कलाओं और शिल्पों, व्यवसायों और व्यापारों के लिए उन्होंने बहुत उच्च कोटि की योग्यता तथा प्रवृत्ति सम्पादित कर ली थी और उनके लिए अच्छा संघटन भी कर लिया

था। अनेक प्रकार के पेशों और व्यापार, कृषि, कला और साहित्य आदि के क्षेत्रों में काम करने के लिए मस्तिष्क, हृदय और हाथ के जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब गुण भी उनमें पाये जाते थे। यदि उनकी दक्षता और योग्यता की रक्षा करके उनका विकास किया जाय, तो यहाँ ऐसे चतुर शिल्पियों और बुद्धिमानों की कोई कमी न रहे जो अनेक प्रकार के पेशों आदि के लिए आवश्यक और उपयुक्त होते हैं। हाँ, यदि उनमें आपस में ही झगड़े-बखेड़े हों, धार्मिक मत-भेद हों, राजनीतिक बाधाएँ हों और विदेशियों के साथ उन्हें अनुचित रूप से प्रतियोगिता करनी पड़े, तभी वे आर्थिक अवसरों का उपयोग करने से वञ्चित रह सकते हैं और तभी उनकी भौतिक उन्नति रुक सकती है। आज-कल आर्थिक दृष्टि से भारतवासियों की जो दुर्दशा हो रही है, वह किसी प्राकृतिक आर्थिक त्रुटि के कारण नहीं है, बल्कि प्रायः इन्हीं सब कारणों से है। बहुत सी कलाएँ, शिल्प और पशु-पालन, कृषि, उद्योग-धन्ये और व्यापार के ढंग आदि बहुत उन्नत रूप से पहले से ही इस देश में चले आते हैं। हाँ, आजकल की व्यापारिक क्रान्ति और सहयोग सिद्धान्त के जो नये ढंग हैं, उन्हें इस देश में विकसित होने का अभी समय नहीं मिला है और लाभदायक रूप में उनका प्रचलन नहीं हो सका है। परन्तु इस क्रान्तियुग के पहले वस्तुएँ प्रस्तुत करने, बाजारों में ले जाकर बेचने और व्यापारिक संगठन करने के जो ढंग प्रचलित थे, अर्थात् अपने-अपने घर में बैठकर चीजें बनाने और व्यापार तथा महाजनी करने के जो ढंग थे, वे सब इस देश में पूर्ण रूप से प्रचलित थे। सूत कातना, कपड़े बुनना, मिट्टी और धातुओं आदि के बरतन बनाना, लोहे, चाँदी और सोने आदि की चीजें बनाना, लकड़ी और धातुओं की चीजें तैयार करना, मूर्तियाँ बनाना, नक्काशी करना, मकान और हथियार आदि बनाना तथा इसी प्रकार के और भी बहुत से काम थे जो यहाँ के शिल्पी निवासी किया करते थे; और वे लोग जो चीजें बनाकर तैयार करते थे, उनकी विदेशों में भी बहुत अधिक माँग हुआ करती थी।

आर्थिक जीवन

भारत की आर्थिक उन्नति—कृषि और सिंचाई के भिन्न-भिन्न ढंग, खानों से धातुएँ निकालने और उन्हें साफ करने की उन्नत कला, कच्चे और साफ किये हुए खनिज पदार्थों का उपयोग, पशुओं को पालने और उनकी नस्ल तैयार करने की कला, रासायनिक पदार्थ तथा औषधें आदि तैयार करने की विद्या, अचार तथा मुरब्बे आदि बनाने की विद्या तथा इसी प्रकार के और बहुत से वे कार्य जिनसे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, यहाँ के निवासियों को भली भाँति ज्ञात थे और वे लोग ये सब कार्य बराबर किया करते थे। पशु-पालन, कृषि, व्यापार, शिल्प और महाजनी आदि मनुष्यों के आर्थिक जीवन के जितने अङ्ग होते हैं, वे सब इस देश में वर्तमान थे। बहुत से लोग व्यापार और महाजनी करते थे और अपने देश में भी तथा विदेशों से भी अच्छी तरह व्यापार करते और उस व्यापार पर पूरा नियन्त्रण रखते थे। भारत के व्यापारिक मार्ग सदा आयात और निर्यात की वस्तुओं से भरे रहते थे और वे सब वस्तुएँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में बराबर पहुँचा करती थीं। विदेशी व्यापार साधारणतः समुद्री मार्गों से होता था और समुद्री व्यापारी समुद्र में आनेवाली आपत्तियों तथा समुद्री डाकुओं और विदेशियों का अच्छी तरह सामना करते थे। समुद्र में जहाज़ चलाने की कला, महाजनी, हुंड़ी-पुरजे का काम, विदेशी भाषाओं का अध्ययन, बाज़ारों, बटखरों और नापों आदि का अध्ययन और व्यापारिक वस्तुओं पर कर तथा चुंगी आदि लगाने की प्रथा आदि जितनी बातों की व्यापारियों को आवश्यकता होती है, सभी बातें वे लोग जानते और करते थे। इस देश के लोग व्यापार-क्षेत्र में जो अनेक प्रकार के कार्य करते थे, उन सबका कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में बहुत अच्छा निदर्शन है; और उसमें यह भी बतलाया गया है कि सब प्रकार के व्यापारों आदि को सहायता देने और उनका नियन्त्रण करने के लिए राज्य की ओर से क्या व्यवस्था होती थी। मनु ने भी वैश्य के बहुत से कार्य बतलाये हैं। परवर्त्ती साहित्य से भी इस बात का पूरा-पूरा पता चलता है कि यहाँ व्यापार के प्रायः सभी अङ्गों की बहुत उन्नति हुई थी और लोग इन सब कामों में बहुत आगे बढ़ गये थे। भारत-

वासी न तो कभी विक्रमे रहे और न आलसी या अकर्मण्य। वे कभी आर्थिक विचारों से रहित नहीं थे। सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भौतिक बातें और कलाएँ होती हैं, उन सबका उन्होंने पूर्ण रूप से विकास किया था और आर्थिक कार्य में वे वस्तुतः सम्मिलित हुए थे। कृषि, शिल्प और व्यापार का कार्य भली भाँति चज्ञाने के लिए कुछ पूँजी और उसके संघटित उपयोग तथा सहायता की आवश्यकता हुआ करती है। इस आवश्यकता की पूर्ति लोगों की सञ्जय-बुद्धि से हुई थी, जिससे पूँजीदारों और महाजनों का एक अलग वर्ग ही बन गया था, जो कृषकों, शिल्पियों, व्यापारियों और राज्य की धन से सहायता करता था। उनकी कोठियों, उनकी ढुंडियों और सुद की उनकी दरों को जनता और राज्य दोनों ही मान्य करते थे और उनका उपयोग करते थे। धर्मशास्त्रों में उनकी यह कहकर कभी निन्दा नहीं की गई कि वे अधिक सुद खाते हैं। शिल्पों के संघटन के लिए शिल्पियों की और व्यापार के संघटन के लिए व्यापारियों की पंचायतें या संघ बने थे; और आर्थिक दृष्टि से उन्हें जो स्वतन्त्रता प्राप्त थी, उससे तैयार होने-वाली चीजों को गुण, तैल और नाप में बिजकुल ठीक रखने में बहुत अधिक सहायता मिलती थी। उनके कारण बाजारों में प्रतियोगिता उचित मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करने पाती थी और शिल्प-सम्बन्धी परम्परागत दक्षता तथा कौशल बराबर रक्षित रहता था। इन सब शिल्पों और पेशों की शिक्षा स्वयं कारखानों में लोगों को उम्मेदवार के रूप में रखकर दी जाती थी। इस प्रकार कारखाने भी विद्यालयों का काम देते थे।

शिल्प-प्रणाली—शिल्प का संघटन और प्रणालियाँ ऐसी थीं कि हर कारखाने में थोड़ी मात्रा या संख्या में ही चीजें बनकर तैयार होती थीं और उनमें व्यक्तियों की कारीगरी और कार्य अथवा कला के व्यक्तिगत विचारों को अपनी-अपनी खूबी दिखलाने और विकास करने का पूरा पूरा अवसर मिलता था। उसमें मशीनों से बिलकुल एक ही तरह की ढेर की ढेर चीजें नहीं तैयार हुआ करती थीं। शिल्प का काम प्रायः एक ही व्यक्ति का किया हुआ होता था। सब काम या तो अपने घर पर बैठकर और या किसी छोटे

से कारखाने में किया जाता था। उसमें मशीन की नहीं बल्कि कारीगर की प्रधानता होती थी और वह मनुष्य या कारीगर अपने देश के भौतिक साधनों का आर्थिक दृष्टि से पूरा-पूरा उपयोग करता था।

भारत के व्यापारी और कारीगर परम्परा के अन्ध भक्त नहीं थे और न वे पुराने विचारों और प्रथाओं के ही दृढ़ अनुयायी थे। वे सदा जहाँ के तहाँ रहनेवाले नहीं थे। यहाँ बड़े-बड़े उत्साही और साहसी व्यापारी तथा कारखानेदार आदि थे, जो अपने ज्ञान और पूँजी का उपयोग नये नये व्यापारों और उद्योग-धन्धों की जोखिम उठाकर किया करते थे। राजनीतिक अव्यवस्थाओं और कठिनाइयों आदि के समय वे अपनी सब प्रकार की रक्षा का प्रबन्ध स्वयं ही कर लिया करते थे और वे जल तथा स्थल दोनों ही मार्गों से बड़े-बड़े साहस के कार्य, भारी जोखिम उठाकर और अपनी रक्षा का आप ही प्रबन्ध करके, किया करते थे। उन दिनों उत्साही व्यापारियों का एक बहुत बड़ा और मुख्य स्थान था। इस प्रकार मनुष्यों का भी और भौतिक साधनों का भी पूरा-पूरा विकास हुआ था और भारत में अँगरेजों के आने से पहले देश के आर्थिक जीवन में उनका बहुत बड़ा स्थान था।

राज्य के आर्थिक कर्तव्य और नीति—इसके सिवा यह बात भी विशेष रूप से ध्यान रखने के योग्य है कि राज्य का कर्तव्य केवल व्यापार और व्यापारियों की रक्षा करना ही नहीं था और न इस सम्बन्ध में राज्य उदासीन या तटस्थ ही रहता था। राज्य यह समझता था कि प्रजा और उसके व्यापारों आदि की उन्नति करना और उनका कल्याण करना हमारे कर्तव्यों में से एक मुख्य कर्तव्य है। राज्य का आर्थिक बल और वैभव प्रजा के कल्याण पर ही निर्भर करता था और प्रजा का आर्थिक कल्याण करके वह उनके सुरक्षित रखने में सहायक होता था। प्रजा में बराबर शान्ति भी तभी बनी रह सकती थी, जब वह धन-धान्य से सुखी रहती; और जब प्रजा आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित और उन्नत होती थी, तब राजनीतिक शान्ति और उत्तम शासन और भी निश्चित हो जाता था।

कौटिल्य-काल में—कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में यह बतलाया है कि राज्य को अपने भिन्न-भिन्न सुसंघटित विभागों में आर्थिक दृष्टि से क्या क्या काम करने चाहिए। हिन्दू राज्य की आर्थिक धारणाओं और निश्चित आर्थिक नीति का इनसे बहुत अच्छा परिचय मिलता है और ये बातें हिन्दू राज्य की इन धारणाओं के स्थायी स्मारक-स्वरूप हैं। हिन्दू राज्य में कृषि, शिल्प और व्यापार-सम्बन्धी विभागों के अतिरिक्त बहुत से और भी छोटे-छोटे विभाग होते थे; यथा नाप और तौल या बटखरे आदि ठीक रखने का विभाग, आकर या खान का विभाग, सूत्र या बुनाई का विभाग, शुल्क या चुंगी का विभाग, सोने, चांदी और रत्नों का विभाग, जंगलों और पशुओं का विभाग आदि। इन सब विभागों से यह सूचित होता है कि प्रजा के कल्याण के लिए राज्य कैसे कैसे काम करता था। यह मानों राष्ट्र के आर्थिक कार्यों पर एक प्रकार का राजकीय नियन्त्रण था। वह कुछ शिल्पों के राष्ट्रीय-करण का प्रयत्न करता था और उनमें से कुछ पर अपना एकाधिकार स्थापित करता था। राज्य इस बात का प्रबन्ध करता था कि चीजों का मूल्य आवश्यकता से अधिक घटने या बढ़ने न पावे, व्यापारी बहुत अधिक मुनाफ़ा न लेने पावें और कारीगरों तथा मज़दूरों की मज़दूरी आदि आवश्यकता से अधिक घटने या बढ़ने न पावे। इस प्रकार वह सब शिल्पों, व्यापारों और उनके संघों के कार्यों पर पूरा नियन्त्रण रखता था। कृषकों को ऋण-स्वरूप धन और गुल्ला देकर राज्य कृषि की सहायता करता था और उनके साथ कुछ और तरह की रियायतें करता था तथा उन्हें छूट देता था। अपने देश के तथा विदेशी व्यापारियों को देश के भिन्न-भिन्न भागों में बसने के लिए वह प्रोत्साहित करता था। बड़े-बड़े राजकीय अधिकारियों के निरीक्षण में वह अपनी ओर से कारख़ाने आदि स्थापित करता था जो अवश्य ही सर्व-साधारण के लिए आदर्श-स्वरूप होते होंगे।

अकबर के शासन-काल में—अकबर की भी राज्य-सम्बन्धी धारणा ऐसी ही थी। आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में राज्य जो-जो काम

करता था, वे सब आईन अकबरी में गिनाये गये हैं। भिन्न-भिन्न शिल्पों के लिए राज्य की ओर से अनेक कारखाने रहते थे, जिनमें अच्छी से अच्छी चीजें तैयार करने में सहायता मिलती थी। ये चीजें सर्व-साधारण के लिए आदर्श का काम देती थीं। अकबर के राज्य से आर्थिक विषयों में लोगों को जो सहायता और संरक्षण प्राप्त होता था, वह सर्व-विदित ही है। महसूल, व्यापार और एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल भेजने की व्यवस्था तथा नियन्त्रण इसी विचार से होता था कि जिसमें देश के आर्थिक जीवन की उन्नति हो। उन दिनों विदेशियों के कोई ऐसे हित या स्वार्थ नहीं होते थे जिनकी रक्षा और उन्नति देशी हितों या स्वार्थों को हानि पहुँचाकर करने की आवश्यकता होती। इस प्रकार किसी देश में आर्थिक जीवन की सहायता और उन्नति करने के लिए जिन भिन्न-भिन्न तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे सब तत्त्व भारतवर्ष में सदा से वर्तमान थे। यह देश बहुत प्राचीन काल से सम्पत्ति और कलाओं के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। इस देश में 'उत्पन्न होने-वाली वस्तुओं और यहाँ की धन-सम्पत्ति के कारण विदेशी लोग बराबर आकृष्ट होकर यहाँ आया करते थे और सदा इसकी सम्पत्ति देखकर ईर्ष्या करते थे। भारत की स्वतन्त्रता केवल इसी लिए नष्ट हुई कि यहाँ की आर्थिक सम्पन्नता और सम्यता बहुत ही उच्च कोटि की थी और इन्हीं बातों के कारण आस-पास के भी और दूर दूर के देशों के भी लुटेरे और डाकू आदि आकृष्ट होकर यहाँ आया करते थे। यहाँ की कारीगरी और तैयार होनेवाले माल ऐसे अच्छे होते थे जिनकी कोई समता ही नहीं हो सकती थी। इसी कारण लोग इस देश के साथ ईर्ष्या करते थे। यहाँ के राजनीतिक इतिहास में जो बहुत से उलट-फेर हुए, वे प्रायः इसी कारण हुए कि लोग यहाँ की सम्पत्ति देखकर इसकी ओर आकृष्ट होते थे और बराबर उसे अपने अधिकार में रखना चाहते थे।

देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था—परन्तु भारत के वर्तमान आर्थिक जीवन की स्थिति तनिक भी सन्तोषजनक नहीं है। यहाँ के निवासियों की बहुत बड़ी संख्या आर्थिक दृष्टि से प्रायः भूखों मर रही है। भोजन,

वस्त्र, मकान, औषध और मन-बहलाव आदि की मनुष्य की जो बिनान्त आवश्यकताएँ होती हैं, वे भी पूर्ण नहीं होतीं। जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम जिन बातों की आवश्यकता होती है, वे बातें भी बहुत से घरों में नहीं मिलतीं। अकाल, मरी, अग्नि-काण्ड और बाढ़ आदि आर्थिक विपत्तियों के समय लोगों में उनके मुकाबले में ठहरने की बिलकुल शक्ति नहीं होती। हज़ारों घरों में सम्य आर्थिक जीवन का कहीं कोई तत्त्व या चिह्न ही नहीं दिखाई देता। जीवन-निर्वाह की कोई ऐसी निश्चित मर्यादा या मान नहीं है जो एक अच्छे आर्थिक जीवन और व्यक्तियों की शारीरिक रक्षा तथा उन्नति के लिए आवश्यक समझा जाता है। पुराने शिल्प और कौशल विदेशी आर्थिक दबाव में पड़कर उस अनुचित प्रतिद्वन्द्विता के कारण बिलकुल नष्ट हो गये हैं, जिसे सरकार से सहायता मिलती है। विदेशी चीजों के साथ रिआयत करने और उन्हें लाभ पहुँचाने के लिए इधर बहुत दिनों से भारतीय शिल्प और कौशल को नष्ट करने के लिए बराबर नियमित रूप से उद्योग होता आ रहा है। नये शिल्प और कलाएँ इसलिए जड़ नहीं पकड़ने पातीं कि या तो राज्य की ओर से उन्हें कोई सहायता नहीं मिलती और या वह उनके साथ शत्रुता का भाव रखता है। उनकी रक्षा और उन्नति करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है। इस देश के लोग आर्थिक क्षेत्र में जब नये काम करना चाहते हैं या भिन्न-भिन्न व्यापारी, शिल्पी और ममनागमन की प्रणालियों में अग्रसर होना चाहते हैं, तब विदेशी व्यापारी, महाजन और शिल्पकार सफलतापूर्वक उनका विरोध करते हैं। देश के भीतरी भागों में भी और बाहर भी माल लाने और भेजने के रेल और जहाज़ आदि जो साधन हैं, वे सब पूरी तरह से उन्हीं के हाथ में हैं और उनका सब कार्य आयात और निर्यात कर की ऐसी प्रणाली से किया जाता है जो केवल उन्हीं विदेशियों के व्यापार और शिल्प का हित-साधन करती है। आजकल भारतवर्ष पूरी तरह से आर्थिक क्षेत्र में विदेशियों के चंगुल में है। राज्य ने पहले मुक्त व्यापार, विदेशियों के साथ रिआयत और कर तथा चुंगी आदि की व्यवस्था करके इस देश के शिल्प और कौशल को अच्छी तरह से

जकड़कर बाँध दिया था और अब उस बन्धन को शिथिल करना नहीं चाहता। इसी के परिणाम-स्वरूप इस देश का आर्थिक बल पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है। जनता के लिए अब केवल दो ही तीन साधन बच रहे हैं। या तो वे उन्हीं ज़मीनों को जोतें बाँटें जिन्हें पहले से ही बहुत से लोग जोत बाँट रहे हैं या कुछ कारखानों और पुतलीघरों में मज़दूरी करें या कुछ व्यापारों और पेशों में अधीनस्थ मुनशी या बिचवई और दलाल आदि बनकर काम करें। उनकी नव-रचना-शक्ति के कार्य के लिए न तो कोई क्षेत्र बच रहा है और न उसे किसी प्रकार का प्रोत्साहन ही मिलता है। विदेशियों के आर्थिक अष्टपाद (एक भीषण समुद्री जन्तु) और राजनीतिक शास्त्र ने यह शक्ति नष्ट कर दी है और लोगों की आर्थिक दशा बहुत ही शोचनीय हो गई है। इस समय भारत के सामने मुख्य आर्थिक समस्या यही है कि इस सङ्कट से किस प्रकार रक्षा हो।

एक भारतवासी की औसत आमदनी—एक भारतवासी की औसत आमदनी का हिसाब कई तरह से बतलाया जाता है। परन्तु जो सबसे अच्छा और आशाजनक हिसाब बतलाया जाता है, उसे देखने पर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आर्थिक बेकारी और अवसरों के अभाव के कारण इस देश के निवासी आर्थिक दृष्टि से कितने अधिक दुःखी और विपन्न हो गये हैं और उनका कितना अधिक सर्वनाश हो गया है।

दूसरे देशों के निवासियों की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी

देश	प्रति वर्ष	प्रति मास
अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र	१०८०)	६०)
ऑस्ट्रेलिया	८१०)	६७॥)
ग्रेट ब्रिटेन	७५०)	६२॥)
कनाडा	६००)	५०)

भारत की सम्पत्ति और आय के अनुमानों की सूची

ग्रन्थ का नाम	क्षेत्र जिनके सम्बन्ध में अनुमान किया गया है	सन् जिनके सम्बन्ध में अनुमान किया गया है	कुल आय करोड़ रुपयों में	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय रुपयों में
१. दादाभाई नौरोजी कृत Poverty and Un-British Rule in India (१८७१)	ब्रिटिश भारत	१८६७-६८ १८८१	३४० ५२५	२० २७
२. Financial Statement सन् १८८२ का	"	१८८८	४२६	१७.५
३. विलियम डिंगी कृत Prosperous British India (१९०१)	"	१९०१	६७५	३०
४. Financial Statement (सन् १९०१-२ का) (बजट के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन का भाषण)	"			
५. डा० बालकृष्ण कृत Industrial Decline of India	समस्त भारत	१९११-१२	(क) १०७८ (ख) ५३६ (ग) ४३१.२	२१ १६.

भारतीय लोकनीति

६. प्रो० पी० ए० वाडिया और
बी० एन० जोशी कृत
The Wealth of India
(१९२४)

७. आर्नेल्ड लॉटन कृत

Happy India (१९२२)

८. प्रो० के० टी० शाह और श्री-
युक्त खम्बाता कृत Wealth and
Taxable Capacity of In-
dia (१९२४)

९. फिनले शिरास कृत The
Science of Public Finance
(१९२४)

१०. डा० गिल्बर्ट स्लेटर का
अनुमान १९२२

११ डा० मान कृत Land and
Labour in a Deccan
Village नम्बर १

डा० मान कृत Land and
Labour in a Deccan
Village नम्बर २

१२. जे० सी० जैक कृत Econo-
mic Life of a Bengal
District.

ब्रिटिश भारत

”
समस्त भारत

ब्रिटिश भारत

मदरास प्रान्त

पिंपला सौदागर नामक
गाँव (पूना जिला)

जातेगाँव बदरक नामक
गाँव (पूना जिला)

फरीदपुर जिला
(बङ्गाल)

१९१३-१४

१९१६-२०

१९००-१४

१९१४-२२

१९००-२२

१९२१-२२

१९२१

१९२२

१९१६-२०

१९१७

१९२१

१९१५

१२१०

२८५४.५

११०६

१८६२

१३८०

२३६४

२५६८

२८६६

(घ) ४३४

(ङ) ४७५

”

”

”

आर्थिक जीवन

४४

११४

३६

५८.५

४४.५

७४

१०७

११६

१०२

११२

४३३)

३३॥)

५२)

१५

ग्रन्थ का नाम	क्षेत्र जिनके सम्बन्ध में अनुमान किया गया है	सन् जिनके सम्बन्ध में अनुमान किया गया है	कुल आय करोड़ रुपयों में	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय रुपयों में
१३. डा० गिल्बर्ट स्टेडर कृत Some South Indian Villages	मदरास के कुछ गाँव	१६१८		७८) कोई ठीक हि-साब नहीं ल-गाया गया है
१४. मदरास प्रान्त का कृषि विभाग	मदरास प्रान्त ब्रिटिश भारत	"	"	७३) ४० से ८०
१५. प्रो० जी० जे० काले कृत Indian Economics	"	१६२२	"	कुल २१.३ खर्च बाद देकर ४६.६
१६. प्रफुल्लचन्द्र घोष कृत The Average Income of India (१९२५)	"	१८६५	"	२७.३
१७. मि० एटकिन्सन (Journal of The Statistical Society)	"	१८७५	"	३५.२
१८. मि० होर्न (Bengal Economic Journal)	"	"	"	४६
१९. सर एम० विश्वेश्वरय्या कृत Reconstructing of India (१९२०)	"	१६११	"	कुल ३६
२०. सर जार्ज लायड, बम्बई के गवर्नर	"	१६१६	"	" ४५
		१६२३	"	४६

ऊपर के कोष्ठक के संकेतों का विवरण इस प्रकार है—

(क) कृषि की पैदावार का कुल मूल्य ।

(ख) उत्पन्न करने की लागत ५० प्रति सैकड़े छोड़कर बाकी बचत का मूल्य ।

(ग) उत्पन्न करने की लागत ५० प्रति सैकड़े छोड़कर बाकी बचत का मूल्य ।

(घ) कृषि से भिन्न और पेशों से होनेवाली आमदनी जो कृषि की आय का ४० प्रति सैकड़ा रखी गई है ।

(ङ) कृषि से भिन्न और पेशों से होनेवाली आमदनी जो कृषि की आय का ५० प्रति सैकड़ा इसलिये रखी गई है कि पहले की जाँचों में जो वह इसी अनुपात से रखी गई थी, उससे तुलना हो सके ।

सन् १८८० का अकाल कमीशन (Famine Commission) कहता है—“भारतवासी जो इतने अधिक दरिद्र हैं और अकाल के दिनों में उन्हें जो इतने अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं, उन सबका मूल कारण यह अभाग्य-पूर्ण परिस्थिति है कि इस देश के अधिकांश निवासियों का एक मात्र व्यवसाय केवल कृषि ही है; और वर्तमान कष्टों को दूर करने का कोई ऐसा उपाय कभी पूर्ण नहीं हो सकता, जिसमें अनेक प्रकार के और नये पेशे भी जारी न हों ।”

भारतवर्ष की दरिद्रता के नीचे लिखे मुख्य कारण जान पड़ते हैं—

१—यहाँ के निवासियों की जन-संख्या बराबर बढ़ती जा रही है ।

२—भिन्न भिन्न प्रकार के व्यवसायों तथा दूसरे ऐसे कामों का अभाव है जिनमें लगकर लोग कुछ उपार्जन कर सकें ।

३—कृषि ही जीवन-निर्वाह का एक मात्र साधन है ।

४—यहाँ अकाल और सांघातिक रोग बहुत होते हैं ।

५—जमीन की उपज नहीं बढ़ रही है और उसकी उत्पादक शक्ति घटती जाती है ।

६—लोगों के विदेशों में जाकर बसने में कठिनाइयाँ हैं ।

७—काम-घन्घा न होने के कारण लोगों की कार्य करने की योग्यता तथा उत्पन्न करने की शक्ति बहुत घट गई है ।

८—खाने-पीने की चीजों के दाम बहुत बढ़ गये हैं ।

९—ज़मीन पर लगान लगाने की नीति उत्तरदायित्व-रहित है ।

१०—स्वयं देश के अन्दर भी एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का बहुत ही थोड़ा क्षेत्र है ।

११—ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिनके पास काम बहुत कम है ।

दरिद्रता की वास्तविकता—इससे सहज में पता चल सकता है कि भारत की दरिद्रता बहुत ही चिन्ताजनक और वास्तविक है । यह दरिद्रता किसी एक ही वर्ग तक परिमित नहीं है और न वह यूरोप के देशों की भाँति पूँजी-प्रणाली से उत्पन्न सम्पत्ति के अ-समान विभाग के कारण है । इस दरिद्रता का मुख्य कारण यह है कि यहाँ प्रति व्यक्ति उपज और आय बहुत कम होती है । आय के सम्बन्ध में जो सबसे ऊँचा अनुमान है, वह प्रति व्यक्ति १००) वार्षिक है और उसके अनुसार भी एक आदमी की रोज़ाना आमदनी साढ़े चार आने पड़ती है । जब कि इतनी रकम केवल खाने में ही खर्च हो जाती है, तब वह कपड़े, मकान, शिक्षा, दवा-दारु, धार्मिक उत्सवों, दान-पुण्य और तमाकू, पान, गहने और राजकीय देन आदि परम्परा से चली आई हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कैसे यथेष्ट हो सकती है !

बहुत बड़ी कर्ज़दारी—परन्तु आप का यह अनुमान सबसे ऊँचा और अधिक है । फिर इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि चीज़ों के दाम भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं । यहाँ के निवासियों की औसत रोज़ाना आमदनी दो आने या इसी के लगभग है । इसी से भारतवासियों की आर्थिक शक्ति का अनुमान किया जा सकता है । उनकी क्रय-शक्ति उतनी ही है जितनी कम से कम हो सकती है । यहाँ बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जिन्हें सदा केवल आधा पेट ही भोजन मिलता है; और ये लोग पूर्ण आयु भोगने से बहुत पहले इसी लिए मर जाते हैं कि इनकी जीवनी-

शक्ति बिलकुल खीय हो जाती है और ये बहुत जल्दी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। सन् १८८० में सर विलियम हंटर ने कहा था—“यहाँ चार करोड़ आदमी ऐसे बसते हैं जिन्हें जन्म भर कभी पूरा भोजन नहीं मिलता।” आज पञ्जाब के किसानों की सम्पन्नता और ऋण का उल्लेख करते हुए मि० डार्लिंग कहते हैं—“पहला और सबसे प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट परिणाम यही निकलता है कि पञ्जाब के अधिकांश किसान ऋण में ही जन्म लेते हैं, ऋण में ही जीवन बिताते हैं और ऋण में ही मर जाते हैं।” यह एक ऐसे प्रान्त की दशा है जिसमें सिंचाई के लिए नहरें आदि सबसे अधिक हैं। समस्त भारत के सम्बन्ध में उनका कथन है—“शेष भारत और उसके ३० करोड़ निवासियों के सम्बन्ध में इस विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि देश को सबसे बड़ी आवश्यकता भोजन की, अधिक भोजन की, और अधिक भोजन की, है।” भारत में खेती-बारी करनेवालों में से तीन चौथाई ऐसे हैं जो कृषि के बोझ से लदे हुए हैं। हर जगह लोगों को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए भीषण प्रयत्न करना पड़ता है। जो बेकार लोग कुछ काम करना चाहते हैं, उनकी देख-रेख करने के लिए राज्य की ओर से कोई व्यवस्था नहीं है। यहाँ न तो दरिद्रों के भरण-पोषण के लिए कोई क़ानून है और न उनके बीमे के लिए कोई व्यवस्था है जिससे दरिद्रों को घोर कष्ट के समय कुछ सहारा मिल सके। बहुत अधिक दरिद्र लोग दूसरे दरिद्रों के दान पर निर्भर करते हैं और इस प्रकार उनके कष्टपूर्ण जीवन में कष्टों की और भी वृद्धि करते हैं। इस प्रकार मानो एक अन्धा ही दूसरे अन्धे को रास्ता दिखाता हुआ ले चलाता है। देश के आर्थिक जीवन को संघटित और उन्नत करने के लिए राज्य की ओर से कोई व्यवस्थित और वैज्ञानिक प्रयत्न नहीं किया जाता। सरकार लोगों से धन ले तो लेती है, पर उन्हें देना नहीं जानती। आवश्यक शिक्षा, दवा-दारू, दान-पुण्य और लोगों के कष्ट दूर करने का भी वह कोई प्रबन्ध नहीं करती। वह केवल जस्टिस आफ़ दी पीस और न्यायालय नियुक्त कर देती है, जेलखाना और शराब की दुकान बना देती है और कभी-कभी लोगों से ज़बरदस्ती बेगार भी ले लेती है।

सरकार की ओर से प्रति वर्ष प्रजा की नैतिक और आर्थिक उन्नति की जो रिपोर्ट (Moral and Economic Progress) प्रकाशित होती है, सन् १९२२ की उस रिपोर्ट में कहा गया है—“भारतवासियों का बहुत बड़ा अंश ऐसी दरिद्रता में फँसा हुआ है जिसके जोड़ की दरिद्रता यूरोप के किसी देश में नहीं पाई जाती।” मि० डार्लिंग कहते हैं—“महाजन हर जगह किसानों के सिर पर भूत की तरह सवार रहता है। जिस समय किसान अच्छी दशा में रहता है, उस समय वह उससे खूब धन वसूल करता है; और जब वह गरीब हो जाता है, तब उसे अपना गुलाम बना लेता है। जब तक उसका बल तोड़ा न जाय, तब तक किसान कभी आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं हो सकते। उसके सूद की दर बहुत ऊँची १५ से २० सैकड़े तक होती है। इसमें भी सूद दर सूद चलता है। कारबार में उनकी ईमानदारी बहुत ही कम होती है। उनके बही-खाते और रसीदें आदि प्रायः जाली होती हैं; वे जितनी असल रकम बतलाते हैं, वास्तव में उससे बहुत कम रुपया असामियों को मिला रहता है और उनका क्रय-विक्रय कृषकों के लिए बहुत ही घातक होता है। जितने रास्ते हो सकते हैं, उन सभी रास्तों से वह असामियों को धोखा देता है और उनके ऊपर अत्याचार करता है। इन सब बातों का घातक परिणाम अकाल और मरी आदि फैलने के समय देखने में आता है। लाखों की संख्या में लोग मरते हैं। भोजन और काम-धन्धे का अभाव, क्रय करने और अपनी स्थिति बनाये रखने की शक्ति न होना, जीवनी-शक्ति का घट जाना और सहज में बीमारियों का शिकार हो जाना आदि ऐसी दुर्घटनाएँ हैं जो इस राष्ट्र की विशेषता और घोर विपत्ति का रूप धारण कर बैठी हैं।

अकाल—मि० डिग्बी ने इस बात का बहुत अच्छी तरह विचार किया है कि भारत में अकाल किन कारणों से होते हैं, लोगों की अवस्थाओं पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है और उनसे कहाँ तक हानिर्पा होती हैं। उन्होंने नीचे लिखे अंक दिये हैं—

भारत में अकाल

समय	अकालों की संख्या	मृत्यु-संख्या अनु- मित या लिखित
१८००-१८२५	५	१००००००
१८२६-१८५०	२	५०००००
१८५१-१८७५	६	५००००००
१८७६-१९००	१८	२६००००००
१९००-१९२५	अंक अप्राप्त	अंक अप्राप्त

अकाल-सम्बन्धी सरकारी नीति—सन् १८८० से सरकार ने अकालों के सम्बन्ध में एक नई नीति और नये नियम का विकास तथा पालन करना आरम्भ किया। परन्तु फिर भी बहुत दिनों से भारत में अकाल बना ही रहता है। यद्यपि भारत-सरकार अकाल के दिनों में नये-नये काम खोल-कर, देश के भिन्न-भिन्न भागों में नहरों आदि की खोदाई जारी करके, नई सड़कों आदि का काम खोलकर और कुछ समय के लिए लगान आदि माफ़ करके अकाल की भीषणता कम करने का प्रयत्न करती है, परन्तु फिर भी अकालों का मुकाबला करने की लोगों में शक्ति नहीं बढ़ी है। यद्यपि देश में अनाज रहता है, परन्तु फिर भी अकाल-पीड़ित लोगों में क्रय करने की शक्ति नहीं रहती। अकाल के दिनों में भी अनाज बहुत बड़ी मात्रा में देश से बाहर भेजा जाता है। इससे यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि इस देश के निवासी वास्तव में बहुत अधिक दरिद्र हैं; और उनके सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वे धन ज़मीन में गाड़कर रखते हैं, वह बिलकुल कपोल-कल्पित है।

(२) कृषि की अवस्था

भारत की आबादी—भारत में २३१६ कस्बे या नगर और ६८५६६५ गाँव हैं। यहाँ के ३२ करोड़ निवासियों में से ८६.६ प्रति सैकड़े

या २८-६४ करोड़ आदमी गाँवों में रहते हैं; और केवल १०-२ प्रति सैकड़े या ३-२४ करोड़ आदमी नगरों और कस्बों में रहते हैं। ७१ प्रति सैकड़े या २३ करोड़ आदमी अथवा यों समझिए कि प्रति चार में से तीन आदमी अप्रत्यक्ष रूप से खेती-बारी और चराई पर निर्भर करते हैं; और ६ करोड़ आदमी अप्रत्यक्ष या दूसरे रूपों से उन्हें सहायता पहुँचाते हैं। केवल ३ करोड़ आदमी ऐसे हैं जो शिल्प, व्यापार तथा दूसरे पेशों पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष पूर्ण रूप से कृषि-प्रधान देश हो गया है। इसके परिणाम-स्वरूप ज़मीन पर यहां के निवासियों का बोझ बहुत अधिक हो गया है। पहले कुछ लोग कृषि से जीविका निर्वाह करते थे और कुछ लोग शिल्प आदि से, जिसके कारण उनका भार बँट जाता था। पर अब वह बात नहीं रह गई है; और इसलिये लोग आर्थिक दृष्टि से बिलकुल असहाय हो गये हैं और उनकी दशा बहुत ही शोचनीय हो गई है। लोगों को निर्वाह के लिए जोतने-बोने योग्य बहुत ही थोड़ी भूमि मिलती है। एक आदमी को जितनी औसत भूमि मिलती है, उसकी आय से उसका कभी निर्वाह नहीं हो सकता। जोतने-बोने योग्य जो ज़मीन बीच-बीच में पड़नी छोड़ दी जाती है, यदि उसका भी ध्यान रखा जाय तो भी प्रत्येक आदमी को औसत १-२ से लेकर २ एकड़ से अधिक भूमि नहीं मिलती। इस समय सारे भारत में मोटे हिसाब से २२ करोड़ एकड़ ज़मीन जोती-बोई जाती है और भारत के देहातों में रहनेवाले लोगों की संख्या २८ करोड़ ६० लाख है। इसका मतलब यह है कि प्रति आदमी औसत तीन चौथाई एकड़ ज़मीन आती है।

सारे भारत में प्रति मील औसत ११७ आदमियों की बस्ती है। सन् १९११ से लेकर १९२१ के बीच में यह बस्ती १-२ प्रति सैकड़े बढ़ गई है। सन् १८७२ से लेकर अब तक प्रति दसवें वर्ष यह वृद्धि ५-५ प्रति सैकड़े के हिसाब से होती चली आ रही है। सन् १९०१ से १९११ के बीच में तो वह ७-१ प्रति सैकड़े के हिसाब से बढ़ी थी।

भारत में हर घर में औसत ४ से ५ तक आदमी रहते हैं। सन् १९११-१९२० में ब्रिटिश भारत में औसत जन्म-संख्या लगभग ३६-५ प्रति हजार

और सृष्ट्यु-संख्या ३१ प्रति हजार थी। इस प्रकार मानो ५५ प्रति हजार की वृद्धि हुई थी।

सन् १६११-१६२१ में प्रति १००० पुरुषों के हिसाब से ६३३ स्त्रियों का जन्म हुआ था।

सन् १६२१ में पहाड़ी और जंगली जातियों की संख्या लगभग १ करोड़ ६० लाख थी।

श्रीयुक्त पिल्लई के अनुसार ब्रिटिश भारत में देहातों में रहनेवाले लोगों का वर्गीकरण (१९११)

ज़मींदार—८० लाख; खास-खास बड़े और उन पर निर्भर रहनेवाले।

काश्तकार जो स्वयं अपनी ज़मीन या ज़मींदार को लगान देकर उनकी ज़मीन जोतते-बाते हैं—१६ करोड़ ७० लाख स्वयं वे और उन पर निर्भर रहनेवाले लोग।

खेतों आदि में काम करनेवाले नौकर और मज़दूर—४ करोड़ १० लाख; स्वयं वे और उन पर निर्भर रहनेवाले लोग।

बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों के गुमास्ते, मैनेजर और उनके नौकर-चाकर आदि—१० लाख; स्वयं वे और उनके गुमास्ते।

इस प्रकार मामूली खेती-बारी से सब मिलाकर २१ करोड़ ७० लाख आदमियों का काम चलता है।

प्रति गृहस्थी एकड़ की संख्या—इससे पता चलता है कि समाज के गरीब आदमियों के पास और भी कम ज़मीन है। चार या पाँच आदमियों की एक औसत गृहस्थी के पास तीन या चार एकड़ ज़मीन होती है। इतनी थोड़ी ज़मीन से जो उपज होती है, उससे आदमी की बहुत ही खास-खास ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो सकतीं, तो फिर सभ्यतापूर्ण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का तो कहना ही क्या है।

अब देश में ऐसी ज़मीनें प्रायः नहीं रह गई हैं जो जोतने-बोने के योग्य हों और जोती-बोई न जाती हों—

भूमि का वर्गीकरण

प्रकार	एकड़	कुल क्षेत्र में प्रति सैकड़े
जंगल	८८३२३०००	१४
कृषि के लिए अप्राप्य	१४५७७००००	२३
पड़ती के सिवा ऐसी जोतने-बोने योग्य ज़मीन जो जोती नहीं जाती	११३४१५०००	१८
पड़ती ज़मीन	५२१३५०००	९
कुल जोती-बोई जाने- वाली ज़मीन	२२२८२५०००	३६
जोड़	६२२४६८०००	१००

जितनी ज़मीन जोती-बोई जाती है, उसके अतिरिक्त और जो ज़मीन जोतने-बोने के योग्य मिल सकती है, वह घटिया और ख़राब ज़मीन है, उसकी उर्वरा-शक्ति बहुत कम है और उसे साफ़ करना या जोतना-बोना बहुत कठिन है।

देश में फैलने या विदेश में जाकर बसने की गुंजाइश नहीं है—

इस प्रकार देश में खेती-बारी का और अधिक विस्तार करने के लिए शायद ही कोई गुंजाइश बाकी रह गई हो। दूसरे देशों और उपनिवेशों आदि ने अपने यहाँ के द्वार इस प्रकार बन्द कर रखे हैं कि भारतवासी वहाँ जाकर और स्वतन्त्र रूप से कारगर बनकर नहीं रह सकते। इस प्रकार भारत-वासियों का विदेश जाकर बसना भी बन्द है। जिन भारतीय सज्जदों को लोग शर्त्तबन्द कुली बनाकर विदेशों में ले गये थे, वे भी किसी न किसी

बहाने से फिर इस देश को लौटा दिये गये हैं और उन्हें वहाँ बसने नहीं दिया गया है।

जन-संख्या की वृद्धि—फिर, चाहे धीरे-धीरे ही सही, भारत की जन-संख्या भी बराबर बढ़ती जा रही है; और ज़मीन उतनी की उतनी ही है, बल्कि उसकी उर्वरा शक्ति और भी कम होती चली जा रही है, क्योंकि न तो उसमें ठीक तरह से खाद ही दी जाती है और न उसे फिर से उर्वरा होने के लिए पड़ती ही छोड़ा जाता है। सन् १८७२ से लेकर १९२१ तक भारत की आबादी ११ करोड़ ३० लाख बढ़ गई है, जिसमें से ५ करोड़ ६० लाख आदमी तो इसलिए बढ़े हैं कि नये-नये प्रान्त ब्रिटिश भारत में मिला लिये गये हैं और ५ करोड़ ४० लाख आदमियों की वास्तविक वृद्धि हुई है। मतलब यह कि इतने समय में आबादी में २० प्रति सैकड़े की वृद्धि हुई है; और अब भी पहले की ही तरह बराबर वृद्धि होती जाती है। इसका परीक्षाम यह होगा कि ज़मीन पर और भी अधिक भार बढ़ता जायगा।

वैज्ञानिक प्रणालियों को भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता—अन्यान्य देशों में खेती-बारी की प्रणालियों में बहुत से वैज्ञानिक सुधार हुए हैं, जिनसे प्रति एकड़ उपज बढ़ गई है और अधिक अन्न उत्पन्न होने लगा है; और इस प्रकार जन-संख्या की वृद्धि आदि के कारण ज़मीन पर पड़नेवाले भार का प्रभाव जहाँ तक हो सकता है, कम हो जाता है और ज़मीन की पैदावार घटने नहीं पाती। परन्तु दूसरे देशों में इस प्रकार के सुधार स्वयं सरकार या पूँजीवाले लोग करते हैं और इस काम के लिए वे नये-नये यन्त्र प्रस्तुत करते और खाद तैयार करने तथा पैदावार बढ़ाने के नये-नये वैज्ञानिक ढङ्ग निकालते हैं, जिनसे उनके यहाँ उपज बहुत बढ़ जाती है। परन्तु भारत में अभी तक इन सब बातों की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया है। भारत में जिन किसानों से इन सब बातों की आशा की जाती है, वे दरिद्र, अज्ञानी, भाग्यवादी और आर्थिक दृष्टि से ना-समर्थ हैं। वे पुराने ज़माने से चले आये हुए ढङ्ग ही काम में लाते हैं और नये-नये ढंग निकालने या सुधार

करने के लिए दिमाग नहीं लड़ाते। उनकी मानसिक शिथिलता या आलस्य, फालतू और व्यय-साध्य उपायों तथा रूढ़िगत संकीर्ण अभ्यासों के कारण सुधार प्रायः असम्भव सा हो जाता है। वह बिना किसी प्रकार की सहायता पाये स्वयं व्यक्तिगत रूप से जो प्रयत्न करता है, वह कोई प्रयत्न नहीं है।

भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है—फिर ज़मीन की जो दशा है, वह भी आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं है। एक तो वह यों ही बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है और फिर उसके और भी छोटे-छोटे खंड हो गये हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में एक-दूसरे से बिलकुल अलग होकर पड़े हैं। ये छोटे-छोटे टुकड़े ठीक ढंग से और कृषिपत के साथ नहीं जोते-बाये जा सकते। यहाँ बड़ी-बड़ी मशीनों की सहायता से खेती-बारी करने की प्रथा चलाई ही नहीं जा सकती। भूमि के इस प्रकार छोटे-छोटे खंडों में विभक्त होने के कारण किसानों को अपने पड़ोसियों और चढ़ आनेवालों के साथ बराबर और बहुत अधिक मुकदमेबाजी करनी पड़ती है जिससे वे बरबाद और कर्ज़-दार हो जाते हैं; क्योंकि आजकल यहाँ की न्याय-प्रणाली ही ऐसी है कि बहुत सी अदालतें हैं, बहुत से वकील आदि हैं और मुकदमे लड़ने का ढंग बहुत ही पेचीला है। किसान के पास ज़मीन का जो बहुत छोटा टुकड़ा होता है, उसे वह हर तरह से अपने हाथ में रखना चाहता है; क्योंकि अगर वह ज़मीन उसके हाथ से निकल जाय तो फिर उसके रहने का कहीं ठिकाना न रह जाय। यही सोचकर वह बराबर उस पर कर्ज़ का बोझ लादता चलता है। इस प्रकार उसकी आर्थिक अवस्था दिन पर दिन और भी खराब होती जाती है। वह महाजन के पञ्जे में खूब अच्छी तरह फँस जाता है जिससे शायद ही कभी उसका छुटकारा होता है। इस प्रकार एक छोटा कारतकार उस जगह पर ठहर नहीं सकता जहाँ उसके, ज़मीन के, एक-दो छोटे-मोटे टुकड़े होते हैं। न तो उसके पास धन या बोज के रूप में कोई पूँजी होती है और न कोई ऐसी सम्पत्ति होती है जिसकी सहायता से वह स्वतंत्रता-पूर्वक खेती-बारी का काम कर सके और उससे पूरा-पूरा लाभ उठा सके। फसल पर खेत में जो कुछ उपज होती है, उस पर महाजन इसलिए सबसे

पहले आकर अधिकार कर लेता है जिसमें वह अपना कर्ज दिया हुआ असल रूपया और उसका सूद वसूल कर सके।

सरकार और काश्तकार का सम्बन्ध—सरकार और काश्तकार भी आपस में सम्बद्ध हैं और दोनों का एक दूसरे से हित होता है। सरकार ने विजय प्राप्त करके देश पर अधिकार किया है, इसलिए वह ज़मीन पर अपना मालिकाना हक़ बतलाती है। इसलिए लोगों के पास व्यक्तिशः जो ज़मीन होती है, वह क़ानून की दृष्टि से सरकार की सम्पत्ति समझी जाती है। वह उसकी रक्षा करने के बदले में केवल कर उगाहने और उपज का अंश लेने की ही अधिकारिणी नहीं बनती, बल्कि क़ानून की दृष्टि से ज़मीन की खास मालिक की हैसियत से उसका किराया या लगान भी लेती है। सन् १८२३ में उसने ३६ करोड़ रुपये ज़िये थे। सरकार ज़मीन का जो लगान लेती है, वह कर की अपेक्षा अधिकतर किराया ही समझा जाता है। काश्तकारों के साथ सरकार के जितने सम्बन्ध हैं और वह उनसे जो पावने वसूल करती है, वे सब इसी सिद्धान्त पर आश्रित और इसी के अनुसार नियन्त्रित होते हैं। काश्तकारों की इच्छाओं और आवश्यकताओं का बिना कोई विचार किये ही लगातार लगान की दर बढ़ाते चलने का वह अपना अधिकार समझती है। साथ ही वह काश्तकार की कुल ज़मीन ज़ब्त कर लेने का भी अपना अधिकार समझती है। ज़बती का यह हक़ ज़मीन के सरकारी मिल्कियत होने के सिद्धान्त पर आश्रित है; और यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे आरम्भिक स्मृतिकारों ने कभी स्वीकृत नहीं किया। उनका मत था कि ज़मीन लोगों की है और उनकी है, जिन्होंने उसे आरम्भ में साफ़ करके बसाया। उसकी रक्षा के लिए सरकार की सृष्टि बाद में हुई। उसी रक्षा के बदले में सरकार को कर दिया जाता था।

सरकारी मिल्कियत का ज़मीन पर प्रभाव—ज़मीन के सरकारी मिल्कियत होने के विचार का जनता की सम्पन्नता पर बहुत ही गहरा और बुरा प्रभाव पड़ता है। आजकल मालगुज़ारी आदि की दर बहुत बढ़ी-बढ़ी

है; सरकार को उसे और भी बढ़ाने का पूरा और असीम अधिकार प्राप्त है; वह ज़मीन जूत कर सकती है; पूरी सख्ती से लगान वसूल कर सकती है; फसल चाहे कैसी ही ख़राब और कितनी ही कम क्यों न हो, वह पूरी माल-गुज़ारी वसूल कर लेती है; सरकार और कारतकार के बीच में किसी प्रकार का झगड़ा या मतभेद होने की दशा में साधारण अदालतों को उन पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं होता; माल विभाग के जितने क़ानून और अदालतें हैं, उन सबका स्वरूप शासक या व्यवस्थापक है; और जो लोग माल विभाग के मुक़दमे आदि सुनते हैं, उन्हीं को मालगुज़ारी आदि वसूल करने का भी अधिकार होता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि इन सब विषयों में सरकार स्वयं ही प्रतिपक्षी होती और स्वयं ही निर्णायक बन बैठती है और सरकार के मुक़ाबले में कारतकार लोग कुछ भी नहीं कर सकते। यह मानों राजनीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और न्याय-शास्त्र तीनों का उपहास करना है।

बन्दोबस्त की प्रणालियाँ—भारत में ज़मीन के बन्दोबस्त का जो ढङ्ग है, वह केवल रैयतवारी नहीं है, जिसमें कारतकार ही ज़मीन का मालिक होता है। यहाँ ज़मींदारी और ताल्लुक़ेदारी की भी प्रथा है और संयुक्त या सामुदायिक प्रथा भी प्रचलित है। ज़मींदारी या ताल्लुक़ेदारी की प्रथा तो बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त तथा कुछ दूसरे भागों में प्रचलित है और दूसरी संयुक्त या सामुदायिक प्रथा अधिकतर पञ्जाब में प्रचलित है। ब्रिटिश भारत में ज़मींदारी प्रथा के अन्तर्गत ५३ प्रति शत अंश है और उसमें सरकार तथा रिआया के मध्य में बिचवई के रूप में एक ज़मींदार रहता है। सरकार और ज़मींदार दोनों मिलकर पैदावार का एक बहुत बड़ा अंश ले लेते हैं और ज़मीन जोतने-बोनेवाले के हिस्से में बहुत थोड़ा अंश बच रहता है।

ज़मींदारी प्रथा—ज़मींदार को मालिकाना अधिकार इसलिफ़ प्रान्त होते हैं कि उनके पूर्वजों ने वर्तमान सरकार की अथवा उसकी पूर्ववर्तिनी सरकार

की कुछ राजनीतिक सेवाएँ की थीं और वह इस अधिकार का वंशानुक्रम से भोग करता है। सरकार को जो अंश दिया जाता है, वह बन्दोबस्त कहलाता है और वह या तो स्थायी होता है और या अस्थायी अथवा कुछ समय के लिए होता है। बङ्गाल और बिहार में २७.१ प्रति सैकड़े ज़मीन ऐसी है जिसका स्थायी या द्वासी बन्दोबस्त है; और देश के दूसरे भागों में १२.४ प्रति सैकड़े ज़मीन ऐसी है जिसका अस्थायी बन्दोबस्त है। ज़मींदारों का वास्तव में कोई आर्थिक आधार नहीं है। यदि ज़मींदार अपनी सम्पत्ति का समाज की भलाई और कल्याण के लिए उपयोग करता है, तो वह उसका एक उपयोगी सदस्य या अङ्ग हो जाता है; और यदि नहीं तो वह किसी न किसी हद तक केवल दूसरों का माल हड़प करनेवाला बना रहता है और अपनी अनुत्पादित सम्पत्ति स्वयं अपने ही सुख-भोग और दुर्व्यसनों में बहुत बुरी तरह से खर्च करता है। घाटे में वही रहता है जो कठोर परिश्रम करके ज़मीन जोतता और बोता है।

संयुक्त प्रथा—संयुक्त प्रथा माने सरकार को मालगुज़ारी देने का एक दूसरा ढङ्ग है। भूमिकर संयुक्त रूप से लगाया जाता है और मालगुज़ारी एक ऐसे आदमी के द्वारा दी जाती है जो सब लोगों का चुना हुआ या वंशानुक्रमिक मुखिया अथवा प्रतिनिधि होता है। परन्तु सरकार और काश्तकार के बीच में कोई ऐसा आदमी नहीं होता जो खुद नफ़ा करे या काश्तकारों की गाढ़ी कमाई में से अपना हिस्सा भी ले। सरकार अपनी मालगुज़ारी ज़मीन की मालिक और रक्षक की हैसियत से वसूल करती है और उसे मालगुज़ारी निश्चित करने और वसूल करने का पूरा-पूरा अधिकार होता है। सरकार को मालगुज़ारी अदा करने के लिए सारा गाँव मिलकर ज़िम्मेदार होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि गाँव के सभी रहनेवाले ज़मीन के मालिक होते हैं; और जो कुछ पैदावार या बचत होती है, वह सब हिस्सेदारों में गाँव की प्रथा के अनुसार बँट जाती है। कभी-कभी लोगों की अपनी अलग ज़मीन भी होती है और हर एक आदमी अपने हिस्से की मालगुज़ारी आप अदा करता है और बचा हुआ मुनाफ़ा आप लेता है।

स्वामित्व का स्वरूप—भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व प्रथा आर्थिक दृष्टि से अच्छी नहीं है और उसके कारण ज़मीन बहुत से छोटे-छोटे हिस्सों में बँट जाती है। इसका कारण केवल भूमि पर जन-संख्या की वृद्धि का भार ही नहीं है, बल्कि उत्तराधिकार और विभाग-सम्बन्धी वह सरकारी क़ानून भी है जिसके द्वारा पूर्वजों की सम्पत्ति पुरुष उत्तराधिकारियों में बराबर बँट जाती है। जब इस प्रकार ज़मीन बहुत से छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है, तब केवल बहुत से ऋगड़े और क़ानूनी खर्च ही नहीं बढ़ जाते, बल्कि जोतने-बोने आदि के खर्च भी बढ़ जाते हैं जिससे पीछे नफ़ा भी बहुत कम बचता है और विभक्त भूमि आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं रह जाती। इससे कृषि-सम्बन्धी बहुत कुछ पूँजी व्यर्थ नष्ट होती है। बहुत बड़ी-बड़ी ज़मीनें जोतना-बोना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था का परिणाम यह होता है कि खेती के औज़ार पुराने ढ़ङ्ग के और भड़े ही बने रहते हैं, बारी-बारी से बहुत सी चीज़ें बोना असम्भव हो जाता है, पैदावार कम होती है, बहुत सी मेहनत व्यर्थ जाती है और लोगों का आपस में सहयोग नहीं रह जाता।

व्यक्तिगत और सामाजिक कठिनाइयाँ—इसके सिवा कुछ व्यक्तिगत और सामाजिक कठिनाइयाँ भी हैं जो कृषकों की उन्नति और आर्थिक स्थिरता में बाधक होती हैं। वे बिना पढ़े-लिखे और अज्ञान होते हैं, उनमें सम्मिलित परिवार की प्रथा होती है और उन पर कुछ ऐसे लोग आश्रित रहते हैं जो कुछ भी काम-धन्धा नहीं करते; उत्सवों और ब्याह-शादी आदि के समय वे बहुत कुछ अपव्यय करते हैं; उन्हें बहुत से धार्मिक कृत्य करने पड़ते हैं और दक्षिणाएँ देनी पड़ती हैं; घर में बच्चा पैदा होने पर या किसी के मरने पर उन्हें अनेक कृत्य करने पड़ते हैं; मृत पूर्वजों के श्राद्ध आदि करने पड़ते हैं; जात-बिरादरी के लोगों को भोज देने में व्यय करना पड़ता है; अफ़सर लोग ज़बरदस्ती उनसे बेगार और नज़राने या उपहार आदि लेते हैं; उन्हें कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होता और उन्हें नागरिकता के

अधिकारों का कोई अष्टा ज्ञान नहीं होता; उनका कोई सबल सार्वजनिक मत नहीं होता और न उनके मतामत पर सरकार ही कोई ध्यान देती है; उनके लिए कोई ऐसा बलवान् न्याय-विधान नहीं होता जो उनके सार्वजनिक और नागरिक अधिकारों की रक्षा करे; वे बहुत सी जातियों और उप-जातियों आदि में बँटे रहते हैं जो उनमें भेद-भाव और विरोध उत्पन्न करती हैं और सबल नागरिक भावना की नाशक होती हैं; उन पर धार्मिक भावों का आधिपत्य रहता है और राजनीतिक दृष्टि से वे एकाधिकारी शासन के अधीन होते हैं; प्रचलित व्यवस्थाओं आदि में उनका अन्ध-विश्वास रहता है और वे समझते हैं कि समाज की दिन पर दिन निरन्तर दुर्दशा होती जाती है; वे कर्म और पुनर्जन्म आदि पर विश्वास रखते हैं जो उनकी उन्नति के लिए बहुत घातक होता है; उनमें कोई ऐसी केन्द्रस्थ सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक सत्ता नहीं होती जो स्वयं अपना शासन और व्यवस्था करे। और इन सब बातों के कारण उनकी उन्नति बिलकुल रुक जाती है और अवनति होती जाती है। वे अन्दर से अपने आपको स्वतन्त्र नहीं समझते। बाहर से भी वे सब तरह से बँधे हुए होते हैं। इसलिए वे अपने आपको सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से बिलकुल असहाय समझते हैं और वास्तव में असहाय होते भी हैं। जब परिस्थिति में क्रान्ति होती है, तब उसके साथ-साथ मनोवैज्ञानिक परिवर्तन भी अवश्य ही होता है। उसी परिस्थिति में क्रान्ति होने से उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से उन्नत होने में सहायता मिल सकती है। आधुनिक संसार यह चाहता है कि उसमें एक सज्ञान परिवर्तन हो और उसे ठीक करने की ओर ध्यान दिया जाय। मध्यकालीन विचार या भाव और नीति सदा नैतिक और आर्थिक उन्नति में बाधक होते हैं। उन्हें अपने वर्तमान बन्धनों को तोड़ने और जीवन की उत्तम परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिए उद्योग करने की शिक्षा मिलनी चाहिए। उनके जीवन की वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देखते हुए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि उन पर केवल अधिकारात्मक दृष्टि ही न रखी जाय, बल्कि ऐसे भाव रखे जायँ जो नवीन विचारों आदि के सूचक हों।

कृषि के सिवा और पेशों की आवश्यकता—कृषकों के पास जितना समय और कार्य करने की शक्ति होती है, वह सब की सब तो कृषि कर्म में लगती ही नहीं और न कृषि से उनके भोजन-वस्त्र आदि की भी परम आवश्यक और साधारण आर्थिक आवश्यकताएँ ही पूरी हो सकती हैं। साल में औसत पूरे चार महीने कृषक बिलकुल खाली और निकम्मा रहता है। उसे ज़बरदस्ती निकम्मा रहकर अपना समय और शक्ति नष्ट करनी पड़ती है। खेती-बारी का काम वह इसलिए नहीं छोड़ सकता कि उसके हाथ में और कोई स्थायी काम या जीवन-निर्वाह का साधन नहीं होता। विदेशों से ही सब माल आता है और यहाँवालों के विदेशी व्यापार का मुक़ाबला करने का उचित रूप से अवसर नहीं मिलता; यहाँ के व्यापारों के सरकारी सहायता नहीं मिलती और शिल्प आदि कलाओं का न तो उनको ठीक-ठीक ज्ञान होता है और न उनमें संघटन ही होता है। इन सब बातों के कारण यहाँ के सब पुराने घरेलू धन्धे नष्ट हो गये हैं और नये धन्धों के उत्पन्न होने और बनने में सहायता नहीं मिली है। जब तक वह खेती-बारी के अतिरिक्त और कुछ काम-धन्धा न करे, तब तक जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। पहले वह फुरसत के समय में खेती-बारी के सिवा कुछ और भी घरेलू काम-धन्धे किया करता था। पर जब से इस देश में ब्रिटिश शासन और उसकी स्वार्थपूर्ण नीति का आरम्भ हुआ है और मशीनों की बनी हुई चीज़ें यहाँ आने लगी हैं, तब से वह सब परिस्थितियाँ बदल गई हैं। किसी राष्ट्र को अधिक से अधिक जो क्षति पहुँच सकती है, वह सब इसके कारण पहुँची है। और वह क्षति इस रूप में हुई है कि यहाँ के निवासियों को ज़बरदस्ती निकम्मा और बेकार रहना पड़ता है। पहले यहाँ की कृषि और उद्योग-धन्धों के कारण ऐसी परिस्थिति थी कि जो हानियाँ या त्रुटियाँ होती थीं, वे सब आप से आप पूरी हो जाती थीं। परन्तु अब उस परिस्थिति का नाश हो गया है। भारतवासियों की कोई अलग और ऊपरी आमदनी नहीं रह गई है; बल्कि ये कहना चाहिए कि उनकी आय का सारा साधन ही नष्ट हो गया है, जिससे लोगों के आर्थिक कष्ट बहुत बढ़ गये हैं और वे भूखें मरने लगे हैं। और जीवन के किसी

साधारण क्रम-निरूपण में भोजन, वस्त्र तथा शारीरिक स्वास्थ्य की साधारण आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं की जा सकती ।

कृषि तथा अन्य व्यवसायों के सामञ्जस्य का लोप—
कृषि-जीवन की वर्तमान अवस्थाओं में सब से बड़ा दोष यह है कि ग्राम के व्यवसाय तथा कृषि-कार्यों का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त विशृङ्खल हो गया है । प्राचीन काल में यहाँ के लोग धन-धान्य आदि से जो बहुत सुखी रहते थे, उसका वास्तविक कारण यह था कि लोग खेती-बारी के साथ-साथ अपने घर में भी अनेक प्रकार के शिल्पों में लगे रहते थे । परन्तु अब किसानों के पास इस प्रकार का कोई काम नहीं रह गया है और उन्हें हर साल बहुत दिनों तक बिलकुल बेकार रहना पड़ता है; और यही उनके वर्तमान कष्टों तथा दरिद्रता का मूल कारण है । इन सब दुरवस्थाओं का अवश्य सुधार होना चाहिए ।

इन दुरवस्थाओं को दूर करने के लिए जो हितकारक सुधार और उपाय बतलाये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

- (१) कृषकों को शिक्षित बनाया जाय ।
- (२) उन्हें कृषि के वैज्ञानिक या नये अच्छे ढंग बतलाये जायें
- (३) सिंचाई के लिए नहरें आदि तैयार करके उनकी सहायता की जाय ।
- (४) उनमें परस्पर मिलकर काम करने की आदत डाली जाय और सहयोग समितियाँ स्थापित की जायें ।
- (५) कानून बनाकर आर्थिक विषयों पर उनका अधिकार दृढ़ किया जाय ।
- (६) गाँवों में पञ्चायतें स्थापित की जायें ।
- (७) उन्हें किसी प्रकार धन या ऋण आदि देकर राज्य द्वारा उनकी सहायता की जाय और साथ ही राज्य उन्हें कतिपय करों से मुक्त करे ।
- (८) उन्हें ऐसे शिल्प आदि सिखलाये और बतलाये जायें जिनसे वे अवकाश के समय कुछ उपार्जन कर सकें ।
- (९) उनके राजनीति तथा नागरिकता-सम्बन्धी अधिकार सुरक्षित तथा दृढ़ किये जायें ।

ये और इनसे मिलते-जुलते जो अनेक उपाय तथा साधन बतलाये जाते हैं, उनसे इस उद्दिष्ट परिणाम की आशा की जाती है कि कृषकों की उत्पादक शक्ति तथा ज़मीन की उपज बहुत कुछ बढ़ जायगी। अब ऊपर बतलाई हुई बातों के सम्बन्ध में हम अपने कुछ विचार देना चाहते हैं।

कृषकों की शिक्षा—कृषकों की शिक्षा के सम्बन्ध में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई है। वे अभी तक नितान्त अशिक्षित हैं। उनके मन पर बहुत सी धार्मिक तथा सामाजिक प्रणालियों, अभ्यासों तथा पक्षपातों की ऐसी गहरी छाप पड़ी हुई है जो उनकी आर्थिक उन्नति में बहुत बाधक होती है। उनकी शिल्प तथा विज्ञान-सम्बन्धी अयोग्यता अभी तक ज्यों की त्यों है। उनकी दृष्टि अभी तक सङ्कीर्ण तथा घातक है। उनमें शायद ही कहीं कोई जाग्रति दिखलाई पड़ती हो। उन्हें जो चाहे, वह सहज में धोखा दे सकता और उन पर अत्याचार कर सकता है।

सरकार द्वारा वैज्ञानिक सहायता—सरकार ने कुछ स्थानों पर बीजों और चौपायों की उन्नति कर दिखलानेवाले कुछ जखीरे और प्रयोगशालाएँ आदि तथा कृषि-सम्बन्धी कुछ स्कूल और कालेज आदि स्थापित कर रखे हैं; और प्रत्येक प्रान्त में एक ऐसा कृषि-विभाग खोल रखा है जो कृषि-सम्बन्धी बातों की उन्नति तथा विकास की व्यवस्था करता है। भिन्न-भिन्न स्थानों तथा फसलों आदि के लिए उपयुक्त वैज्ञानिक तथा उन्नत प्रणालियों का अध्ययन किया जाता है, उनके प्रदर्शन किये जाते हैं और अच्छे औज़ार, बीज, जोतने-बोने, खाद देने, सींचने और फसल काटने आदि के ढंग दिखलाये जाते हैं और यह बतलाया जाता है कि बारी-बारी से किस प्रकार बदलकर कौन-कौन सी फसल बोनी चाहिए और चौपायों तथा चारे आदि की किस प्रकार उन्नति की जानी चाहिए। ज़मीन की मिट्टी का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया जाता है और यह बतलाया जाता है कि वह किस पुरानी या नई फसल के लिए उपयुक्त है। कुछ ऐसे विद्यार्थी सिखाकर तैयार किये गये हैं जिनसे यह आशा की जाती है कि वे इस प्रकार के ज्ञान का खेतिहरों

में प्रचार करेंगे। परन्तु इतना होने पर भी अभी तक उनकी कठिनाइयाँ ज्यों की त्यों बनी हैं। इस नये ज्ञान का उपयोग करने के लिए पूँजी और अनुभव की आवश्यकता होती है और उनमें से व्यक्तिशः शायद ही किसी के पास ये चीजें हों। इसी लिए उनमें कोई विशेष उन्नति नहीं दिखलाई देती और वे इन सब बातों की ओर से उदासीन रहते हैं।

सिंचाई का कार्य—जहाँ-जहाँ सम्भव है, वहाँ-वहाँ सरकार नहरें बनाती है और इस प्रकार वे सब ज़मीनें सींची जाती हैं जिनमें पहले बिलकुल ही पानी नहीं होता था या बहुत ही कम होता था; और इसी कारण जिनमें कोई फ़सल नहीं होती थी। जहाँ तक खेती-बारी के योग्य नई ज़मीन को खेती-बारी के काम में लाने या पुरानी जोती-बोई जानेवाली ज़मीन को सहायता पहुँचाने का सम्बन्ध है, वहाँ तक इससे देश को लाभ पहुँचा है। पञ्जाब की नहरों से उस प्रान्त के कृषकों को सहायता मिली है। परन्तु जहाँ पानी की कमी का प्रश्न नहीं है, वहाँ की पुरानी ज़मीनों और उनकी उपजों की उन्नति और सुधार में इससे कोई सहायता नहीं पहुँच सकती।

कोआपरेटिव या सहयोग आन्दोलन—कोआपरेटिव या सहयोग आन्दोलन के कारण लोगों में आत्म-निर्भरता, मितव्ययता तथा परस्पर मिलकर काम करने के भाव जाग्रत हुए हैं। इससे बहुत सी बुराइयाँ कम और दूर हुई हैं। ऐसी कोआपरेटिव सोसाइटियाँ स्थापित हुई हैं जो अपने कोआपरेटिव बैंकों के द्वारा कम सूद, परन्तु संयुक्त उत्तरदायित्व, पर लोगों को क़र्ज़ देती हैं। अनेक कोआपरेटिव उत्पादक सोसाइटियाँ भी स्थापित हुई हैं, जो बीज आदि ख़रीदकर और खेतों को जोत-बोकर सहयोग के सिद्धान्त पर तथा आर्थिक दृष्टि से अनेक प्रकार के उत्पादक कार्य करती हैं। अनेक ऐसी कोआपरेटिव वितरणकारी सोसाइटियाँ स्थापित हुई हैं जो सहयोग के सिद्धान्त पर इस प्रकार की पैदावार बाज़ारों में बेचती हैं; और ऐसे कोआपरेटिव स्टोर भी खुले हैं जो सस्ते दामों पर आवश्यक चीज़ें बेचते हैं; और जो कुछ नफ़ा होता है, वह अपने हिस्सेदारों को बाँट देते हैं। इन

सब के द्वारा कृषकों में आर्थिक तथा सहयोग-सम्बन्धी भावों का प्रसार हुआ है; और वे उन महाजनों, व्यापारियों और साहूकारों की लूट से बहुत कुछ बचे हैं, जो पहले उनकी आय का बहुत बड़ा अंश हड़प लिया करते थे। परन्तु बहुत से लोग या तो पक्षपात और या स्वार्थ-साधन के विचार से इस आन्दोलन का विरोध करते हैं जिससे इसका प्रसार बहुत ही धीरे-धीरे हो रहा है। इसके सिवा इनका नियन्त्रण बहुत कुछ सरकार के हाथ में रहता है, जिसमें सरकारी अफसरों का विशेष अधिकार रहता है और लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कोआपरेटिव सोसाइटियों की कुल संख्या ७०००० से कुछ ऊपर है।

निषेधकारी क़ानून—कुछ ऐसे निषेधकारी क़ानूनों की आवश्यकता होगी जिनकी सहायता से कृषक लोग महाजनों के चंगुल से बच सकें और उनकी ज़मीन नीलाम कराके उनसे छीनी न जा सके—उनके अज्ञान और दरिद्रता से कोई अनुचित लाभ न उठा सके। सरकार ने भी और अर्थ-शास्त्र के ज्ञाताओं ने भी अब यह बात मान ली है कि इस समय कृषकों के पास जो ज़मीनें हैं, वे आर्थिक दृष्टि से उनके लिए लाभकारी नहीं हैं; अर्थात् उन ज़मीनों में इतनी पैदावार नहीं होती जो उनकी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए यथेष्ट हो। ज़मीनों के क्षेत्रफल और पैदावार को देखते हुए चीज़ें पैदा करने का खर्च भी अधिक है। अब जो कृषकों के पास ज़मीनों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े रह गये हैं, उसका कारण यह है कि ज़मीनें बराबर बहुत दिनों से खण्ड-खण्ड होकर बँटती चली आई हैं। इसलिए अब एक ऐसा क़ानून बनाने के लिए आन्दोलन हो रहा है जिससे छोटे-छोटे टुकड़ों को मिलाकर बड़े-बड़े टुकड़े बनाये जा सकें। यह विचार बहुत अच्छा है और इस उपाय से बहुत कुछ लाभ हो सकता है। परन्तु जब ऐसा क़ानून बन जायगा, तब उसके साथ-साथ इस बात का भी प्रयत्न करना पड़ेगा कि सरकार लोगों के लिए ऐसे उपयोगी औद्योगिक धन्धे प्रस्तुत करे जिनमें लगकर वे लोग जीविका उपार्जन कर सकें, जिनकी ज़मीन छिन गई हो। यदि ऐसी व्यवस्था न होगी तो उक्त क़ानून का यही परिणाम होगा

कि बहुत से कृषकों की दशा और भी अधिक ख़राब हो जायगी। केवल थोड़े से ही लोगों को लाभ हो सकेगा। उस दशा में इस समस्या का कोई निराकरण न होगा, बल्कि वह मानों एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर रख दी जायगी। इसके लिए उत्तराधिकार के क़ानून में परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी।

सरकारी सहायता और संरक्षण—जिस समय अकाल पड़ता है या और कोई भीषण विपत्ति का अवसर आता है, उस समय सरकार की ओर से लोगों को कुछ सहायता या ऋण दिया जाता है और उनके कुछ कर माफ़ करके उनका संरक्षण किया जाता है। भारत में लगातार थोड़े-थोड़े अन्तर पर अकाल पड़ा करते हैं, जिनके कारण बहुत से लोग भूखों मर जाते हैं। यद्यपि यहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में एक ऐसी मिथ्या धारणा फैली हुई है कि ये लोग ज़मीन के अन्दर धन गाड़कर रखते हैं, परन्तु फिर भी वास्तव में यहाँ के लोगों के पास कोई ऐसा साधन नहीं होता जिससे वे अकाल के समय किसी प्रकार अपना निर्वाह कर सकें और उसके सामने ठहर सकें। जिस साल पैदावार कुछ कम होती है, उसी साल उनकी क्रय शक्ति भी कम हो जाती है; और किसी प्रकार के काम-धन्धे या उद्योग के अभाव में ग़ल्ले तथा दूसरी चीज़ों का भाव चढ़ने पर वे लोग नितान्त असमर्थ हो जाते हैं। जब तक अकालों आदि का मुक़ाबला करने की उनकी शक्ति न बढ़े, तब तक यह बात निश्चित है कि अकाल आदि पड़ने पर उनमें भीषण जन-नाश होगा।

सहायक शिल्पों की व्यवस्था—कृषकों के आर्थिक सुधार और सहायता का सबसे बड़ा काम यह होगा कि उनके लिए कुछ ऐसे नये सहायक धन्धों और शिल्पों आदि की व्यवस्था की जाय जो वे अपने घर में ही या उसके पास रहकर कर सकें, जिनमें वे केवल अपनी फ़ुरसत का समय लगा सकें और जिनसे उनकी आय में थोड़ी-बहुत वृद्धि हो सके या उनकी खास-खास आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। जब गाँवों और देहातों में शिल्प और

उद्योग-सम्बन्धी विकास करने का महत्त्व स्वीकृत कर लिया जायगा और उनकी उन्नति तथा निर्वाह का प्रबन्ध किया जायगा, तभी कृषक अपनी फासत शक्तियाँ और फुरसत का समय काम में लगा सकेंगे और तभी उनकी समस्या का निराकरण होगा। जब तक लोगों को बिलकुल मुफ़ में भोजन, वस्त्र और रहने का स्थान आदि देने की व्यवस्था न की जायगी, तब तक प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जो अपनी ये मानव आवश्यकताएँ पूरी करना चाहता है, काम करना पड़ेगा। यदि बहुत बड़ी-बड़ी मशीनें बना दी जायँगी और थोड़े परिश्रम से बहुत अधिक चीज़ें तैयार करने की व्यवस्था कर दी जायगी, तो उससे कभी बहुत से लोगों की छुट्टा शान्त न होगी। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति में क्रय करने की शक्ति हो; और इसका मतलब यह है कि उसे चीज़ें तैयार करनी पड़ेंगी और दूसरों से उन चीज़ों का परिवर्तन करना पड़ेगा। इसलिए अर्थ-शास्त्र की राष्ट्रीय प्रणाली में मुख्य समस्या यह होती है कि राष्ट्र के सब लोगों के पास जितनी शक्ति और समय हो, उन सब का उपयोग चीज़ें उत्पन्न करने तथा उनका विनिमय करने में हो। मशीनों को सदा मनुष्यों की आवश्यकताएँ पूरी करके उनकी सहायता करनी चाहिए, न कि उन्हें सब चीज़ों से वञ्चित कर देना चाहिए। जब तक तैयार की हुई चीज़ें अधिकता से सब लोगों में बाँटी न जायँगी, तब तक थोड़े से स्थानों पर और थोड़े से आदमियों के द्वारा बहुत सा माल तैयार करा लेने से ही समस्या का निराकरण न हो सकेगा। आजकल व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार की जो प्रथा प्रचलित है, उसमें चीज़ें तैयार करके बिलकुल मुफ़ बाँटना असम्भव है; इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में कुछ काम देने से ही उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है।

सार्वजनिक मत के प्रभाव की आवश्यकता—परन्तु ऊपर बतलाये हुए साधनों में से अनेक साधन ऐसे ही हैं जिन्हें कृषक लोग स्वयं कभी काम में नहीं ला सकते। इन साधनों से लाभ उठाने के लिए उन्हें दूसरों का और विशेषतः सरकार का मुखापेक्षी होना पड़ेगा। परन्तु जब तक लोगों का बहुत अधिक दबाव नहीं पड़ता, तब तक सरकारें कभी कोई अच्छा काम नहीं

किया करतीं। इसी लिए यह समस्या खड़ी हुई है कि देशवासियों को अधिक राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों; वे स्थानिक, प्रान्तीय तथा केन्द्रस्थ संस्थाओं तथा शासन-कार्यों में अधिकाधिक सम्मिलित हों; और इस समस्या का निराकरण बहुत ही आवश्यक तथा वाञ्छनीय है। स्वराज्य अवश्य प्राप्त किया जाना चाहिए। राजनीतिक शक्ति का सञ्चालन सार्वजनिक मत के द्वारा होना चाहिए और सार्वजनिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति होनी चाहिए। सरकार जनता की होनी चाहिए और उसके सब कार्य जनता के हित के लिए और जनता के द्वारा होने चाहिए। केवल उसी दशा में जनता के नागरिक अधिकारों तथा हितों की रक्षा हो सकती है और उनकी वृद्धि की जा सकती है।

ग्राम्य पञ्चायतों तथा प्रान्तीय और केन्द्रस्थ काउन्सिलों के लिए सब लोगों को समान रूप से मत देने की समस्याएँ बहुत बड़े अंश में राजनीतिक हैं; और काउन्सिलों आदि के लिए सार्वजनिक मताधिकार की समस्या पर आगे चलकर देश के “राजनीतिक जीवन” के अन्तर्गत विचार किया जायगा।

प्रत्येक देश की राजनीति तथा अर्थ-शास्त्र में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता है। देशवासियों के आर्थिक जीवन की उन्नति तथा समृद्धि में राजनीतिक शक्ति तथा अधिकार से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। आर्थिक शक्ति को फिर से उत्पन्न करने और उसकी रक्षा तथा वृद्धि करने में राज्य या सरकार बहुत बड़ी साधक हुआ करती है। और देशवासियों को अपने देश की सरकारी संस्थाओं तथा कार्यों आदि को इसलिए अपने अधिकार में रखना चाहिए जिसमें वह राष्ट्र के आर्थिक तथा नैतिक हितों और आदर्शों की प्राप्ति तथा रक्षा कर सकें; और वास्तव में यही उनका कर्त्तव्य है। हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियों ने कहा है—

इयं ते राट् यन्तासि यमनो भ्रुवोसि धरुणः

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ।

अर्थात्—“तुम्हें यह राष्ट्र कृषि, कल्याण, समृद्धि तथा उन्नति के लिए दिया जाता है। तुम इसके सञ्चालक और नियामक हो। तुम इस उत्तरदायित्व के दृढ़तापूर्वक धारण करनेवाले हो।”

कुछ कड़े उपाय—इसके अतिरिक्त कृषकों की दशा सुधारने, भूमि को राष्ट्र के अधिकार में लाने, बीच के ज़मींदारों को निकालने या हटाने तथा महाजनों और ऐसे दूसरे लोगों को, जो अनेक प्रकार से कृषकों का धन अपहरण करते हैं, दूर करने या हटाने के लिए कुछ और कड़े उपाय भी बतलाये जाते हैं। वे सब साम्यवादियों तथा सङ्घवादियों आदि के विचार हैं। परन्तु हमारी सरकार विदेशी है और केवल अपने ही स्वार्थ का ध्यान रखनेवाली है। वह केवल जनता के हित के पूर्ण विचार से राज्य-सञ्चालन नहीं कर सकती। वह स्वयं एक बहुत बड़ी पूँजीदार है और वह अपने विदेशी स्वार्थों की सिद्धि के लिए सारे देश के धन का अनुचित रूप से अपहरण करती है। यदि सारी भूमि उसके हाथ में दे दी जाय तो और भी भारी अनर्थ हो। अतः बिना राष्ट्रीय सरकार हुए इन सब उपायों की परीक्षा नहीं की जा सकती। इस समय तो ऐसे उपायों का अवलम्बन करने से जन-साधारण की आर्थिक दशा और भी खराब हो जायगी।

भारत सरकार का एक कृषि-विभाग है और प्रान्तों में उस विभाग के डाइरेक्टर या सञ्चालक रहते हैं। उनका अच्छा उपयोग तभी हो सकता है जब वे अपनी नीति ऐसी रखें जिससे जन-साधारण का कल्याण हो और उसी नीति के अनुसार वे काम करें। परन्तु एक दृढ़ नीति के अभाव के कारण उनकी उपयोगिता बहुत कुछ कम हो गई है। देश में कृषि-सम्बन्धी जो कई कालेज, अन्वेषक संस्थाएँ और प्रयोग-क्षेत्र आदि हैं, उनका कृषि की उन्नति पर कोई विशेष प्रभाव देखने में नहीं आता।

परिच्छेद २

आर्थिक जीवन (क्रमागत)

(३) शिल्प

भारत की शिल्पी जनता—भारत में शिल्प कार्य करनेवाले लोग अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं । यहाँ की बहुत बड़ी जन-संख्या और शिल्प-सम्बन्धी साधनों को देखते हुए, शिल्प-सम्बन्धी प्राचीन काल की उन्नति का ध्यान रखते हुए, उनकी तत्सम्बन्धी योग्यता और संघटन आदि का विचार करते हुए, इस समय आधुनिक शिल्पों में लगे हुए लोगों की संख्या बहुत ही कम है । जब कि यूनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड, आयरलैंड और स्कॉटलैंड) में प्रति सैकड़े २७.८ आदमी शिल्पी हैं, भारत में केवल १.५ आदमी शिल्पी हैं । इसके सिवा और देशों में शिल्पियों की संख्या इस प्रकार है—

स्विट्ज़रलैंड	प्रति सैकड़े २५
जर्मनी	... २०
फ्रांस	... २०
इटली	... १४.१

भारत में शिल्प कार्य करनेवाले प्रायः ५० लाख आदमी हैं और कार-खाने प्रायः ७ हजार हैं । यह संख्या सन् १९२५ की है ।

आजकल किसी देश की शिल्प-सम्बन्धी उन्नति उस देश के प्राकृतिक साधनों पर उतना अधिक निर्भर नहीं करती जितना जनता की शिल्प-सम्बन्धी योग्यता और कौशल पर निर्भर करती है । जिन देशों में प्राकृतिक साधनों की कमी है, पर फिर भी जो दूसरे देशों से कच्चा माल मँगाकर तरह-तरह की चीजें तैयार करते हैं, वे अपेक्षाकृत अधिक धनवान् हैं । परन्तु शिल्प और उद्योग में भारत न तो निपुण है, न संघटित है और न वह अधिक माल ही

तैयार करता है। शिल्प कार्य में बहुत कुछ पिछड़े रहने के कारण ही भारत इस समय इतना दरिद्र है। ऐसी दशा उत्पन्न करने के कई कारण बतलाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

शिल्पकार्य में भारत के पिछड़े रहने के कारण—

१—यूरोप के देशों में आजकल बहुत सी नई-नई मशीनें बनती हैं और वहाँ तरह-तरह के बहुत से माल बहुत अधिक मान में तैयार होते हैं।

२—सरकार यहाँ के शिल्प की ओर से उदासीन है और उसे बढ़ने नहीं देती।

३—यहाँ कारीगर अच्छे नहीं हैं, उनका कोई संघटन नहीं है और लोग सहयोग सिद्धान्त के अनुसार काम करना नहीं जानते।

४—लोग शिल्प कार्य में लगने से घबराते हैं, पूँजी की कमी है, जोखिम उठानेवाले लोग नहीं हैं और जो हैं, वे मिलकर काम नहीं करते।

५—शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा का अभाव है।

जो मजदूर या कारीगर पहले अपने घर पर ही रहकर काम किया करते थे, आर्थिक दबाव पड़ने के कारण अब वे अपने घर पर नहीं रह सकते; और पास में जोतने-बोने आदि के लिए ज़मीन न होने के कारण उन्हें आधुनिक शिल्पों आदि में लगने के लिए शहरों की तरफ़ दौड़ना पड़ता है। परन्तु इन शिल्पों की उन्नति मजदूरों की कारीगरी और योग्यता पर निर्भर करती है; और कारख़ानों तथा मजदूरों की वैज्ञानिक व्यवस्था और संघटन नई से नई मशीनों और तैयार की हुई चीज़ों को बाज़ारों में बेचने पर निर्भर करती है। परन्तु भारत में अभी तक इन सब बातों की पूरी तरह से उन्नति ही नहीं हुई है। इसी लिए कुछ थोड़े से ऐसे शिल्पों को छोड़कर, जो केवल प्राकृतिक सहायता से ही उन्नति कर सकते हैं, और सब शिल्पों में भारत की योग्यता सबल नहीं बल्कि निर्बल है। भारत में तब तक शिल्प की उन्नति नहीं हो सकती, जब तक वह ऐसे नये शिल्पों का विकास और प्रचार न कर सके जिनमें उन लोगों को काम दिया जा सके, जो

सुधरी हुई और कम मेहनत से चीजें तैयार करनेवाली मशीनों के प्रचार के कारण अपने पुराने शिल्पों से हाथ धो बैठे हैं ।

ज़मीन पर दबाव और बेकारी—जो कारीगर और मज़दूर आदि नई-नई और बड़ी-बड़ी मशीनों आदि के प्रचार के कारण बेकार हो जाते हैं, वे खेती-बारी करने लगते हैं, जिससे निर्वाह के इस साधन पर बहुत अधिक दबाव पड़ता है; क्योंकि खेती-बारी करनेवाले लोग पहले फुरसत के समय और भी छोटे-मोटे काम-धन्धे करके अपना गुज़ारा कर लिया करते थे और अपनी कुछ आवश्यकताएँ पूरी कर लिया करते थे; पर अब वे सब काम-धन्धे या तो नष्ट हो गये हैं और या लोगों ने उन्हें छोड़ दिया है । भारत में तो इस नवीन शिल्पवाद के कारण वास्तव में बेकारी ही बढ़ी है और केवल खेती-बारी से निर्वाह करनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गई है । विदेशी शिल्प उचित और अनुचित सभी उपायों से प्रतियोगिता करते हैं, जिसके कारण यहाँ पुराने और नये शिल्पों के विकास की तो कौन कहे, उनकी ठीक-ठीक रक्षा भी नहीं हो सकती । इन सब विषयों में सरकार तटस्थता की नीति का अवलम्बन करती है, विदेशियों को स्वतन्त्रतापूर्वक शिल्प और व्यापार आदि करने देती है और इस देश के शिल्पों की प्रत्यक्ष रूप से सहायता या रक्षा न करके मानों उनके साथ शत्रुता करती है । इसी लिए भारत में शिल्पों का संरक्षण और उन्नति करनेवाले उन सब उपायों और साधनों का नितान्त अभाव है, जिनका अवलम्बन युरोपीय देशों ने अपने नये शिल्पों को जमाने के लिए किया था । युरोपीय देश अपने तैयार किये हुए माल की बिक्री के लिए जगह चाहते हैं और विजित या पिछड़े हुए देशों तथा उपनिवेशों आदि को उनका माल विचश होकर खरीदना पड़ता है । दोनों के आर्थिक हितों में आन्तरिक और वास्तविक विरोध है । यहाँ की शासक शक्ति ने आयात और निर्यात कर, चुङ्गी, माल के आने-जाने के किराये, शिक्षा और आर्थिक नीति आदि के रूप में ऐसे-ऐसे उपायों का अवलम्बन किया है जो भारतीय शिल्प की उन्नति में बाधक होते हैं । कोई ऐसी आर्थिक नीति नहीं है जो हमारे शिल्पों की उन्नति और रक्षा कर सके, हमारे मज़दूरों को काम

सिखला सके और हमारे बाजारों को रक्षित रख सके। इस देश में शिल्प-सम्बन्धी जो नये-नये कार्य उठाये जाते हैं, उन्हें इस देश के बैंक सहायता नहीं देते। यहाँ माल भेजने और मँगाने के लिए जो व्यवस्था और किराये की दर आदि है अथवा जो रेलें और नदी या समुद्र के मार्ग हैं, वे स्वदेशी धन्धों के लिए सुभीते नहीं करते। उनका प्रबन्ध विदेशी लोग अपने ही हित के विचार से करते हैं।

नीचे हम एक तालिका देते हैं जिससे यह पता चलेगा कि कारखाने-सम्बन्धी कानून या फैक्टरी ऐक्ट (Factory Act) के अनुसार सन् १९२२ में यहाँ कितने कारखाने थे और उनमें कितने आदमी काम करते थे।

कारखाने	संख्या	कर्मचारी (हज़ार)
सूत कातने और बुननेवाली कर्लें	२६४	३२७
जूट मिलें	८५	३२०
कपास ओटने की कर्लें	१६३२	१२२
रेलवे और ट्रामवे के कारखाने	१०८	१४५
चावल के कारखाने	६३१	५५
इंजीनियरी के काम	२०६	३८
हथियार आदि बनाने के कारखाने	६	११
छापेखाने	१६३	३१
चमड़े के कारखाने	३५	८
जूट प्रेस	११४	२८
ईंट आदि बनाने के कारखाने	४७	७
बन्दरगाहों के कारखाने	२१	२१
चाय के बाग़	२६५	१६
लोहे और फ़ौलाद के कारखाने	६६	४१
लकड़ी चीरने के कारखाने	१७४	१७
पेट्रोल	१६	१३
ऊनी माल की कर्लें	१०	७

कारखाने	संख्या	कर्मचारी (हज़ार)
चीनी के कारखाने	४०	१३
पत्थर " "	६	३
तेल पेरने की कलें	१५८	८
मिट्टी का तेल	२५	६
तमाखू	१६	३
कागज़ बनाने की कलें	७	५
लाख का काम	६	२
रेशम के कारखाने	५	१
अन्यान्य	७०२	११०
	कुल ५१४४	कुल १३६१

सन् १९२२ में भारत में रजिस्टरी की हुई ५१८६ ज्वाइंट स्टॉक कम्प-नियर्स थीं और उनका प्राप्त मूलधन २३० करोड़ रुपये था ।

ऊपर शिल्पों की जो तालिका दी गई है, उससे भारत की शिल्प-सम्बन्धी उन्नति का स्वरूप विदित हो जाता है । अभी तक उनकी बहुत ही कम उन्नति हुई है और उनमें से बहुतों के लिए अपनी वर्तमान स्थिति का निर्वाह भी बहुत ही कठिन हो रहा है ।

सरकारी विभाग—सन् १९२१ से केन्द्रीय या भारत सरकार में एक शिल्प विभाग खुला है और शिल्प के प्रान्तीय डाइरेक्टर भी नियुक्त हुए हैं । ऐसा समझा जाता है कि वे उपयुक्त शिल्पों को प्रोत्साहित करते हैं, उनका आरम्भ करते हैं, उन्हें सहायता देते हैं और नये लाभदायक शिल्पों का पता लगाते हैं । परन्तु धनाभाव के कारण बहुत ही कम काम हो सका है । सरकार के जो रक्षित विभाग और ऐसी मदें हैं जिनके सम्बन्ध में काउन्सिलों में मत दिया ही नहीं जा सकता, वे सब देश की आय का बहुत बड़ा हिस्सा ले लेती हैं और लोक-कल्याण के कामों के लिए बहुत ही थोड़ा धन बाकी छोड़ती हैं । सरकार और रेलवे आदि के लिए ज़रूरी चीजें खरीदने के लिए एक क्रय-विभाग (Indian Stores Purchase Department) भी

स्थापित है, जिसके सम्बन्ध में यह माना जाता है कि वह भारतीय शिल्पों को प्रोत्साहित करता है ।

कुटी-शिल्प और उनका महत्त्व—पहले लोग अपनी कोपड़ियों या कुटियों में बैठकर शिल्प-सम्बन्धों बहुत से काम-धन्धे कर लिया करते थे जिनसे भारत के आर्थिक जीवन की बहुत सी त्रुटियाँ तथा अभाव पूरे हो जाते थे । ऐसे शिल्पों को आजकल “कुटी-शिल्प” कहा जाता है । इनमें से कुछ शिल्प तो अभी तक शहरों और देहातों में बहुत कुछ लाभ पहुँचाते हैं । पहले प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसे कारीगर और कर्मचारी होते थे जो अपने सभी आवश्यक काम कर लेते थे और जिनके कारण वह गाँव स्वतन्त्र रहता था और अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी कर लिया करता था । कुछ थोड़ी सी बहुमूल्य और बहुत कारीगरी की चीजों को छोड़कर गाँव में बाहर से शायद ही कभी कोई चीज़ आती रही हो । कारीगरों का प्रत्येक दल या वर्ग और छोटी-छोटी सेवाएँ करनेवाली प्रत्येक जाति अपना-अपना काम किया करती थी; और उसे पारिश्रमिक या पुरस्कार-स्वरूप प्रति वर्ष फसल या पैदावार का एक निश्चित अंश मिला करता था । परन्तु आधुनिक प्रतियोगिता के चक्कर में पड़कर गाँवों का यह स्वयंपूर्ण औद्योगिक स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है । अब गाँव का आन्तरिक या भीतरी सम्बन्ध तो टूट गया है और बाहरी संसार के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित हो गया है । अब उसकी आवश्यकता की बहुत सी चीज़ें विदेशों से आने लगी हैं और वे सस्ती तथा नये ढङ्ग की होने के कारण देहातियों को आकृष्ट करती हैं । अब देहाती लोग अपने गाँव के कारीगर पर निर्भर नहीं रहते, बल्कि विदेशी चीज़ें पसन्द करते और खरीदते हैं । यदि कुटी-शिल्पों की भली भाँति उन्नति तथा रक्षा की जाय तो उनसे कृषकों को खेती-बारी के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ आमदनी हो सकती है ।

भारत में इस समय भी अनेक कुटी-शिल्प इसलिए अच्छी दशा में चल रहे हैं कि बहुत से गाँव बिल्कुल अलग और शहरों से दूर बसे हुए हैं । ऐसे गाँवों के कारीगर स्वयंपूर्ण स्थान में रहकर काम और जीविका-निर्वाह करते हैं; और वे तब तक व्यापारिक जगत् से बिल्कुल अलग रहते हैं, जब तक

रेलों के द्वारा बाहरी जगत् के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता । अभी तक गाँवों में मशीनों का प्रवेश नहीं हुआ है और वहाँ मुख्यतः मानव शरीर ही काम करते हैं । इसके सिवा लोगों को अब भी ऐसी बहुत सी चीज़ों की आवश्यकता रहती है जो मशीनों से नहीं बल्कि केवल हाथ से ही बनती हैं और उनके बाज़ार और खरीदार पास पड़ते हैं ।

कुटी-शिल्पों के भेद—कुटी-शिल्पों में से सबसे अधिक महत्त्व के शिल्प कताई, बुनाई, रेशम के कीड़े और मधुमक्खिर्या पालना, मुर्गे पालना, दूध, दही, मक्खन आदि तैयार करना, चौपायों की नस्लें तैयार करना, फल और तरकारी आदि बोनो, खिलौने तथा लकड़ी के दूसरे सामान बनाना, धातु का काम, खुदाई, कपड़े का काम तथा इसी प्रकार के और अनेक काम हैं । इनमें से करघों की बुनाई का बहुत अधिक प्रचार है और उसमें २० लाख आदमी लगे हुए हैं । यदि इनका भली भाँति संघटन और सुधार किया जाय और इन्हें प्रोत्साहन दिया जाय तो इनसे और भी बहुत से आदमियों का निर्वाह हो सकता है । जनसाधारण और शिल्प-विभाग इस बात का उद्योग कर रहे हैं कि यह शिल्प अच्छे ढङ्ग से चलाया जाय । हाल में जो स्वदेशी और खादी का आन्दोलन चला है, उसमें इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि सब लोग 'फुरसत के समय सूत काता करे' । जिन लोगों को और कोई काम नहीं मिलता, वे 'फुरसत के समय यह काम करके कुछ कमा लेते हैं' । यद्यपि अभी तक सारे देश में इसका प्रचार नहीं हुआ है, तथापि इसका महत्त्व बहुत अधिक है । इससे कम से कम दो आने रोज़ की आय हो सकती है; और भारत-वासियों की रोज़ की औसत आमदनी भी प्रायः इतनी ही है । विदेशी और भारतीय मिलों के सूत की प्रतियोगिता के कारण कताई की उन्नति में बहुत बाधा होती है । जब तक हाथ से सूत कातनेवाले लोग बारीक, मज़बूत और एक सा सूत कातकर बाज़ारों में न भेजने लगें, तब तक कपड़ा बुननेवाले लोग मिल का बुना हुआ सूत छोड़कर हाथ का कता हुआ सूत लेने की ओर प्रवृत्त नहीं किये जा सकते । तो भी हाथ से सूत कातने का काम बराबर बढ़ता जा रहा है; और यदि लोगों के मन में यह भाव बैठ जाय कि फिर

से हमें आत्मपूर्ण और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहिए, तो यह कताई का काम और भी अधिक बढ़ सकता है। पर इसे मिलों और लोगों की बदली हुई रुचि के साथ बहुत कड़ी प्रतियोगिता करनी पड़ेगी।

दूसरे कुटी-शिल्प केवल ऐसे ही स्थानों में चल सकते हैं जहाँ या तो यथेष्ट साधन हों और या खास तौर से होशियार कारीगर मिल सकते हों और जहाँ इन खास चीजों की अच्छी बिक्री हो सकती हो। एक ही तरह के ऐसे कुटी-शिल्प नहीं हो सकते जो जीवन की सभी अवस्थाओं के लिए उपयुक्त हों। परन्तु यह मुख्य बात ध्यान में रखनी चाहिए कि फुरसत का समय ऐसे उपयोगी कामों में लगे जिनसे परिवार की आय कुछ न कुछ बढ़ती रहे।

पुराने शिल्पियों की अवस्था—नगरों और कारखानों के नवीन आर्थिक जीवन के विकास का स्वरूप समझने और शिल्पियों के आर्थिक तथा नैतिक जीवन पर होनेवाला उसका प्रभाव जानने के लिए यह देख लेना भी आवश्यक है कि शिल्पों में कारीगरों या मजदूरों की क्या अवस्था है। आधुनिक शिल्प-कला का प्रचार होने से पहले यहाँ के मजदूरों का जो स्वरूप और अवस्था थी, अथवा इस समय गाँवों में ऐसा काम करनेवालों की जो अवस्था और स्वरूप है, वह आजकल के कारखानों में काम करनेवालों के स्वरूप और अवस्था से बिल्कुल ही भिन्न है। पुराने ढङ्ग के मजदूर आदि साधारणतः आर्थिक विषयों में बिल्कुल पुराने ढङ्ग का और सीधा-सादा जीवन व्यतीत करते थे। न तो वे अपनी आवश्यकताएँ ही बढ़ाते थे और न जल्दी-जल्दी अपना फैशन ही बदलते थे। वे अपने गाँव की बनी हुई चीजों से ही सन्तुष्ट रहते थे। गाँव ही उनके लिए एक बहुत बड़ा घर होता था और उसी में बनी हुई चीजें वे पसन्द या नापसन्द कर सकते थे। अब जो उन्हें हानि उठानी पड़ी है, उसका कारण यह नहीं है कि वे काम-धन्धा नहीं कर सकले या चीजें नहीं तैयार कर सकते, बल्कि उसका कारण यह है कि उनकी सम्पत्ति में बहुत से बाहरी लोग आकर हिस्सेदार बन गये हैं। उदाहरणार्थ, सरकार और उसके अफसर, मन्दिर और उनके पुजारी, जाति की पञ्चायत और साथ ही वे महाजन भी जो उनके अपव्यय के कारण उनके घर के धन में सम्मिलित

हो गये हैं। यदि वे लोग धार्मिक तथा सामाजिक विषयों में मिथ्या बातों पर उतना विश्वास न करते, जल्दी धोखे में न आते और कम खर्च करते, तो वे आर्थिक दृष्टि से बहुत ही सुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे; क्योंकि अबका सारा समय ठीक तरह से काम में लगा रहता।

उनके धर्म और समाज में जो नैतिक तथा सामाजिक अच्छी-अच्छी बातें बतलाई गई हैं और जो ऐसे वातावरण में अब तक भली भाँति रक्षित हैं, उनके कारण वे अब भी मद्यपान, दुराचार और जूए आदि ऐसे दुर्गुणों से बचे हुए हैं जो दुर्गुण उन लोगों में प्रचलित हैं जो पुरानी बातों पर विश्वास नहीं रखते और उनके प्रभाव से बाहर रहते हैं। सम्मिलित परिवार प्रथा और दृढ़ जातीय बन्धन तथा परम्परागत धार्मिक बातों के कारण उनमें लोक-नीति का एक विशेष भाव बना हुआ है और उनकी व्यक्तिगत तथा सामाजिक नीतिमत्ता अधिक उच्च कोटि की है।

नये शिल्पकार और मज़दूर—परन्तु आजकल शहरों और कारखानों में जो नये शिल्पकार और मज़दूर दिखाई देते हैं, वे कुछ और ही प्रकार के प्रभावों से प्रभावान्वित होते हैं। वे अपने सम्मिलित परिवार से बिलकुल अलग रहते हैं और उनमें पारस्परिक आदर तथा सहायता का भाव नहीं होता। न तो इन पर विशेष धार्मिक प्रभाव या बन्धन होता है और न जाति-पाँति आदि का सामाजिक प्रभाव ही। उनके पुराने बन्धन और सीमाएँ टूट जाती हैं और वे ऐसे नवीन जीवन के प्रलोभन में पड़ जाते हैं जिसमें कोई सामाजिक या धार्मिक नियन्त्रण नहीं होता। वहाँ गाँव के बड़े-बूढ़े, जाति-बिरादरी के लोग या पण्डित-पुरोहित आदि नहीं होते जो उनमें भय उत्पन्न करके उन्हें पुराने विचारों पर दृढ़ रख सकें। उन्हें नई परिस्थितियों में नये-नये आदमी और नये-नये आदर्श तथा स्थान मिलते हैं। वहाँ पुराना पारिवारिक जीवन नहीं रहता। वहाँ केवल चालों (मज़दूरों के रहने के बड़े-बड़े मकानों) या कारखानों का जीवन रहता है जिनमें भिन्न-भिन्न धर्मों, रीति-रवाजों और वासनाओं आदि के बहुत से काम करनेवाले एक साथ रहते हैं। उनमें जीवन-सम्बन्धी पुराने गुणों और महत्त्वों के प्रति परम्परागत आदर भाव नहीं रह जाता और वे ऐसे नवीन

जीवन तथा परिस्थितियों में प्रवेश करते हैं जिनमें या तो नया ज्ञान और या नया अज्ञान चारों ओर फैला रहता है। ऐसी परिस्थितियों में जीवन के प्रलोभन तथा दुर्गुण उन्हें आकृष्ट कर लेते हैं और एक निम्न कोटि का भौतिकवाद उन पर अधिकार कर लेता है। अधिक मजदूरी से इसमें और भी सहायता मिलती है, पर उस अधिक मजदूरी के साथ-साथ अधिक सुख या सम्य जीवन नहीं होता। यह ठीक है कि उन्हें नित्य बहुत अधिक समय तक काम करना पड़ता है, थोड़े से स्थान में बहुत से लोगों को मिलकर रहना पड़ता है, काफी हवा या रोशनी नहीं मिलती, उनकी थकावट बहुत होती है, उन्हें बराबर एक ही तरह का काम करना पड़ता है और उनकी शक्ति का क्षय बहुत होता है। परन्तु फिर भी परिणाम यही होता है कि वे प्रलोभनों में फँसकर निम्न कोटि का जीवन व्यतीत करने लगते हैं; और यदि उनके लिए उच्च कोटि की सामाजिक, धार्मिक तथा शिष्टा-सम्बन्धी परिस्थितियाँ न उत्पन्न की जायँ तो उनका निरन्तर पतन होता जाता है। जीवन के उच्च आदर्श ही उन्हें सत्य पर रख सकते हैं। नहीं तो इसका परिणाम नैतिक पतन ही होता है।

उनकी आय—गाँवों में काम करनेवाले मजदूरों की अपेक्षा शहरों और कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की आय बहुत अधिक होती है। हिसाब लगाया गया है कि बम्बई की कपड़ों की मिलों में उनकी औसत आय प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष १४१ रुपये होती है। परन्तु उसी पुराने और दुर्दशापूर्ण ढङ्ग से रहने पर भी उनका खर्च बहुत अधिक हो जाता है और उन्हें दूसरे शिल्पों में इतनी अधिक आय नहीं होती। इसलिए नवीन शिल्पकारों का जीवन तब तक आवश्यक रूप से सुखपूर्ण नहीं हो सकता, जब तक उन्हें रहने के लिए ऐसे उपयुक्त मकान आदि न दिये जायँ जिनमें वे नियन्त्रित पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सकें और उन्हें ऐसी शिष्टा न दी जाय जिससे वे अपना काम अच्छी तरह सीख सकें और ज्ञान तथा नीति की दृष्टि से अच्छा जीवन व्यतीत कर सकें। स्त्रियों और बच्चों की रक्षा होनी चाहिए और उन्हें शिष्टा दी जानी चाहिए। उनके लिए अस्पतालों और चिकित्सा आदि की व्यवस्था होनी चाहिए; ऐसे स्थान होने चाहिये जिनमें उनकी स्त्रियाँ बच्चे

जन सकें; उनके लिए बीमारी और बेकारी का बीमा होना चाहिए; कौआप-रेटिव स्टोर होने चाहिए; स्वास्थ्य-रक्षा और मनबहलाव के सब साधन होने चाहिए; और व्यापारी संघों से होनेवाले लाभ प्राप्त करने के साधन होने चाहिए। व्यापारिक नगरों में मजदूरों को जो गन्दा जीवन व्यतीत करना पड़ता है, वह मानवी कल्याण के लिए बहुत भयङ्कर है।

विज्ञान और मशीनों की सहायता से काम—इन सब विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी हमें स्वयं ही नये-नये उपायों का अवलम्बन करके अपने प्राकृतिक साधनों का विकास करना पड़ेगा। यदि हम ऐसा न करेंगे तो विदेशी लोग ये सब काम करेंगे; और इस समय भी करते ही हैं। इस समय जितने शिल्प और धन्धे चल रहे हैं, और वर्तमान आर्थिक तथा राजनीतिक अवस्थाओं में जो नये शिल्प तथा धन्धे चल सकते हैं, उनमें हमें अपनी वह सारी मानवी शक्ति लगा देनी चाहिए जो इस समय बेकार है। हमें विज्ञान और मशीनों आदि के विकास से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए जिसमें हमारी वह हानि पूरी हो जाय जो कृषि, शिल्प और व्यापार आदि के नष्ट होने से हुई है; हमारी बढ़ती हुई जन-संख्या का नवीन आवश्यकताओं के अनुसार निर्वाह हो सके और हम भली भाँति भौतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन व्यतीत कर सकें। आर्थिक सम्पन्नता का मतलब यही है कि जहाँ तक सम्भव हो, विज्ञान तथा मशीनों की सहायता से, और यदि आवश्यक अथवा अनिवार्य हो तो बिना उनकी सहायता के ही, हम बराबर काम करते रहें। आदमी को कभी निष्क्रमा और समाज के ऊपर भार बन-कर नहीं रहना चाहिए। उसकी उत्पादक शक्तियों को काम करने का स्थान देकर बराबर जाग्रत और रक्षित रखना चाहिए।

इसके सिवा कुछ और भी ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें वैज्ञानिक ढंग से काम करके लाभ उठाया जा सकता है। उदाहरणार्थ—जङ्गल, समुद्र से मछलियाँ पकड़ना, खानों से धातुएँ और दूसरे खनिज द्रव्य निकालना, जल-शक्ति का उपयोग, बालू, नमक, मिट्टी आदि। देश का आर्थिक भविष्य उज्ज्वल करने के लिए विज्ञान और मशीनों का प्रयोग करना चाहिए; नये-नये शिल्प सीखने चाहिए

और उनके लिए संस्थाएँ तथा संघ आदि खोलने चाहिएँ। बिना उनके यह काम हो ही नहीं सकता। नीति और ज्ञान की दृष्टि से अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए इन्हीं सब बातों की आवश्यकता है।

भारतीय शिल्पी जीवन की श्रेणियाँ—बहुत आरम्भिक काल से ही भारत का शिल्प-सम्बन्धी जीवन अनेक भिन्न-भिन्न रूप धारण करता और श्रेणियाँ पार करता आया है। ये सब रूप या श्रेणियाँ इस प्रकार विभक्त की जा सकती हैं—

१—जिस समय कृषि-विद्या का पहले-पहल विकास हुआ था, उस समय लोग अपने घर और गाँव में रहकर ही अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी कर लिया करते थे। उस समय गृह और ग्राम्य-जीवन था।

२—इसके बाद ग्राम्य और नागरिक आर्थिक जीवन उस समय आरम्भ हुआ, जब छोटे-छोटे शिल्पों का विकास हुआ, एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने में कुछ सुभीता हुआ और लोग घूम-घूमकर या दूकानें लगाकर चीजें बेचने लगे।

३—इसके बाद उस समय राष्ट्रीय आर्थिक जीवन का आरम्भ हुआ, जब बहुत सी सड़कें और गाड़ियाँ आदि बन गईं, खास-खास जगहों में खास-खास तरह की और अच्छी तथा अधिक चीजें तैयार होने लगीं और व्यापारियों को यह निश्चय हो गया कि दिसावरों को माल भेजने में कोई जोखिम नहीं है।

४—इसके बाद आधुनिक काल से पहले सार्वराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली प्रचलित हुई, जब देशों में परस्पर संस्कृति, राजनीति और व्यापार आदि का सम्बन्ध स्थापित हुआ और धार्मिक, राजनीतिक तथा लौकिक आवश्यकताओं के अनुसार उनका प्रचलन हुआ।

५—अब आधुनिक काल की सार्वराष्ट्रीय प्रणाली प्रचलित है जो मशीनें और विज्ञान-सम्बन्धी आविष्कारों पर निर्भर करती है और जिसमें इन आविष्कारों की सहायता से चीजें तैयार की जाती हैं, जल तथा स्थल मार्ग से सहज में तथा रचित रूप से एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजी जाती हैं और भौतिक जीवन के नवीन आदर्श स्थापित हुए हैं।

आधुनिक शिल्पवाद—आजकल का शिल्पवाद बड़ी-बड़ी कम्पनियों और संघों आदि का संघटन करके बहुत अधिक माल तैयार करने पर निर्भर करता है। लोग अलग-अलग कोई चीज़ तैयार नहीं करते। बहुत से आदमी मिलकर बहुत सी चीज़ें तैयार करते हैं। संसार भर के बाज़ारों पर अपना अधिकार करने और उनमें अपना माल बेचने और दूसरों से प्रति-योगिता करने के लिए मशीनों की सहायता से बहुत से आदमी मिलकर माल तैयार करते हैं। इसमें अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूर बिलकुल नगण्य होते हैं और उनका हित तथा कल्याण, कार-बार की सम्पन्नता और उन्नति में निमग्न हो जाता है। वे अपने-अपने शिल्प-संघ स्थापित करके एक ऐसे संसार में अपनी आर्थिक दशा सुधारना चाहते हैं जिसमें प्रति-योगिता और संघर्ष बहुत अधिक है, जिसमें यह नियम प्रचलित है कि माल की खपत माल तैयार होने पर निर्भर करती है, और जो आदमी जितना माल चाहे, उतना तैयार करके यहाँ बेच सकता है। इस शिल्पवाद ने बहुत सी ऐसी बुराईयाँ पैदा कर दी हैं जिनका मज़दूरों पर, उनकी सम्पत्ति और कल्याण पर, बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और जिनसे शिल्प-संघ उनकी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। शिल्प-संघ ऐसे शिल्पियों का संघ होता है जो अपने आर्थिक हितों की रक्षा करना चाहते हैं और ऐसी व्यवस्था करते हैं कि जब कोई शिल्पी या मज़दूर बीमार पड़े, बुढ़ा हो, काम करने के लायक न रह जाय या बेकार हो जाय, तो उसकी देख-रेख हो। इन संघों की उत्पत्ति उस समय हुई जब मज़दूरों ने मिलकर मालिकों से अधिक वेतन प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ किया और अपनी माँग पर दृढ़ रहने लगे और अपनी माँगों मालिकों के सामने अच्छी तरह रखने लगे और साथ ही साथ अपने हित तथा लाभ का भी पूरा-पूरा ध्यान रखने लगे। जिस समय मालिकों के साथ किसी तरह का झगड़ा होता है, उस समय ये लोग हड़ताल और बहिष्कार आदि अस्त्रों का प्रयोग करते हैं।

भारत में शिल्प-संघ—सन् १९१८ से बड़ी-बड़ी कठिनाईयाँ झेलकर भारत में शिल्प या व्यापार-संघ स्थापित होने लगे हैं। भारत में कारखानों

और खानों आदि के सम्बन्ध में जो कानून है, उसके अन्तर्गत काम करनेवालों की संख्या लगभग २० लाख है जिनमें से २५०००० आदमी शिल्प-संघों में सम्मिलित हैं। अभी तक शिल्प-संघों की संख्या अधिक नहीं हुई है। भारत में इस प्रकार के ८ बड़े या महान् संघ और १६७ छोटे संघ हैं। सन् १९२० में इन सबने मिलकर एक अखिल-भारतीय-व्यापार-संघ या कांग्रेस की स्थापना की थी जिसमें सन् १९२६ में ५२ संघ सम्मिलित थे जिनके सदस्यों की संख्या १२५००० थी। इसके उद्देश्य इस प्रकार हैं—

१—कारखानों और खानों में नित्य आठ घण्टे से अधिक किसी से काम न लिया जाय।

२—प्रारम्भिक और शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा मुक्त और अनिवार्य हो।

३—बीमारी, बुढ़ापे और बेकारी के लिए राष्ट्रीय बीमा हो।

४—ज़मीन के नीचे खानों के अन्दर स्त्रियों से काम न लिया जाया करे, कारखानों के लिए अधिक संख्या में स्त्रियाँ निरीक्षक नियुक्त हों, कारखानों के पास ऐसे स्थान बनें जिनमें काम करनेवाली स्त्रियों के छोटे-छोटे बच्चे रह सकें और प्रसव तथा प्रसूताओं का विशेष प्रबन्ध हो।

५—वेतन की ऐसी सीमा नियत हो जाय जिससे कम वेतन किसी को न मिले।

६—ऐसा कानून बन जाय जो कारखानेदारों और मजदूरों में झगड़ा होने पर आपस में समझौता करा सके और झगड़ा आगे बढ़ने न दे।

७—लेजिस्लेटिव काउंसिलों या धारा-सभाओं में मजदूरों के प्रतिनिधि भी रहा करें।

८—समस्त वयस्कों को निर्वाचन आदि के लिए मत देने का अधिकार हो।

९—भारत में स्वराज्य स्थापित हो और आगे बराबर भारतवासियों को ही सरकारी नौकरियाँ मिला करें।

१०—मजदूरों को हरजाना देने के सम्बन्ध में जो कानून है, उसमें सुधार किया जाय।

ये इस बात का भी समर्थन करते हैं कि शराब की बिक्री, जूआ तथा दूसरे दुर्व्यसन बन्द किये जायँ ।

सन् १९२६ में एक ट्रेड यूनियन एक्ट बना था जिसके द्वारा ये शिल्प-संघ (Trade Unions) क़ानूनी और मान्य हो गये हैं । हड़ताल के समय मज़दूर लोग बराबर अपना संघटन बढ़ाते चलते हैं और अपनी एकता हड़तापूर्वक स्थापित करते चलते हैं ।

मज़दूरों की वर्तमान अवस्था—लोगों के निजी उद्योग से तथा सरकारी क़ानून बन जाने से मज़दूरों की अवस्था एक सीमा तक सुधर गई है । कुछ स्थानों में कारख़ानेदारों ने मज़दूरों के लिए अच्छे मक़ानों, स्वास्थ्य-रक्षा, स्त्रियों के प्रसव तथा बालकों के हित के लिए कुछ व्यवस्थाएँ कर दी हैं । सन् १९२२ के फ़ैक्टरी एक्ट के अनुसार निश्चय हो गया है कि किसी से प्रति सप्ताह ६० घण्टों से अधिक काम न लिया जाय, १२ वर्ष से कम अवस्था के बच्चे कारख़ानों में काम न करने पावें, स्त्रियों को रात के समय काम न करना पड़े इत्यादि । सन् १९२३ के खानोंवाले क़ानून (Mines Act) के अनुसार निश्चय हुआ है कि १३ वर्ष से कम अवस्था के बालकों से खानों में काम न लिया जाय और वे ज़मीन के नीचे खान के अन्दर न भेजे जाया करें; ज़मीन के ऊपर किसी से प्रति सप्ताह ६० घण्टे से अधिक काम न लिया जाया करे; ज़मीन के नीचे १४ घण्टे से अधिक काम न लिया जाय और प्रति सप्ताह एक दिन की छुट्टी हुआ करे । ज़मीन के नीचे खानों में स्त्रियों के काम करने के सम्बन्ध में भी कुछ नियम बने हैं । कभी-कभी जो दुर्घटनाएँ हो जाया करती हैं, उनके लिए पीड़ितों को हरजाना दिलाने के सम्बन्ध में भी सन् १९२३ में एक क़ानून बन गया है जो The Workmen's Compensation Act कहलाता है । सन् १९२६ का ट्रेड यूनियन्स एक्ट (Trade Unions' Act) ट्रेड यूनियनों और उनके हितों तथा कार्यवाहियों का नियन्त्रण करता है । यह देखने के लिए कि सब जगह फ़ैक्टरी एक्ट के अनुसार ठीक-ठीक काम होता है या नहीं, कुछ खास तौर पर शिक्षित आदमी अलग नियुक्त किये गये हैं ।

सन् १६२५ में कारखानों की संख्या ६२६६ थी और उनमें १४६४६५८ आदमी काम करते थे। खानों में काम करनेवालों की संख्या २५३८५७ थी।

(४) मज़दूरों का विदेश जाना

इसके लाभ और शर्तें—दरिद्रता, बेकारी और जन-संख्या की वृद्धि के कारण किसी देश में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें कम करने के लिए कुछ लोग ऐसे दूसरे देशों और उपनिवेशों में चले जाते हैं जहाँ आबादी कम होती है, जहाँ सहज में जीविका उपार्जन हो सकता है, और जहाँ भौतिक साधन बहुत अधिक होते तथा सहज में काम में लाये जा सकते हैं। यूरोप के देशों से और विशेषतः स्पेन, पुर्तगाल, इंग्लैंड और फ्रांस से पहले इस प्रकार बहुत से लोग दूसरे देशों में जाकर बसा करते थे; क्योंकि इन्हीं देशवालों ने संसार के ऐसे अनेक भागों पर अधिकार किया और उनमें उपनिवेश स्थापित किये थे जिनमें आबादी कम थी और जहाँ पिछड़ी हुई जातियाँ खानाबदोशों का या बिल्कुल आरम्भिक काल का जीवन व्यतीत करती थीं। जहाँ-जहाँ उपनिवेश स्थापित हो सकते थे, वहाँ-वहाँ इन लोगों ने अपना अधिकार कर लिया है और वे अपने हितों की रक्षा और वृद्धि के लिए या तो और लोगों को उन देशों में आकर बसने से रोकते हैं और या उन पर कानूनी नियन्त्रण रखते हैं। वे एशियावालों को उन देशों में घुसने नहीं देते। इसी लिए लोगों के जाकर बसने का यह औपनिवेशिक क्षेत्र बहुत कुछ बन्द हो गया है। जब पहले-पहल उपनिवेश जीते गये थे और उनमें बस्ती बसाई गई थी और जब इस नीति का अवलम्बन नहीं किया गया था कि उनमें केवल गोरे ही बस सकेंगे, तब अफ्रीका और एशिया के बहुत से मज़दूर गुलाम बनाकर या शर्तबन्द कराकर वहाँ पहुँचाये गये थे, जिसमें नये या पुराने जीते हुए महादेशों में बस्ती बसाकर वहाँ के विस्तृत प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया जा सके। परन्तु अब उन प्राकृतिक साधनों से बहुत कुछ लाभ उठाया जा चुका है, वे बहुत कम हो चले हैं, वहाँ गोरों की आबादी बहुत बढ़ गई है और स्थायी रूप से

वहीं बस गई है, तथा कृषि, शिल्प और व्यापार-सम्बन्धी कुछ विशेष सुभीते हो गये हैं; इसलिए वे गोरे अब यह नहीं चाहते कि हमारे अतिरिक्त और किसी वर्ण के मज़दूर वहाँ जाकर बसें। इसके विपरीत जातीय, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारणों से वे लोग उन उपनिवेशों में बसे हुए अन्य वर्णवालों के साथ घृणा करने लगे हैं। जिन लोगों को उन्होंने पहले स्वयं ही वहाँ बुलाया था और जिन्होंने उस देश के विकास में सहायता दी थी, उन्हीं को वे अब वहाँ से निकाल बाहर करना चाहते हैं। उन्होंने ऐसे क़ानून बनाये हैं जिनसे और लोगों का वहाँ पहुँचना बन्द हो; जो लोग वहाँ मौजूद हैं, वे अलग और ख़राब स्थानों में रहे और अपने-अपने देश को वापस लौटा दिये जायँ; और उनकी सन्तानों के लिए उन उपनिवेशों में रहना असम्भव और परम कष्टपूर्ण कर रहे हैं। विशेषतः ब्रिटिश उपनिवेशों में, जिनकी संख्या संसार में अपेक्षाकृत अधिक है, इस नीति का और भी अधिक अवलम्बन किया जाता है।

इस समय भिन्न-भिन्न उपनिवेशों के देशों और टापुओं में करीब १५ लाख भारतीय बसे हुए हैं जिन्हें बहुत कुछ विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। वकील, डाक्टर, पुरोहित या धर्म-प्रचारक की हैसियत से तो भारतवासियों का वहाँ पहुँचना दूर रहा, वे व्यापारियों, मज़दूरों और कुशल कारीगरों की हैसियत से भी वहाँ नहीं घुसने दिये जाते। वहाँ उन्हें नागरिकता के छोटे से छोटे और आरम्भिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। वे लोग निर्वाचन में मत नहीं दे सकते, ज़मीन नहीं ख़रीद सकते, व्यापार नहीं कर सकते, सबसे अलग रखे जाते हैं और उनके साथ बिलकुल अलग तरह का और बुरा व्यवहार किया जाता है।

केनिया, टैंगानिका, र्होडेसिया, उगण्डा और फ़ीजी आदि ऐसे क़ाउन उपनिवेश हैं, जिनमें भारतवासी बस गये हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण अफ़्रीका और स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेश आदि भी हैं जिनमें भारतवासी बसे हैं। परन्तु भारतवासियों के लिए ये दोनों ही प्रकार के उपनिवेश प्रायः एक समान हैं। वहाँ भारतवासियों के साथ जो अनुचित और कठोर व्यवहार होता

है और आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उनकी जो दुर्दशा है, वह इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि यहाँ उसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

बहुत ही थोड़ा क्षेत्र और स्वतन्त्रता—जिन भारतवासियों को अपने देश में कोई काम नहीं मिलता, उनके लिए विदेश में जाकर बसने और काम करने के लिए बहुत ही थोड़ा क्षेत्र है। यदि उपनिवेशों में बसने-वाले भारतवासियों की आर्थिक तथा राजनीतिक अवस्था सुधर भी जाय, तो कम से कम और नये आदमी तो उन उपनिवेशों में जाकर किसी प्रकार बस ही नहीं सकते। इसी लिए कहा जाता है कि आर्थिक दृष्टि से अब भारत-वासियों का दूसरे देशों में जाकर बसना असम्भव है। यद्यपि भारत भी ब्रिटिश साम्राज्य का एक अङ्ग है, तथापि भारतवासियों को ब्रिटिश साम्राज्य में नागरिकता का समान अधिकार प्राप्त नहीं है। दूसरे देश और उपनिवेश भी ब्रिटिश साम्राज्य का ही अनुकरण करते हैं। उन देशों में भी न तो भारत-वासी जा ही सकते हैं और न वहाँ बसे हुए सुख से रहकर अपनी उन्नति कर सकते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भारत का किसी देश पर जोर या दबाव नहीं पहुँचता; और सार्वराष्ट्रीय या औपनिवेशिक नीति में भारत के अधिकारों की उपेक्षा की जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि संसार में अनेक ऐसे बड़े-बड़े स्थान हैं जिनमें केवल भारतवासी, चीनी या इसी प्रकार की और जातियाँ ही बस सकती हैं; और वे स्थान युरोपियनों के बसने योग्य नहीं हैं; परन्तु फिर भी वहाँ थोड़े से अँगरेज अपना पूरा अधिकार जमाये हुए हैं; और चाहे उन देशों को वे स्वयं न आबाद कर सकते हों, परन्तु फिर भी उन खाली जगहों में भी वे हिन्दुस्तानियों या चीनियों आदि को नहीं बसने देते। यह समस्या भी सारे संसार पर युरोप के प्रभुत्ववाली समस्या का ही एक अङ्ग है।

(५) व्यापार और व्यवसाय

व्यापार का आरम्भ—ज्योंही कुछ खास तरह की या किसी खास स्थान पर कुछ चीजें बनने लगती हैं और लोगों अथवा दलों में उन

चीजों का परस्पर विनिमय या क्रय-विक्रय आरम्भ होता है, त्योही व्यापार का भी आरम्भ होता है। आरम्भ में मनुष्यों के छोटे-छोटे समूह या दल अपनी आवश्यकता की सब चीजें आप ही बना लिया करते थे। पर ज्योंही दूसरों के हाथ की तैयार की हुई चीजों की आवश्यकता होने लगी, त्योही उनका यह स्वरूप नष्ट हो गया। भारत में बहुत आरम्भिक काल से ही गाँवों में, गाँवों और शहरों में तथा देश के भिन्न-भिन्न भागों में परस्पर व्यापार हुआ करता था। जब आने-जाने के सहज और रक्षित मार्ग बन जाते हैं, तब लोगों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित होने लगता है और देश के ऐसे भिन्न-भिन्न भागों में परस्पर व्यापार आरम्भ हो जाता है, जो ऐसी चीजें तैयार करते हैं जो दूसरी जगहों में तैयार नहीं होतीं और जब कि लोगों में नई-नई आवश्यकताएँ और नई-नई रुचियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। अतः व्यापार के लिए मुख्यतः नीचे लिखी बातों की आवश्यकता होती है—

१—ऐसे सस्ते माल की विशेष माँग जो अपने घर के आस-पास नहीं बनता या नहीं मिलता।

२—आने-जाने के सहज और रक्षित मार्ग।

३—चीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने के साधन।

४—नई-नई रुचियाँ और जीवन की नई-नई आवश्यकताएँ।

५—व्यापारियों का एक वर्ग।

उसका उन्नत स्वरूप; हिन्दू-काल—जब भिन्न-भिन्न कलाओं और शिल्पों के जल्दी-जल्दी होनेवाले विकास से लोग सब कोटि का जीवन व्यतीत करने लगे, स्थल और समुद्र के द्वारा आने-जाने के सुगम मार्ग बन गये, दुलाई के अनेक प्रकार के साधन प्रस्तुत हो गये और व्यापारियों का एक वर्ग बन गया, तब भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भी और दूसरे भागों के साथ भी व्यापार होने और बढ़ने लगा। भारत में बहुत सी खास तरह की ऐसी बड़िया और सस्ती चीजें बनती थीं जो और स्थानों में सहज में नहीं मिलती थीं या बिलकुल नहीं मिलती थीं; और ऐसी चीजों की बहुत अधिक माँग बनी रहती थी; इसलिए देश के आन्तरिक व्यापार के साथ ही साथ विदेशों के

साथ भी व्यापार होने लगा। वैदिक-काल में भारत के पणी लोग और उनके उपरान्त मध्यवर्ती तथा आधुनिक काल में वणी या वणिक् लोग व्यापार करने के लिए प्रसिद्ध थे। भारत के बने हुए मूल्यवान् पदार्थ स्थल और समुद्र के मार्ग से पश्चिम, उत्तर और पूरब के दूर-दूर के देशों और टापुओं में जाया करते थे। इन व्यापारियों के संघ या पञ्चायतें हुआ करती थीं जो अपने व्यापार का संवटन, रक्षण और विकास किया करती थीं, स्वयं आने-जाने और माल ले आने ले जाने के मार्गों की व्यवस्था करती थीं और पदार्थों के मूल्य, तैल, नाप और भेजने के स्थान आदि नियत किया करती थीं। उनके माल पश्चिम में एशिया और यूरोप तक, उत्तर में एशिया तक और पूरब में समुद्री टापुओं तक जाया करते थे। विदेशों में उनके उपनिवेश तथा व्यापारिक गोदाम स्थापित थे। व्यापार के लिए उनकी जल तथा स्थल यात्रा का इतिहास बहुत ही मनोरञ्जक तथा साहसपूर्ण है। वे अनेक प्रकार के जहाज़ बनाया करते थे, उनमें अनेक प्रकार की उपयोगी तथा मूल्यवान् वस्तुएँ भरते थे, समुद्री आरतियों और डाकुओं का मुकाबला करते हुए अपने उद्दिष्ट स्थान तक पहुँचते थे, वहाँ अपना माल बेचते थे, वहाँ से नई-नई चीजें खरीदते थे और खूब नफ़ा कमाकर अपने देश को लौटते थे। वैदिक-काल से लेकर बराबर तीस शताब्दियों का उनका व्यापार निरन्तर और अबोध रूप से होता था। वे बहुत आरम्भिक काल से ही मिस्र तथा बैबिलोनिया, असीरिया, खाल्डिया, फ़िनीशिया, रोमन साम्राज्य, फ़ारस और अरब आदि एशिया के देशों के साथ व्यापार करते थे। उन दिनों मालों और सामानों का बहुत अधिक विनिमय हुआ करता था। पश्चिमी देशों के साथ भारत के व्यापार करने के तीन मार्ग थे। उनमें से पहला मार्ग सिन्धु नद से हिन्दूकुश पर्वत, वज्र नद और कृष्ण सागर से होता हुआ कैस्पियन समुद्र तक जाता था। दूसरा मार्ग समुद्र से फ़ारस की खाड़ी तक जाता था और वहाँ से स्थल द्वारा मेसोपोटामिया और सीरिया होता हुआ मिस्र तक जाता था। तीसरा समुद्र के द्वारा लोहित सागर से होता हुआ भूमध्य सागर तक जाता था। व्यापारी लोग बराबर इन तीनों मार्गों से आया-जाया करते थे। भारत से सूती,

ऊनी और रेशमी कपड़े, बहुमूल्य रत्न और धातुएँ, मोती, मसाले, सुगन्धित द्रव्य, हाथी-दाँत, नील, लकड़ी आदि पदार्थ दूसरे देशों को भेजे जाते थे। पश्चिमी और पूर्वी समुद्र-तट पर बहुत से बन्दरगाह थे, जहाँ से बराबर जहाज़ आते-जाते रहते थे। इनमें से पाटल, देवलदेव, खम्भात, भरुकच्छ, शूर्पा-रक, थाना, कालीकट, मुजिरिस, लङ्का, कावेरीपट्टम्, मसुलीपट्टम् और ताम्र-लिप्त बहुत प्रसिद्ध हैं। मौर्य-काल में राज्य की ओर से ऐसे निरीक्षक या अध्यक्ष नियुक्त हुआ करते थे जो जहाज़ों, बन्दरगाहों और व्यापार की देख-रेख किया करते थे, उनकी रक्षा और नियन्त्रण करते थे और बाहर से आने तथा यहाँ से बाहर जानेवाले माल, यात्रियों, जहाज़ों और सबसे निर्धारित चुङ्गी या राजकर वसूल किया करते थे।

जब पूर्वी समुद्र के द्वीपपुञ्जों में भारत के उपनिवेश स्थापित हो गये, तब उनके साथ-साथ जावा, सुमात्रा, मलाया, कम्बोडिया, बोर्नियो और बरमा आदि के साथ भारत का समुद्री व्यापार भी बढ़ा और इन स्थानों में भी बहुत से भारतवासी जाकर बस गये।

मुस्लिम-काल—मुसलमानों के राजत्व-काल में भी विदेशों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा। उस समय प्रायः अरब लोग यह विदेशी व्यापार किया करते थे। सिन्ध, देवल (गुजरात), भड़ौच और सूरत (महाराष्ट्र), चोल, थाना और ढाबोल (मालाबार), कालीकट (कारो-मण्डल), कायाल (कलिङ्ग), मसलीपट्टम् और ढाका (बङ्गाल) में बहुत से बन्दरगाह थे, जहाँ से भिन्न-भिन्न चीज़ों का आयात और निर्यात हुआ करता था। साधारणतः सूती और ऊनी कपड़े, बहुमूल्य रत्न, मसाले, मोती तथा इसी प्रकार के और बहुत से दूसरे पदार्थ यहाँ से विदेशों को भेजे जाया करते थे।

अकबर ने जहाज़ बनाने की विद्या की बहुत अधिक उन्नति की थी और इस काम की देख-रेख के लिए एक अलग विभाग स्थापित किया था।

युरोपियन—इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों और टापुओं के साथ भारत का समुद्री व्यापार बराबर हुआ करता था। आगे चलकर १५ वीं शताब्दी

के बाद पश्चिमी युरोपियन राष्ट्रों की जल-शक्ति का उत्थान हुआ। उन लोगों ने श्रम व्यापारियों को नष्ट कर दिया। पुर्तगालियों, डचों, फ्रान्सीसियों और अँगरेजों ने क्रमशः भारत में अपना प्रभाव और व्यापार बढ़ाया। पहले तो उन लोगों ने फैक्टरियाँ या कारखाने स्थापित किये; तब अपनी राजनीतिक शक्ति की स्थापना की और भारत का विदेशी व्यापार अपने हाथ में किया। नये-नये बन्दरगाह बनने लगे। गोआ, बम्बई, सीलोन, मद्रास, कलकत्ता तथा दूसरे स्थान धीरे-धीरे व्यापार के बड़े केन्द्र और बन्दरगाह बन गये। जहाज चलाने का काम और व्यापार दोनों ही उनके हाथों में चले गये। बाद में जब इन्जिन से चलनेवाले जहाजों का विकास हुआ और देश में सामरिक कार्यों के लिए नई-नई सड़कें, जल-प्रणालियाँ और रेलें आदि बनीं, तब भारत में युरोपियनों का व्यापार बहुत बढ़ हो गया। ब्रिटिश शासन-काल में उन लोगों की मशीनों से बनाई हुई चीजें भारत में अधिकता से बिकने लगीं और उनके व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वेज़ की नहर बन जाने और मिस्र पर अँगरेजों का अधिकार स्थापित हो जाने से इस काम में बहुत सहायता मिली। इन सब साधनों और उपायों से भारत के साथ युरोपियनों का व्यापार बहुत बढ़ गया। पर अँगरेजों ने जिन उपायों का अवलम्बन किया, उनका परिणाम प्रायः यही हुआ कि भारत में अँगरेजों का तैयार किया हुआ माल बहुत अधिकता से आने लगा और यहाँ से कच्चा माल तथा बहुमूल्य धातुएँ बाहर जाने लगीं। अँगरेजों के तैयार किये हुए माल को इस देश में सुभीते के साथ लाने और बेचने के लिए अनेक प्रकार के करों और रेलों आदि की व्यवस्था की गई; अनेक प्रकार के बन्धन और रुकावटें लगाई गईं; समुद्री व्यापार पर चुक्री बैठाई गई; तथा इसी प्रकार के और बहुत से नियम आदि बनाये गये। भारत एक बहुत बड़ा खरीदार या ग्राहक माना जाने लगा। उसके शिल्प आदि रोकें और नष्ट किये गये। भारतीय शिल्प की उन्नति के लिए न तो सरकार की ओर से कोई सहायता मिली और न इस प्रकार का और कोई काम हुआ। यहाँ का अधिकांश व्यापार युरोपियनों के हाथ में है जो रेलों और जहाजों तथा उनके किरायों आदि पर अपना नि-

यन्त्रण रखते हैं; और बन्दरगाहों, नदियों तथा व्यापारिक महत्त्व की और सभी चीजों पर अपना पूरा-पूरा अधिकार रखते हैं । इस देश की सरकार अधिकतर उन्हीं लोगों के हितों का ध्यान रखती है । उनके प्रति इस प्रकार के कृपापूर्ण व्यवहार का एक बहुत ही स्पष्ट तथा उज्ज्वल उदाहरण सूती माल पर का वह कर है जो सरकार ने भारतवासियों की इच्छा के बिलकुल विरुद्ध और लंकाशायर के सूती माल के व्यापार के लाभ के लिए लगाया था । माल लाने और ले जानेवाले सब जहाजों की व्यवस्था पूर्ण रूप से इंग्लैंड के ही हाथ में है जिससे भारत को प्रायः पचास करोड़ रुपयों का घाटा होता है ।

बैंक का काम या महाजनी—भारत में बैंक या महाजनी का काम बहुत प्राचीन काल से होता चला आया है । पहले यहाँ के महाजन और उनकी कोठियाँ ही अपने देशवासियों को देश में व्यापार करने के लिए और आवश्यकता पड़ने पर शासकों को भी ऋण दिया करती थीं । आजकल भी देश के बहुत बड़े भीतरी व्यापार में इन्हीं देशी महाजनों से बहुत बड़ी सहायता मिलती है । व्यापारियों को अपने नित्य-प्रति के कारबार में और विशेषतः बाज़ार चलने पर और विशेष आवश्यकता होने पर उन महाजनों के दिये हुए ऋण और हुण्डियों आदि से बहुत बड़ी सहायता मिलती है । इस देश का आन्तरिक या भीतरी व्यापार प्रति वर्ष लगभग २००० करोड़ रुपये का होता है और यह इतना बड़ा व्यापार बिना उनकी सहायता के नहीं चल सकता । हाँ, विदेशी व्यापार पर, जो प्रति वर्ष प्रायः ४०० करोड़ रुपयों का होता है, युरोपियन महाजनों और बैंकों का पूरा-पूरा अधिकार है और उसमें वही अपना धन लगाते हैं । वे लोग केवल युरोपियन व्यापार को ही सहायता और प्रोत्साहन देते हैं, न कि देशी व्यापार या व्यापारी को । विदेशी व्यापार में धन लगाने के लाभदायक काम से ये बैंक प्रति वर्ष प्रायः ३० करोड़ रुपये कमाते हैं । भारत का इंपीरियल बैंक, जिसका नियन्त्रण सरकारी क़ानून के अनुसार होता है, प्रायः युरोपियनों के ही हाथ में है । इस देश की सार्वजनिक संस्थाएँ और व्यक्ति उसमें अपना जो धन जमा करते हैं, उस सबका उपयोग बहुधा उन्हीं युरोपियनों को लाभ पहुँचाने में किया जाता है ।

यहाँ की बीमा कंपनियाँ भी प्रायः विदेशी ही हैं और वे भी अपनी बहुत बड़ी पूँजी विदेशियों को ही लाभ पहुँचाने में लगाती हैं और उन्हें प्रति वर्ष प्रायः २० करोड़ रुपया नफ़ा होता है। इस प्रकार यद्यपि भारत का विदेशी तथा आन्तरिक व्यापार बहुत बढ़ा है, पर फिर भी उन पर विदेशियों का ही नियन्त्रण है जो अनेक प्रकार से बहुत अधिक लाभ उठाते हैं। भारतवासियों को प्रति वर्ष जहाज़ों, रेलों, बंकों और बीमे आदि के कारण बहुत बड़ा घाटा उठाना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार, महाजनी बीमे और गमनागमन के साधनों से सम्बन्ध रखनेवाले अंकों से भारतीय व्यापार की वर्तमान अवस्था समझने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

निर्यात—सन् १९२५-२६ में यहाँ से सब मिलाकर मोटे हिसाब से ४०० करोड़ रुपयों का माल विदेशों को भेजा गया था।

आयात—सन् १९२५-२६ में इस देश में सब मिलाकर लगभग २४० करोड़ रुपयों का माल बाहर से आया था।

सन् १९२५-२६ में भारत का समुद्री विदेशी व्यापार ६४० करोड़ रुपयों का था।

आयात की मुख्य-मुख्य वस्तुएँ

सन् १९२५-२६

सूती माल	प्रति सैकड़े २६
लोहा और फैलाद
मशीनें
चीनी
रेलों का सामान
चाकू, कैंची आदि
खनिज तेल
दूसरे पदार्थ

कुल १००

निर्यात की मुख्य-मुख्य वस्तुएँ

१९२५-२६

जूट या पटसन, कच्चा और तैयार किया हुआ	प्रति सैकड़ा २६
रुई और सूत आदि	... २८
अनाज	... १३
बीज	... ८
चाय	... ७
चमड़ा और खाल	... २
दूसरे पदार्थ	... १६
	<hr/>
	कुल १००

वर्ष	आयात करोड़ रुपये	निर्यात करोड़ रुपये	दोबारा बाहर जानेवाले माल को छोड़कर योग
१९१३-१४	१८३	२४४	४२७
१९१६-२०	१०१	१६८	२६९
१९२०-२१	१४२	१७२	३१४
१९२१-२२	१२४	१८२	३०६
१९२२-२३	१३८	२१४	३५२
१९२३-२४	१२०	२४०	३६०
१९२४-२५	१३७	२५०	३८७
१९२५-२६	१४३	२४६	३८९

सन् १९२७ में भारत में सब मिलाकर ३६०४८ मील रेलें थीं और उनमें अब तक कुल ७८८.६७ करोड़ रुपये लग चुका है। इसमें वह व्यय भी सम्मिलित है जो कुछ लाइनों को फिर से बनाने में लगा है।

सन् १९०५ में भारत सरकार ने एक व्यापार और शिल्प-विभाग स्थापित किया था और उसका अधिकार अपनी कार्यकारिणी सभा या काउंसिल के

एक सदस्य को सौंपा था। इसके अतिरिक्त एक प्रधान निरीक्षक या डाइरेक्टर-जनरल भी है जो इस व्यापार-विभाग का सब काम करता है। परन्तु व्यापार, टकसाल और विनिमय आदि के सम्बन्ध में भारत सरकार की जो नीति है, वह भारतीय व्यापार और शिल्प के विकास के लिए कुछ भी सहायक या काम की नहीं है। टकसाल या सिक्कों और विनिमय आदि के सम्बन्ध में वह जान-बूझकर भूटे और कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करती है जो भारत की आर्थिक सम्पन्नता के लिए बहुत ही घातक है। उससे विदेशी हितों को ही सहायता पहुँची है। इसका फल यह हुआ है कि भारत एक ऋणी देश हो गया है। उस पर १००० करोड़ रुपये से भी अधिक ऋण चढ़ गया है। इसमें तीन चौथाई ऋण ऐसा है जो उत्पादक या लाभदायक है और एक चौथाई ऐसा है जो अनुत्पादक और निरर्थक है। यहाँ से जो चीजें या बहुमूल्य धातुएँ आदि बाहर जाती हैं, उनकी अपेक्षा कम चीजें इस देश में आती हैं। अँगरेजों के राजकीय तथा सैनिक शासन का बहुत बड़ा व्यय चुकाने, अपने ऋणों का सूद देने और पेंशनें तथा भत्ते आदि देने में ही भारत का बहुत सा धन निकल जाता है। इसके अतिरिक्त युरोपियन व्यापारी लोग शिल्प और व्यापार से भी बहुत बड़ा लाभ उठाते हैं और इस रूप में भी भारत का बहुत अधिक धन बाहर चला जाता है। व्यापार और शिल्प में युरोपियनों को जो प्रति वर्ष लगभग १०० करोड़ रुपये का लाभ होता है, यदि उसे छोड़ दें तो भी ऊपर बतलाई हुई मर्दों में भारत का प्रति वर्ष प्रायः ४० करोड़ रुपया व्यय होता है। इस प्रकार प्रति वर्ष भारत से इतनी बड़ी रकम निकल जाती है और उसके बदले में उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। न तो उसके शिल्प और व्यापार की ही उन्नति होती है और न राजनीतिक उन्नति ही होती है। इससे यहाँ के निवासी दिन पर दिन बहुत अधिक दरिद्र होते जा रहे हैं; क्योंकि उनका शिल्प और व्यापार विदेशियों के हाथ में चला गया है जो केवल अपने लाभ के विचार से उसका नियन्त्रण तथा सञ्चालन करते हैं। यहाँ के निवासियों को जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं मिलतीं। जिस

कृषि पर वे अपना निर्वाह करते हैं, उसकी दशा भी बहुत खराब है और उससे भी उन्हें बहुत ही कम सहायता मिलती है। भारतीय आर्थिक जीवन में केवल दरिद्रता और ऋण ही सबसे अधिक दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत सिद्ध करने के लिए अब तक जितने उपाय किये गये हैं, उनसे भी यही दोनों बातें मानों एक नये ढंग से सिद्ध और प्रमाणित हुई हैं। इस अवस्था की बहुत बड़ी जिम्मेदारी सरकार पर ही है।

(६) गाँव का आर्थिक संघटन

गाँव—जब मनुष्यों का एक छोटा वर्ग या दल ज़मीन के किसी छोटे से टुकड़े पर, मुख्यतः खेती-बारी करने के विचार से, बस जाता है, तब गाँव की सृष्टि होती है। आरम्भ में एक ही वंश के कुछ लोग चारों ओर घूम-घूमकर पशु चराया करते थे और एक स्थान पर टिककर नहीं रहते थे, बल्कि ख़ाना-बदोशों की तरह जहाँ उपयुक्त स्थान देखते थे, वहीं कुछ दिनों के लिए रह जाते थे। उस समय उनमें केवल रक्त-सम्बन्ध का विचार होता था। परन्तु बाद में जब वे लोग स्थायी रूप से एक स्थान पर बसकर खेती-बारी और शिल्प-कार्य आदि करने लगे, तब उनका पुराना रक्त-सम्बन्धवाला भाव उतना प्रबल न रह गया और उसके स्थान पर वे अपने निवास-स्थान के साथ प्रेम करने लगे और अपने पड़ोसियों आदि के साथ उनका बन्धुत्व स्थापित हो गया। गाँव में रहनेवाला समाज मुख्यतः आर्थिक समाज है जो एक निश्चित भूमि-खण्ड पर अपना अधिकार रखता है और उसी की पैदावार पर निर्भर करता है। उस समाज में जितने परिवार होते हैं, वे सब मिलकर वह ज़मीन साफ़ करके जोतते और बोते हैं और उसकी पैदावार से अपना निर्वाह करते हैं। यदि वे लोग एक ही उप-जाति या वर्ग के होते हैं, तो उनमें परस्पर सामाजिक सम्बन्ध रहता है; परन्तु यदि वे लोग अलग-अलग उप-जातियों या उप-वर्गों के होते हैं, तो वे उन आर्थिक विषयों में एक दूसरे की सहायता करते हैं जिनके लिए वे आरम्भ में चज़कर वहाँ आये थे और अब तक बराबर साथ रहते हैं। राजनीतिक बातों में भी जिनका सम्बन्ध समाज की शान्ति,

व्यवस्था और बाहरी शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के साथ होता है, वे लोग एक साथ और मिले-जुले रहते हैं। इसलिए ग्राम-संघटन मुख्यतः ज़मीन को जोतने-बोने और उस पर बसनेवाले समाज की रक्षा के साथ होता है। आगे चलकर इसी स्थायी निवास के आधार पर भिन्न-भिन्न दलों में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होता है और उनमें सामाजिक कल्याण, धर्म, ज्ञान, नीति और मनोविनोद आदि के उच्चतर भाव उत्पन्न होते हैं।

परन्तु आरम्भ में गाँव का अस्तित्व केवल इसी लिए हुआ था कि प्रत्येक वर्ग या समूह अपना अलग अस्तित्व रखे और अपनी सब आवश्यकताएँ आप ही पूरी कर लिया करे। या तो उस भूमि-खण्ड पर सब लोगों का समान अधिकार रहता था और वे सब लोग मिलकर उसे जोतते-बोते थे और या यदि अलग-अलग भी जोतते-बोते थे, तो भी उसकी रक्षा मिलकर ही करते थे। प्रत्येक परिवार के रहने के लिए तो एक अलग मकान होता था, पर ज़मीन सारे समाज या गाँव के कुल निवासियों की होती थी। पर आगे चलकर जोतने-बोने का यह सामाजिक सिद्धान्त न रह गया और उसके बदले में लोग अपनी-अपनी ज़मीन अलग-अलग जोतने-बोने लगे। जब आगे चलकर गाँव एक दूसरे बड़े राजनीतिक दल या वर्ग के अधीन हो गया, तब इस सामाजिक या सार्वजनिक अधिकार के स्थान पर ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार का विकास हुआ।

उसका आर्थिक स्वरूप—गाँव के आर्थिक संघटन में मुख्य बात ज़मीन को जोतने-बोने की थी। कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण शिल्प, समाज और राजनीति-विषयक सम्बन्ध स्थापित हुआ। खेती-बारी से कृषकों और उनके सहायकों के एक बड़े वर्ग का निर्वाह होता था। कृषक प्रधान व्यक्ति होता था और कारीगर तथा मज़दूर आदि उसके सहायक हुआ करते थे। उन सहायकों में एक बड़ई, एक लोहार, एक कुम्हार, एक चरवाहा, एक जुलाहा, एक मोची, एक हज्जाम, एक पुरोहित, एक ज्योतिषी, एक वैद्य, एक चमार, एक चौकीदार, एक राजनीतिक मुखिया या गाँव का नेता, एक धोबी और एक भाट या चारण होता था। ये सब लोग कृषक के

खेती-बारी के औज़ार बनाते या मरम्मत करते थे, मकान बनाने में उसकी सहायता करते थे, उसके लिए कपड़े, बरतन और दवाएँ तैयार करते थे, सफाई रखते थे, उसकी धार्मिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करते थे, राजनीतिक तथा आर्थिक बातों में उसे सहायता देते थे और इन सब सेवाओं के बदले में गाँव की पैदावार में अपना हिस्सा पाते थे। गाँव के ये भिन्न-भिन्न काम करनेवाले लोग उस आर्थिक संघटन के मुख्य अङ्ग तथा घटक होते थे। भारतीय गाँवों में इन्हीं सब लोगों की अलग-अलग पेशेवार जातियाँ बन गईं। ये जातियाँ दूसरी जातियों के साथ रक्त-सम्बन्ध नहीं स्थापित करती थीं, केवल अपनी ही जाति में व्याह-शादी करती थीं; परन्तु फिर भी कार्य-विभाग के आधार पर ही गाँव की पैदावार में भाइयों के समान अपना-अपना हिस्सा पाती थीं। ये पेशे या काम बहुत अधिक नहीं थे और बिल्कुल आरम्भिक तथा असंस्कृत रूप में थे। साधारणतः इन हिस्सेदारों की संख्या बारह हुआ करती थी। जब एक को दूसरे की पैदावार या बनाई हुई चीज़ लेने की आवश्यकता होती थी, तब उनमें पदार्थों का विनिमय मात्र हुआ करता था। इसके बाद भिन्न-भिन्न गाँवों में प्रति सप्ताह हाट या बाज़ार लगने लगे। रुपये-पैसे, ऋण या साख और पूँजी का प्रचलन बहुत बाद में हुआ था। प्रत्येक गाँव में तीन विभाग हुआ करते थे। एक विभाग में लोगों के रहने के मकान होते थे, दूसरे में खेती-बारी और तीसरे में चराई होती थी। गाँव से कुछ दूर पर एक जङ्गल हुआ करता था जिसमें से लोग लकड़ी काटकर लाते थे और जाकर शिकार खेलते थे। रहने के मकान और जोतने-बोने की ज़मीन तो प्रायः अलग-अलग व्यक्तियों की होती थी, पर चराई के मैदान और जङ्गल पर सब लोगों का समान रूप से अधिकार होता था।

वर्गीय या सामुदायिक जीवन—भौतिक, नैतिक तथा आर्थिक कार्यों के लिए गाँव के ये सब लोग अपने-अपने एक सम्बद्ध वर्ग या समुदाय के रूप में मानते थे। बाहरी लोगों के आक्रमण या आन्तरिक कण्टकों से अपनी रक्षा करने के लिए इन लोगों ने गाँव के बड़े-बूढ़ों की एक

सभा या समिति स्थापित की थी जिसे वैदिक काल में ग्राम-समिति या सभा और बाद में गाँव की पञ्चायत कहते थे। इन सभाओं का काम मुख्यतः राजनीतिक हुआ करता था; अर्थात् ये लोग गाँव और उसके निवासियों की शान्ति तथा रक्षा की व्यवस्था करते थे। इसके प्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप इनके लिए यह भी आवश्यक हो गया कि ये पुराने रीति-रवाजों और नियमों आदि की रक्षा करें, विवादास्पद विषयों का निपटारा करें और नियम अथवा शान्ति भङ्ग करनेवालों को दण्ड दें। ये ऐसे क्षेत्रीय संघटन थे जो गाँव के सभी निवासियों की सभी आवश्यक बातों पर समान रूप से ध्यान रखते थे। आरम्भ में ये लोग शासन, न्याय, अर्थ और युद्ध-सम्बन्धी सब काम करते थे और बाद में लोक-कल्याण-सम्बन्धी काम भी करने लग गये थे। इन सबका सरदार गाँव का मुखिया होता था जो या तो चुना जाता था और या जिसका पद वंशानुक्रमिक होता था। प्राचीन काल में इसे ग्रामणी और बाद में पटेल कहते थे। इसके अतिरिक्त गाँव में और भी ऐसे अधिकारी होते थे जो शासन या न्याय आदि का कार्य करते थे और झगड़े निपटाकर शान्ति रखते थे। गाँव की पञ्चायत में गाँव के बड़े-बूढ़े लोग होते थे जिनका प्रधान गाँव का सरदार या मुखिया होता था। पञ्चायत में सभी जातियों के प्रतिनिधि होते थे। नियमित रूप से कोई निर्वाचन नहीं होता था। व्यक्ति का अन्तर्भाव परिवार में ही हो जाता था और परिवार का सबसे बड़ा आदमी ही उसमें प्रतिनिधि होता था। यह क्षेत्रीय संस्था थी और गाँव की सभी आर्थिक तथा राजनीतिक बातों की देख-रेख करती थी। ये लोग समाज के पञ्च और प्रतिनिधि होते थे और उसी की ओर से सञ्चालन तथा निरीक्षण का सब काम करते थे। भिन्न-भिन्न परिवारों के ये बड़े-बूढ़े लोग ग्रामवृद्ध या महाजन कहलाते थे। ये पूर्ण स्वतन्त्र स्थानिक संस्थाएँ थीं और स्थानिक शासन का काम करना खूब अच्छी तरह जानती थीं। गाँव का यह एकतापूर्ण जीवन इस रूप में देखने में आता था कि गाँव-भर का एक मन्दिर, एक तालाब, एक पञ्चायत और मिलने-जुलने का एक स्थान, स्वास्थ्य-रक्षा की एक व्यवस्था और सबका एक ही राजनीतिक तथा

आर्थिक संघटन हुआ करता था। गाँव के सभी लोग मिलकर सड़कों, पुलों और घाटों आदि की व्यवस्था और रक्षा करते थे।

कर या आय के साधन—गाँव की आय के निम्न-लिखित साधन थे—गाइमों और कारीगरों पर कर, हाटों या बाजारों से वसूली, घाटों की उगाही, विवाह और मुरदे गाड़ने पर लिया जानेवाला कर और ज़मीन की मालगुज़ारी या पैदावार का अंश। कभी-कभी सड़कों, तालावों और पुलों आदि के काम के लिए पञ्चायत सबसे अनिवार्य रूप से बेगार भी लेती थी।

ग्राम-पञ्चायत और जाति-पञ्चायत—इस ग्राम-पञ्चायत को पूग या गण कहते थे और इसे जाति-पञ्चायत से बिल्कुल अलग रखना और समझना चाहिए। जाति-पञ्चायत सामाजिक, धार्मिक और पेशे तथा शिक्षा-सम्बन्धी बातों की देख-रेख करती थी। इसमें एक विशिष्ट जाति के परिवारों के बड़े-बूढ़े हुआ करते थे। ये अपने सामाजिक नियम बनाते थे और धार्मिक कृत्यों, पेशों की मर्यादा और आवश्यकताओं की देख-रेख करते थे। यह राजनीतिक संस्था नहीं थी और समाज के किसी विशिष्ट वर्ग से ही सम्बन्ध रखती थी। यदि कोई जाति-पञ्चायत अधिकतर पेशे से सम्बन्ध रखनेवाली बातों पर ही ध्यान देती थी, तो वह कस्बों में श्रेणी-कहलाती थी। इसका मुख्य काम अपने पेशे की कारीगरी को रक्षित रखना तथा उन्नत करना और अपने आर्थिक अधिकारों तथा सुभीतों की रक्षा करना था। यह अपने वर्ग के द्वारा तैयार होनेवाली चीज़ों और उनके मूल्य आदि पर भी नियन्त्रण रखती थी। ग्राम-पञ्चायत में सभी जातियों के लोग हुआ करते थे; केवल किसी एक जाति के प्रतिनिधि नहीं होते थे। इस प्रकार यह एक ऐसी क्षेत्रीय संस्था थी जो अपने पास-पड़ोस के सभी लोगों से सम्बन्ध रखती थी; पर जाति-पञ्चायत सामाजिक-धार्मिक होती थी और केवल सामाजिक तथा धार्मिक बातों की व्यवस्था करती थी।

गाँव और केन्द्रीय शासन या सरकार—भारत में ब्राह्मण आदि ऊँची जातियों में कोई जाति-पञ्चायत नहीं होती थी। जब राजाओं

ने बहुत से गाँवों पर शासन करना आरम्भ किया, तब गाँवों में शासन-सम्बन्धी एक नये तत्त्व का आविर्भाव हुआ। जो गाँव किसी प्रकार उस राजा के अधीन चले जाते थे या आप ही आप उसमें सम्मिलित हो जाते थे, उन्हें राजनीतिक विषयों में उस राजा की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। राजा उनकी जो रक्षा करता था, उसके बदले में उन्हें कुछ धन उसे देना पड़ता था, और बड़े-बड़े ऋग्णों में उसका निर्णय मानना पड़ता था। राजा उनकी पैदावार का हिस्सेदार भी हो गया था। साधारण काल में भी और विपत्ति के समय भी राजा उनकी जो रक्षा करता था, उसी के बदले में उसे पैदावार का अंश दिया जाता था। राजा अपने कर्मचारियों या अधिकारियों के द्वारा उनकी रक्षा करता और उनके आर्थिक हितों का ध्यान रखता था। या तो वे सरकारी कर्मचारी गाँव के मुखिया से राजा के अंश आदि निश्चित करते थे और या कभी-कभी गाँव का मुखिया ही स्वयं अपने गाँव का प्रतिनिधि रहने के साथ-साथ राजा का अधीनस्थ कर्मचारी बन जाता था और उसके अधीन पद ग्रहण करता था। उसे प्रायः इसी दोहरी हैसियत में काम करना पड़ता था। पुलिस, न्यायाधीश और राजकर उगाहनेवाले कर्मचारी या तो राजा की ओर से नियुक्त होकर आते थे और या गाँव का मुखिया ही ये सब अलग-अलग कार्यभार राजा की ओर से अपने ऊपर ले लेता था। इस प्रकार जब बड़े-बड़े क्षेत्रों की राजनीतिक संस्थाएँ बन गईं, तब राजनीतिक विषयों में गाँवों का यह पुराना स्वराज्य-सम्बन्धी स्वरूप नष्ट हो गया। कुछ छोटी-छोटी बातों में गाँववालों को अपने यहाँ पूरा अधिकार प्राप्त होता था और राजा अपने कर्मचारियों के द्वारा शासन तथा न्याय आदि से सम्बन्ध रखनेवाली उन बड़ी-बड़ी बातों में हस्तक्षेप किया करता था जिनका सम्बन्ध राजकीय अथवा देश के प्रान्तीय हितों के साथ हुआ करता था। इसी प्रकार जब गमनागमन के सहज साधन प्रस्तुत हो गये, माल एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने लगे और सिक्कों का प्रचार हुआ, तब प्रान्तीय और राष्ट्रीय व्यापार-व्यवसाय का आरम्भ होने पर आर्थिक विषयों में भी गाँवों का स्वयंपूर्ण रूप नष्ट हो गया। इस प्रकार जो ग्राम्य-समाज

पहले राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित था, जिसमें शासन-सम्बन्धी सभी शाखाएँ थीं और जो आर्थिक दृष्टि से भी व्यवस्थित तथा श्रम-विभाग और हिस्सेदार मजदूरों के संघटन से युक्त था, वह आगे चलकर एक बड़े राजनीतिक समूह तथा आर्थिक संसार का एक छोटा सा अङ्ग बन गया। पहले वह सबसे अलग और निराला रहा करता था; पर अब उसकी वह बात न रह गई। वह गाँवों और नगरों के दूसरे समाजों के साथ सम्बद्ध हो गया और इस प्रकार एक नवीन राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सम्मिलित हो गया।

नगर का आर्थिक संघटन

नगर—नगर अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्रीय समूह है। वह मानों एक बड़ा गाँव होता है। वहाँ का जीवन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि अनेक अङ्गों से युक्त और जटिल होता है। वहाँ व्यापार, शिल्प, धर्म और राजनीति-सम्बन्धी बहुत से सुभीते तथा लाभ होते हैं; इसलिए वहाँ बहुत से लोग जाकर बस जाते हैं। वहाँ की स्थानिक स्थिति, भौतिक साधन, गमनागमन और सम्बन्ध-स्थापन के मार्ग, आब-हवा और पारस्परिक सम्बन्ध दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक सुभीते के और लाभ-दायक होते हैं। वहाँ शिल्प, व्यापार, रक्षा या धर्म आदि का विशेष सुभीता होता है। इनमें से कोई एक या अनेक कारण लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। उनमें मुख्यतः राजनीतिक और आर्थिक बातों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। व्यापारी और कारीगर वहाँ इसलिए एकत्र होते हैं कि वह प्रायः अधिक रक्षित और दृढ़ होता है या वहाँ दूर-दूर से यात्री आदि आया करते हैं। वह प्रायः एक बलवान् सरकार का केन्द्र होता है। यही कुछ खास-खास बातें हैं जिनसे कोई गाँव बढ़कर कस्बा या नगर बन जाता है। सन् १९११ में भारत में कुल मिलाकर २३१३ कस्बे और नगर थे और उन सबकी आबादी ३॥ करोड़ थी।

वहाँ का समाज—शहरों में रहनेवाले लोग अधिकतर शिल्प और व्यवसाय करते हैं। वहाँ के निवासी अनेक प्रकार के पेशे करते हैं। गाँवों

में होनेवाले प्रायः सभी पेशे या काम एक मुख्य काम कृषि के सहायक हुआ करते हैं; परन्तु शहरों के पेशों या कामों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। हाँ, उनमें से हर एक को दूसरे से सहायता अवश्य मिलती है। वे कला और कारीगरी की दृष्टि से बहुत उन्नत होते हैं और वहाँ कारीगरों तथा व्यापारियों के अलग-अलग संघ या श्रेणियाँ हुआ करती हैं। वे लोग जो चीजें तैयार करते हैं अथवा जो काम करते हैं, उनकी माँग शहर में भी और बाहर भी बराबर रहती है और अनेक स्थानों में उनका उपयोग होता है। वे केवल अपने शहर के बाजारों में ही अपनी चीजें नहीं बेचते, बल्कि उनके खास तौर पर तैयार किये हुए माल दूसरे शहरों में खूब बिकते हैं। गाँव तो अपनी सब आवश्यकताएँ आप ही पूरी कर लेता है और आर्थिक दृष्टि से सबसे अलग रहता है। परन्तु कृषकों के सम्बन्ध में तब तक यह बात नहीं मालूम होती जब तक वे भी केवल बड़े गाँव न हों। कृषकों को बाहरी माल की भी जरूरत पड़ती है और उन मालों के साथ वे अपनी तैयार की हुई चीजों का बदला करते हैं। यूनान में अपना शासन स्वयं करनेवाले जो नगर थे, उन्हें भी बाहरी चीजें मँगानी पड़ती थीं। वे लोग अपने आस-पास के प्रान्तों में बहुत से ऐसे गुलाम रखते थे जो उनके लिए खेती-बारी का काम करते थे और उसकी पैदावार नगर के उन निवासियों को देते थे जो अनेक प्रकार के कामों से निश्चिन्त रहकर प्रायः राजनीति और साहित्य के कामों में अपना समय बिताते थे।

वहाँ का श्रेणी-संघटन—शहर के हर एक पेशेवरों का संघटन श्रेणी के आधार पर होता था। किसी एक प्रकार के शिल्प या व्यवसाय में लगे हुए लोगों का संघटन ही “श्रेणी” होता था। या तो वह श्रेणी शिल्पियों की होती थी और या व्यापारियों की। प्रत्येक श्रेणी में कोई एक अथवा अनेक ऐसी जातियाँ होती थीं जो किसी विशिष्ट स्थान में रहकर एक ही पेशा करती थीं। प्रत्येक श्रेणी में मालिक, कारीगर और उम्मेदवार सम्मिलित होते थे। उनका मुख्य उद्देश्य आर्थिक हुआ करता था। जिस प्रकार जाति का संघटन सामाजिक और धार्मिक आधार पर होता है, उसी प्रकार श्रेणी का

संघटन आर्थिक आधार पर होता था। यदि एक ही जाति के लोग कई तरह के पेशे या काम करते थे तो उन सब की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हुआ करती थीं। व्यापारियों और महाजनों की श्रेणियों में प्रायः भिन्न-भिन्न जातियों के लोग रहा करते थे। श्रेणी मानों अनेक प्रकार के लोगों का समूह थी। वह अपने व्यापार या पेशे के हितों का नियन्त्रण और देख-रेख करती थी। वह मज़दूरी, तैयार होनेवाले माल का मान, ऋगड़े, चीज़ों के दाम, रूप, तैल और नाप आदि तै करती थी और शिल्पीय शिक्षा आदि का प्रबन्ध करती थी। वह लोक-कल्याण या दान-पुण्य आदि के भी काम करती थी और मन्दिर, तालाब, कुएँ, छाया के लिए वृक्ष और विश्रामालय आदि बनवाती थी और लोगों को दान देती थी। श्रेणी की काउंसिल या पञ्चायत ही ये सब काम करती थी और उसमें पेशेवर परिवारों के बड़े-बूढ़े या महाजन सम्मिलित होते थे। उनका प्रधान श्रेष्ठी कहलाता था जो प्रायः निर्वाचित होता था। सब बातों का निपटारा बहुमत से होता था। इस प्रकार की बहुत सी श्रेणियाँ होती थीं। जुलाहों, बढ़इयों, कुम्हारों, दरज़ियों, रँगरेज़ों, धोबियों और तरह-तरह की चीज़ों बेचनेवाले सभी लोगों की अलग-अलग श्रेणियाँ हुआ करती थीं। कारीगरों, व्यापारियों और महाजनों की ये सब श्रेणियाँ कभी-कभी मिलकर सारे नगर का एक बड़ा संघटन बनाती थीं जिसे नैगम कहते थे। उसमें सारे नगर की एक पञ्चायत होती थी जो सबके सम्मिलित हितों और सामाजिक तथा राजनीतिक हितों का ध्यान रखती थी। इस समस्त संघटन का प्रधान एक नगरसेठ होता था। यहाँ भी सब बातों का निपटारा बहुमत से ही होता था। इसमें नगर की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के प्रधान या सेठ रहा करते थे। इस संस्था को प्रायः महाजन कहते थे और इसका अधिकार उन सभी वर्गों पर होता था जो नगर में कोई काम करते थे। राजकीय विषयों में राजा भी प्रायः नगरसेठ से परामर्श करता था। यही संस्था बाज़ारों और विनिमयों आदि का नियन्त्रण करती थी, सार्वजनिक छुट्टियाँ तै करती थी और दान की व्यवस्था करती थी। इनकी हुण्डियों और सूद की दरों से देश के भीतरी व्यापार की बहुत सी आवश्यकताएँ पूरी होती थीं। ये

भिन्न-भिन्न कामों के लिए शुल्क निश्चित करतीं और जुरमाने लगाती थीं और आर्थिक विषयों में राज्य के हस्तक्षेप करने से पहले यही संस्थाएँ नगर और प्रान्त के आर्थिक जीवन की व्यवस्था करती थीं। परम्परा से चली आई हुई कारीगरी और कौशल आदि का ये बराबर निर्वाह करती थीं और रही चीजें नहीं तैयार होने देती थीं।

धीरे-धीरे व्यापार और शिल्प-कार्य अलग-अलग गाँवों में अथवा नगर के विशिष्ट विभागों या महल्लों में विशेष रूप से होने लगे। यदि किसी गाँव में किसी एक विशेष प्रकार का ही शिल्प-कार्य होता था, तो उस गाँव का मुखिया और श्रेणी का प्रधान प्रायः एक ही आदमी हुआ करता था। नगर अनेक महल्लों का समूह होता था और हर एक महल्ले में एक अलग प्रकार का शिल्प-कार्य होता था। जुलाहों, सुनारों, महाजनो और व्यापारियों आदि के महल्ले अलग-अलग हुआ करते थे।

उनका नागरिक भाव—ऐसे कस्बे या नगर की सब श्रेणियों के लोग बराबर आपस में एक दूसरे से मिला-जुला करते थे और वे आन्तरिक बातों में एक दूसरे पर निर्भर रहते थे; इसलिए उनमें एक नवीन तथा सार्वजनिक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन का भाव आ गया। उनमें पार्श्ववर्त्तिता के नागरिकतापूर्ण जीवन का भाव विकसित हुआ और वे आपस में एक दूसरे की सेवा तथा सहायता करने लगे। नगर में उन सब की जो सम्मिलित पञ्चायत होती थी, वह सारे नगर की रक्षा और कल्याण का ध्यान रखती थी। यदि उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होती तो वह अपने शासन-सम्बन्धी सब कार्य भी आप ही करती थी और नगर की सफाई, सार्वजनिक हित के कामों और दान-पुण्य आदि की भी व्यवस्था करती थी। वह अपने चौकीदार, पुलिस, जज, मजिस्ट्रेट तथा दूसरे अधिकारों रखती थी।

नगर और केन्द्रीय सरकार—बहुधा राजा लोग या देश की केन्द्रीय सरकार नगर की राजनीतिक बातों की व्यवस्था अपने राजकर्मचारियों के द्वारा करती थी जो स्थानीय अपराधों और झगड़ों का विचार करते थे। यह

विचार स्थानिक प्रतिविधियों की सम्मति से होता था। राजा अपने कर, चुङ्कियाँ तथा दूसरे प्राप्य धन आदि अपने कर्मचारियों के द्वारा वसूल करता था। परन्तु पेशे, धर्म और सामाजिक रीति-रवाजों के सम्बन्ध में लोग बिल्कुल स्वतन्त्र होते थे और अपनी सब व्यवस्था आप ही करते थे। राजा अथवा राजकर्मचारी केवल उसी दशा में हस्तक्षेप करता था, जब भिन्न-भिन्न दलों या हितों में किसी प्रकार का विरोध या झगड़ा खड़ा होता था और उन दलों का कोई ऐसा सार्वजनिक संघटन नहीं होता था जो उनके झगड़ों का निपटारा कर सकता। अथवा जब कभी कोई राजनीतिक विषय या राजद्रोह-सम्बन्धी बात उपस्थित होती थी या स्थापित शासन पर किसी प्रकार की आपत्ति आने की सम्भावना होती थी, तब भी राजा या राजकर्मचारी उसमें हस्तक्षेप करता था।

आज-कल यह पुरानी व्यवस्था बदल गई है। अब सरकार अपने केन्द्र से ही समस्त आर्थिक और राजनीतिक विषयों का नियन्त्रण करती है। गाँवों और नगरों की पञ्चायतों की स्वराज्य-शक्ति का उसने नाश कर दिया है। गाँव में रहनेवाले को अपने गाँव के सम्बन्ध की किसी बात में मत देने का अधिकार नहीं होता। गाँव में कोई वास्तविक पञ्चायत नहीं होती। नगरों में एक ऐसा नये ढङ्ग का स्थानिक स्वराज्य स्थापित हुआ है जिसका आधार श्रेणियों का प्रतिनिधित्व नहीं है, बल्कि व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व है; और उसका बहुत कुछ नियन्त्रण केन्द्रीय सरकार ही करती है।

नगरों के शिल्पीय जीवन का हास—विदेशी प्रतियोगिता के दबाव में पड़ने के कारण पुराने देशी शिल्प और व्यापार नष्ट हो गये हैं और इसी लिए अब श्रेणियाँ भी नहीं रह गई हैं। अब कोई शिल्प नहीं रह गया, केवल दूकानदार या फुटकर सौदा बेचनेवाले लोग रह गये हैं जिनका समाज पर बहुत ही कम प्रभाव है। इस देश के व्यापारों और शिल्पों पर विदेशियों का अधिकार हो गया है; और जो लोग पहले कुशल कारीगर या व्यापारी थे, वे अब खेतों या कारखानों आदि में, जहाँ काम मिलता है, मजदूरी करते हैं। सम्पत्ति से जो राजनीतिक प्रभाव प्राप्त होता और

व्यक्तित्व उत्पन्न होता है, उसका नितान्त अभाव है। अब भारतीय नगरों पर या तो सरकारी अफसरों का प्रभुत्व होता है और या ऐसे पेशेवरों का जिनका सम्बन्ध सरकार के साथ होता है।

आज-कल समाज में पूँजीवाद की जो प्रथा चल पड़ी है, उसने पुरानी व्यवस्था बिलकुल बदल दी है। अब आर्थिक संघटन में पूँजी की प्रधानता हो गई है और सभी माल बहुत अधिक मात्रा में तैयार किये जाने लगे हैं जिससे समाज की पुरानी स्थिति या दृढ़ता नष्ट हो गई है और उसकी जगह ठीके तथा मजदूरी की प्रथा चल गई है। अब पेशे बराबर बदलते रहते हैं और सम्पत्ति एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाती रहती है; धनवान् और दरिद्र में सम्पत्ति के कारण ही वैमनस्य या विरोध रहता है; ऊँची या नीची जाति में जन्म लेने के कारण होनेवाला विरोध या वैमनस्य नहीं रहता।

आज-कल कारखानेदारों के भी संघटन होते हैं और मजदूरों के भी, परन्तु वे एक दूसरे के विरोधी होते हैं। उनमें सभी प्रकार और जातियों के ऐसे लोग होते हैं जिन्हें आर्थिक स्वार्थ, आर्थिक विषयों में अपने विरोधियों के विरुद्ध शान्तिपूर्वक रहने या लड़ने-झगड़ने के लिए विवश करते हैं। व्यापारियों की चेम्बर नामक संस्थाएँ भी होती हैं जो अपने समस्त आर्थिक स्वार्थों का ध्यान रखती हैं और राजनीतिक अधिकारों तथा प्रतिनिधियों के द्वारा उनकी रक्षा करती हैं।

जमींदारी की प्रथा—ऊपर हमने नगरों और गाँवों के जिस आर्थिक संघटन का विवेचन किया है, उसके अतिरिक्त आर्थिक सम्बन्धों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में उस समय एक नये तत्त्व का भी आविर्भाव हो गया, जब राजाओं ने कुछ थोड़े से लोगों को युद्ध अथवा शान्ति-काल की सेवाओं के लिए उदारतापूर्वक बहुत बड़ी-बड़ी ज़मीनें प्रदान कर दीं। ज़मीनों के इस प्रकार के दान या माफ़ियाँ धार्मिक कार्यों के लिए भी दी गई थीं। इस प्रकार ज़मींदारों और काश्तकारों में एक नये प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध उत्पन्न हो गया। भारत में ऐसे बहुत से ज़मींदार हैं जो जागीरदार, तालुक़ेदार और इनाम-

दार कहलाते हैं; या ऐसी ज़मीनें हैं जो देवस्थान, देवोत्तर या वक्फ़ कहलाती हैं। इन राजनीतिक तथा धार्मिक ज़मींदारों ने लोगों के आर्थिक जीवन पर भी बहुत कुछ प्रभाव डाला है, उनके स्वामित्व-सम्बन्धी तथा राजनीतिक अधिकार छीन लिये हैं और उन्हें दरिद्र तथा गुलाम बना दिया है। इस प्रणाली से निवास-स्थान सम्बन्धी सच्चे नागरिक सम्बन्ध का नाश हो गया है और ज़मींदारी तथा अधीनता का एक व्यक्तिगत सम्बन्ध उत्पन्न हो गया है। अब कार्तकार अपने ज़मींदार का “आदमी” या गुलाम हो गया है। उसे ज़मींदार की कठिन सेवाएँ करनी पड़ती हैं और भारी-भारी कर तथा जुर्माने देने पड़ते हैं। अब उसका कोई निजी और स्वामित्व-सम्बन्धी वास्तविक अधिकार नहीं रह गया है; और बिना इस प्रकार के अधिकार के ही वह ज़मीन और ज़मींदार के साथ बाँध दिया गया है। इससे उसका आर्थिक और नैतिक दोनों प्रकार का पतन हुआ है। उसका जीवन स्वतन्त्र नागरिक का सा नहीं रह गया है, बल्कि गुलामों का सा हो गया है। इस प्रणाली के कारण लोगों में सम्पत्ति और कार्य का भी बहुत ही विषम विभाग हो गया है; और इसके कारण आज तक लोगों में यही भाव बना हुआ है कि सम्पत्ति पर केवल वंशानुक्रमिक अधिकार होता है और सम्पन्न आदमी ही समाज में बड़ा गिना जाता है।

भारतीय समाज के आर्थिक संघटन में जाति-पाँति की प्रथा अब भी बहुत कुछ काम करती है। प्रायः लोग अपना पेशा बहुत ही कम बदलते हैं। समाज में बहुत दिनों से यह भाव चला आता है कि अमुक पेशा ऊँचा और अच्छा है तथा अमुक पेशा नीचा और बुरा है; और भारत के आर्थिक जीवन की उन्नति और विकास पर इस धारणा का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। इतनी अधिक कठिनाइयों के मुकाबले में आजकल भारत एक आधुनिक आर्थिक समाज और संघटन की सृष्टि करने का प्रयत्न कर रहा है।

इधर तीस वर्षों में भारत के नगरों की आबादी बढ़ तो रही है, पर बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ रही है। उसकी कुल आबादी का प्रति शत १०·२ अंश ही नगरों में बसता है।

परिशिष्ट १

नगरों तथा ग्रामों के सम्बन्ध के लेखे

भारतवर्ष

क्षेत्र वर्ग-मील १८,०३,३३२	कुल आबादी ३१,८६,४२,४८०
नगरों तथा ग्रामों की संख्या ६८,७,६८१	(क) नगरों में ३,२४,७५,२७६
(क) नगर २,३१६	(ख) ग्रामों में २८,६४,६७,२०४
(ख) ग्राम ६,८५,६६५	पुरुष १६,३६,६५,५५४
जन घरों की संख्या जिनमें मनुष्य निवास करते हैं ६,५१,६८,३८६	(क) नगरों में १,७८,५२,२४८
(क) नगरों में ६७,६५,०१४	(ख) ग्रामों में १४,६१,५०,३०६
(ख) ग्रामों में ५,८४,३३,३१५	स्त्रियाँ १५,४६,४६,६२६
	(क) नगरों में १,४६,३०,०२८
	(ख) ग्रामों में १४,०३,१६,८६८

परिशिष्ट २

पेशों के अनुसार भारतीयों का विभाग

निम्न-लिखित सूची से पता चलता है कि पेशों के अनुसार भारतीयों का विभाग किस प्रकार है—

क्रम-संख्या	पेशा	सन् १९२१ में निर्वाह करनेवाली जन-संख्या
	कुल आबादी	३१, ६०, ५५, २३१
	(अ) कच्चे माल की पैदावार	२३, ११, ६४, ४०३
	(१) पशुओं तथा वनस्पतियों से	२३, ०६, ५२, ३५०

क्रम-संख्या	पेशा	सन् १९२१ में निर्वाह करनेवाली जन-संख्या
१	चराई एवं कृषि	२२, ६०, ४६, ०१६
२	मछली मारना और शिकार करना	१६, ०७, ३३१
(२)	खनिज पदार्थों से	५, ४२, ०५३
३	खान	३, ६८, ६६८
४	पत्थर तथा चट्टान खोदना	७४, ६४५
५	नमक इत्यादि	६८, १४०
(आ)	पदार्थिक वस्तुओं को तैयार करना एवं भोजना	५, ५६, १२, ६६४
(३)	शिल्प	३, ३१, ६७, ०१८
६	बुनाई और कताई	७८, ४७, ८२६
७	पशुओं की खालें और चमड़े	७, ३१, १२४
८	लकड़ी	३६, १३, ५८३
९	धातुएँ	१८, ०२, २०८
१०	मोम आदि	२२, १५, ०४१
११	रासायनिक द्रव्य आदि	११, ६४, २६३
१२	खाद्य पदार्थ-सम्बन्धी व्यवसाय	३१, ००, ३६१
१३	वेश-विन्यास	७४, २५, २१३
१४	लकड़ी की कुर्सी, टेबुल इत्यादि	२, ७०, ६५
१५	मकान बनाना	१७, ५३, ७२०
१६	खेल के सामान बनाना	५२, ७६३
१७	भौतिक शक्तियों को उत्पन्न करना और इधर-उधर भोजना (रोशनी, बिजली इत्यादि)	२४, ८८१
१८	फुटकर व्यवसाय	३३, ८७, ६३७
६		

क्रम-संख्या	पेशा	सन् १९२१ में निर्वाह करनेवाली जन-संख्या
	(४) माल की दुलाई	४३, ३१, ०२४
१६	वायुयान	६२६
२०	जलमार्ग	७, ४५, ३६६
२१	सड़के	२१, ४५, ६४६
२२	रेलवे	१२, ३१, ६७२
२३	पोस्ट आफिस, तार और फोन इत्यादि	२, ०७, ४०५
	(५) व्यापार	
२४	बैंक, विनिमय और बीमा	६,६३, ४६२
२५	दलाली, कमीशन एवं वस्तुएँ बाहर भेजना	२,४२, ६२८
२६	कपड़ों का व्यापार	१२, ८६, २७७
२७	खालों और चमड़े का व्यापार]	२, ३३, ८६२
२८	लकड़ी का व्यापार	२, २७, ६६७
२९	धातुओं का व्यापार	६४, ८८८
३०	मिट्टी के बर्तनों और ईंटों इत्यादि का व्यापार	६२, ४६८
३१	रासायनिक पदार्थों का व्यापार	१, २०, ०२८
३२	होटल, भोजनालय इत्यादि	७, ०६, ३३२
३३	खाद्य पदार्थों के अन्य व्यापार	६२, ८२, ६५१
३४	सिले हुए वस्त्र इत्यादि	२, ८४, ८६८
३५	कुर्सी, टेबुल इत्यादि	१, ७३, १८८
३६	मकान बनाने के मसाले का व्यापार	७६, ८१०

क्रम-संख्या	पेशा	सन् १९२१ में निर्वाह करनेवाली जन-संख्या
३७	माल ढोने के साधनों का व्यापार	३, ३१, ६००
३८	ईंधन का व्यापार	५, १६, २६६
३९	मनोविनोद या फैशन की वस्तुएँ, साहित्य, विज्ञान इत्यादि	४, ५६, ८६८
४०	अन्य तरह के व्यापार	३०, ४८, ५७०
	(इ) राज्य-प्रबन्ध	६८, ४६, ०५०
	(६) राजकीय सेना आदि	२१, ८१, ५६७
४१	स्थल-सेना	७, ५७, ३८३
४२	जल-सेना	५७१
४३	वायुयान-सेना	१, ०३३
४४	पुलिस	१४, २२, ६१०
४५	(७) (क्रम-संख्या ४५) राज्य-प्रबंध	२६, ४३, ८८२
	(८) पेशे तथा उपकारी कलाएँ	५०, २०, ५७१
४६	धर्म	२४, ५२, ६१४
४७	कानून	३, ३६, ५१०
४८	चिकित्सा	६, ५६, ५८३
४९	शिक्षा	८, ०५, २२८
५०	साहित्य—कला और विज्ञान	७, ६१, ६३६
	(ई) फुटकर	१, ६४, ०२, ०८४
५१	(९) (क्रम-संख्या ५१) दूसरों की आमदनी पर जीवन निर्वाह करनेवाले	४, ६७, ८३५
५२	(१०) (क्रम-संख्या ५२) गृहसेवा	४५, ७०, १५१

क्रम-संख्या	पेशा	सन् १९२१ में निर्वाह करनेवाली जन-संख्या
४३	(११) ऐसे पेशे जिनका ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो सकता (क्रम-संख्या ४३)—साधारण मर्दे जिनसे कोई निश्चित पेशा नहीं सूचित होता ।	१, १०, ६८, ४६६ ३२, ४३, ४३२
४४	(१२) अनुत्पादक जेलों, पागलखानों और खैरात-खानों में रहनेवाले	१, ४४, ४६७
४५	भिच्छुक, आचारे तथा वेश्याएँ	३०, २०, ६८०
४६	अन्य ऐसे अनुत्पादक शिल्प जिनका वर्गीकरण नहीं हुआ है ।	८७, ३८४

सारांश

कृषि से ७०.१ प्रतिशत का जीवन निर्वाह होता है जिनमें से ११ प्रतिशत इसी पर निर्भर करनेवाले और ४१ प्र० श० मजदूर हैं।

शिल्प से १०.७ "	"	"	" १२ "	"	" ४८ प्र० श० "
व्यापार से ७.१ "	"	"	" १६ "	"	" ४४ " " "
पेशों से १.६ "	"	"	" १६ "	"	" ४१ " " "
अन्य कार्यों से ८.७ "	"	"	" ४६ "	"	" १४ " " "

आर्थिक जीवन (क्रमागत)

परिच्छेद ३

राजनीतिक जीवन

(१) शासन के ऐतिहासिक प्रकार

भारत में अब तक अनेक प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ हो चुकी हैं और अनेक प्रकार के शासन हो चुके हैं । यदि इसका राजनीतिक इतिहास देखा जाय तो उसमें विदेशियों के बहुत से आक्रमण, अनेक राजवंश और अनेक प्रकार के राज्यतन्त्र तथा प्रजातन्त्र मिलेंगे । वैदिक आर्यों के समय से लेकर वर्तमान अँगरेजी शासन तक हम अनेक प्रकार के राज्यतन्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं ।

वैदिक काल; प्रजातन्त्र और वर्गीयतन्त्र—वैदिक काल में बहुत छोटे-छोटे राज्य होते थे जिन्हें जन-राज्य या गण-राज्य कहते थे और जो एक अथवा अनेक गाँवों पर शासन करते थे । राज्य-तन्त्र प्रायः वर्गीय होता था जिसमें राजा जनता का, जिसे विश्व या जन कहते थे, राजनीतिक शासन करता था और सभा तथा समिति के परामर्श या आज्ञा से सब कार-बार चलाता था । सभा में धनवान् तथा विद्वान् लोग होते थे और समिति में सब लोग रहता करते थे । ये दोनों संस्थाएँ अपने अधिवेशनों में न्याय या विचार भी करती थीं और वर्गों के झगड़ों का निबटारा भी करती थीं । वे राजा का निर्वाचन भी करती थीं अथवा किसी के राजा होने की स्वीकृति भी देती थीं; और कभी-कभी उसके अनुचित व्यवहार या अयोग्यता के कारण उसे राज्यच्युत भी करती थीं ।

जहाँ-जहाँ किसी वर्ग में अपनी स्वतन्त्रता या विभिन्नता का भाव होता था, वहाँ-वहाँ यह प्रजातन्त्री संघटन बहुत परवर्ती काल तक बराबर बना

रहा। भारत के आरम्भिक तथा परवर्ती प्रजातन्त्र इसी वैदिक रूप के या तो आदर्श थे या उनके विकास थे। राजा या नेता के कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

“इयं ते राट् यन्तासि यमने ध्रुवोसि धरुणः कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।”

इस शक्ति में प्रजा और राजा दोनों का अंश था और दोनों ही मिलकर समाज का नियन्त्रण करते थे।

एकतन्त्री राज्य—इसके सिवा एक और प्रवाह भी था जिसने भारत में अनियन्त्रित शक्ति तथा एकतन्त्री राज्यों का विकास किया। जब बराबर देश के एक भाग के लोग दूसरे भाग के लोगों पर विजय प्राप्त करते रहे और इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि किसी एक अथवा थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में दृढ़ शासन का अधिकार रहे, तब धीरे-धीरे एकतन्त्री तथा अनियन्त्रित राज्यों और उनकी उत्तरदायित्व-रहित तथा अनियन्त्रित शक्ति का विकास हुआ। जो लोग उनकी अधीनता में आते थे, उन पर उन्हें अपना पूरा नियन्त्रण रखना पड़ता था और अपने वश में करना पड़ता था। इस बात का कोई प्रश्न या विचार ही नहीं होता था कि प्रजा को भी राजनीतिक शक्ति का कुछ अंश दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि उन दिनों राजाओं से यही आशा की जाती थी कि वे शासन-कार्य अच्छी तरह और परम्परागत नियमों के अनुसार ही करेंगे, जनता की संस्थाओं और प्रथाओं का पूरा ध्यान रखेंगे और उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का उन्हें अधिकार न होगा; तो भी शासन तथा न्याय करने की राजनीतिक शक्ति उन्हीं के हाथ में रहती थी। राजाओं में प्रायः चक्रवर्ती होने की बहुत कामना रहती थी जिससे बहुत से एकतन्त्री राज्य उत्पन्न होते थे। धार्मिक भावों से इन आकांक्षाओं को और भी प्रोत्साहन मिलता था। अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञ विजेताओं के मानों बहुत बड़े अछ थे। इन यज्ञों के अधिकारी बनने के लिए उन्हें अपने राज्य का बहुत विस्तार करना पड़ता था। जब देश के बहुत बड़े भाग तथा जनता पर उनका अधिकार या शासन

स्थापित हो जाता था, तब जनता देश की राजनीतिक शक्ति में प्रत्यक्ष रूप से अपना अंश नहीं प्राप्त कर सकती थी, क्योंकि शासक तथा शासित भिन्न-भिन्न वर्गों या जातियों के होते थे। राज्य के एक भाग से दूसरा भाग बहुत दूर पड़ता था और उनमें जो अन्तर होते थे, उनके कारण उनमें एकता या सम्मिलित कामना नहीं उत्पन्न हो सकती थी। उन्हें केन्द्रीय शासन में सम्मिलित करना न तो सम्भव ही था और न अभीष्ट ही। उनकी आकांक्षाएँ और स्वार्थ भी समान नहीं होते थे और विदेशियों के आक्रमणों से जनता की रक्षा करने और एक दल को दूसरे दल के साथ आपस में लड़ने-झगड़ने से रोकने के लिए उन दिनों दृढ़ केन्द्रीय शासन की आवश्यकता होती थी।

जब इस प्रकार बलवान् शासक और जातियाँ बराबर एक दूसरी को विजित करती और उनसे पराजित होती रहीं, तब आरम्भिक प्रजातन्त्रों या लोकतन्त्रों का नाश हो गया और वैदिक राज्यतन्त्र न रह गया; क्योंकि वह अधिक विस्तृत क्षेत्र में और नये एकतन्त्री राज्यों में काम नहीं कर सकता था।

एकतन्त्र शासन-प्रणाली—संसार के इतिहास में अधिकतर एकतन्त्री शासन-प्रणाली ही देखने में आती हैं। यह तो अमेरिका और फ्रांस की राज्यक्रान्तियों के बाद युरोप तथा अन्य स्थानों में लोगों ने विस्तृत क्षेत्र में प्रजातन्त्र चलाने का विचार और प्रयत्न किया है। इस बीसवीं शताब्दी में ही युरोप का बहुत सा भाग उनके प्रभाव में आया है।

यद्यपि संसार के बहुत बड़े भाग में आक्रमणों और विजयों आदि के कारण ही एकतन्त्र शासन-प्रणाली उत्पन्न, विकसित तथा प्रचलित हुई है, तो भी कुछ ऐसी नई धार्मिक तथा मानसिक शक्तियाँ थीं जिनके कारण यह प्रणाली दृढ़ तथा विहित हुई। धर्म-पुरोहित तथा एकतन्त्री शासन-प्रणाली और राजाओं के पक्षपाती कहने लगे कि राजा को शासन करने का ईश्वर की ओर से अधिकार प्राप्त होता है; और हाब्स के सामाजिक समझौते या ठीके-वाले सिद्धान्त के आधार पर और हेगेल के राष्ट्रीय इच्छा तथा व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के आधार पर बड़े-बड़े विचारशील यह प्रतिपादित करने लगे कि

शासक या राजा को अपने राज्य पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त होता है ; और इसी कारण राजकीय स्वेच्छाचार तथा एकतन्त्री शासन का मुख्य आधार दार्शनिक रूप में बना और ठहरा हुआ है ।

सम्राज्य राष्ट्र—परन्तु उस समय भी ऐसे विचारशील होते थे जो यह प्रतिपादित करते थे कि यदि एकतन्त्री शासन ही हो, तो वह भी अच्छा होना चाहिए । और ऐसे लोग तथा राजा होते थे जो यह सिद्धान्त मानते थे । वे बतलाते थे कि कौन सा राजा अच्छा होता है और वह किस प्रकार अच्छा शासन कर सकता है । भारत के राजनीतिक तथा धार्मिक विचारशीलों ने उसी प्रकार सम्राज्य राष्ट्र की कल्पना का विकास किया, जिस प्रकार युरोप-वालों ने परिमित अधिकार से युक्त एकतन्त्री शासन के सिद्धान्त का विकास किया था । भारत में राज्य या शासन-प्रणाली की यह कल्पना राजनीतिक क्षेत्र में कार्य-रूप में परिणत की गई । किसी नये या वंशानुक्रमिक राजा को राज्यारोहण के समय जो शपथ करनी पड़ती थी, उसमें उसे दृढ़ प्रतिज्ञा-पूर्वक यह कहना पड़ता था कि इस समय जो नियम या कानून आदि प्रचलित हैं, और जनता की जो संस्थाएँ हैं, उनकी मैं रक्षा करूँगा । वह शपथ या प्रतिज्ञा उसे मनमानी या उत्तरदायित्व-रहित कार्रवाई करने से रोकती थी और उसे जनता के हितों के विचार से शासन करने के लिए विवश करती थी । इस सिद्धान्त में किसी बुरे राजा को राज्यच्युत करने या उसका नाश करने का भाव भी अन्तर्हित था । उससे यह सिद्धान्त और भी ज़ोर पकड़ता था कि केवल राजा ही राष्ट्र या सरकार नहीं था, बल्कि वह राष्ट्र के स्वामियों में से एक था । दूसरे तत्त्व मन्त्री या अमात्य, जनता, पौर और जानपद, दुर्ग, कोष, सेना या बल और साथी या मित्र थे । बिना इन सब तत्त्वों या अङ्गों के न तो कोई राष्ट्र पूरा, उत्तम या सम्पन्न होता था और न उसका सञ्चालन ही सम्भव था । राजा वास्तव में राष्ट्र की तीन शक्तियों में से एक था । वह प्रभुशक्ति या नियामक और रक्षक माना जाता था । दूसरी दो शक्तियाँ मन्त्र (परामर्शदाता या विचार-शील) और उत्साह (जनता या कार्य करनेवाला तत्त्व) नाम की थीं । राजा को सद्गुणों से सम्पन्न, संयमी और शिश्त

होना आवश्यक होता था। उसे अच्छे और सद्गुणों मन्त्रियों तथा अनुभवी शासकों की सहायता से और जनता की इच्छाओं, ज्ञान तथा गुणों का ध्यान रखते हुए उसकी शान्ति और कल्याण की व्यवस्था करनी पड़ती थी। वह कभी धर्म से बढ़कर नहीं माना जाता था, बल्कि उसे सदा धर्म का पालन और रक्षा करनी पड़ती थी। धर्म के अन्तर्गत केवल श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों में वर्णित धर्म ही नहीं माना जाता था, बल्कि देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, पूग-धर्म तथा श्रेणी-धर्म भी अन्तर्भूत होता था। क्षेत्रों और कार्यों का निर्वाह करनेवाले इन दलों के कर्त्तव्यों या नियमों और कानूनों में हस्तक्षेप करने का उसे कोई अधिकार नहीं होता था। उसका शासन साधारणतः अपराध, न्याय, शासन, सेना और दूसरे राज्यों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों में हुआ करता था; और यदि किसी विशेष अवसर पर राज्य पर कोई विपत्ति आने की सम्भावना होती थी तो केवल अस्थायी रूप से कुछ और विषयों में भी उसका शासन होता था। कौटिल्य के अनुसार राजा का सबसे बड़ा उद्देश्य और कर्त्तव्य इस प्रकार है—

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।

नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानान्तु प्रियं हितम् ॥

हिन्दू समाज का संघटन इस सिद्धान्त पर हुआ है कि अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग दल हों। यदि दलों और उनके कार्यों में किसी प्रकार का विरोध या संघर्ष हो तो उनका नियन्त्रण करने के लिए एक विशिष्ट शासक और राजनीतिक संघटन की आवश्यकता होती थी। राजा उस विशिष्ट संस्था का प्रधान अधिकारी होता था और साथ ही वह प्रत्यक्ष रूप से ऐसा राजनीतिक अधिकारी भी हुआ करता था जिसकी रक्षा के बिना न तो किसी दल का अस्तित्व रह सकता था और न कोई कार्य हो सकता था। परन्तु क्षेत्र या कार्य के विचार से जनता के दलों के जितने संघटन होते थे, वे अधिकांश में स्वतन्त्र होते थे और अपना शासन आपस करते थे। राष्ट्र या समाज में जाति (सामाजिक-धार्मिक वर्ग), सम्प्रदाय या पन्थ (धार्मिक दल), वर्ण (सामाजिक कार्य करनेवाला दल), श्रेणी (पेशेवालों का दल),

विद्यापीठ या आश्रम (शिक्षा देनेवाला दल), परिषद् (साहित्यिक दल), ग्राम, पुर और जानपद (क्षेत्र-सम्बन्धी दल) तथा इसी प्रकार के और अनेक दल होते थे जिनका जीवन एक दूसरे से भिन्न और वर्गीय होता था, और जो स्वयं अपनी हृच्छा से अपने बनाये हुए नियमों के अनुसार अपना संघटन करके अपनी संस्थाओं का सञ्चालन करते थे । इन सब दलों और उनके कार्यों में राजा केवल उसी समय हस्तक्षेप करके उनकी रक्षा करता था जिस समय उनमें आपस में कोई झगड़ा होता था या जब वे सरकारी राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध राजद्रोह करते थे ।

स्थानिक स्वराज्य—स्थानिक शासन-सम्बन्धी बातों में भी राजा गाँवों, नगरों और प्रान्तों को बहुत कुछ स्वतन्त्रता दे रखता था । उसके कर्मचारी केवल ऊपर से देख-रेख या निरीक्षण करते थे और बहुत कम हस्तक्षेप करते थे । केवल युद्ध, शान्ति, कर, राज्य-शासन आदि बड़ी-बड़ी बातों में ही केन्द्रीय सरकार मुख्यतः उत्तरदायी होती थी और इन्हीं कामों के लिए उसका संघटन होता था । इसमें सन्देह नहीं कि जनता के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ कार्य सरकार अपने हाथ में रखती थी; जैसे कुछ शिल्पों की उन्नति तथा सार्वराष्ट्रीय व्यापार आदि । ऐसे कार्य प्रायः एकाधिकार के रूप में हुआ करते थे; उनका राष्ट्रीय महत्त्व होता था और उनका संघटन कुछ थोड़े से लोग मिलकर निजी रूप से नहीं कर सकते थे । इसके अतिरिक्त जनता के जान-माल, स्वतन्त्रता और सम्मान, वृद्धों आदि के पालन-पोषण, रोगियों, अनाथों तथा विधवाओं के निर्वाह तथा धार्मिक कार्यों और विद्वानों आदि को वृत्ति आदि प्रदान करने का काम राष्ट्र या सरकार के हाथ में रहता था ।

अमर्त्य—अमर्त्यों या मन्त्रियों की एक परिषद् होती थी जिसमें दस, बारह, सोलह या बीस मन्त्री होते थे जिनसे राजकीय विषयों में परामर्श लिया जाता था और जिनको राज्य-सम्बन्धी विभिन्न कार्यों के विभागीक तरह से काम करने के लिए सौंपे जाते थे । राजा उनकी सम्मति सुनने और मानने तथा उसी के अनुसार शासन करने के लिए विवश होता था ।

राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों का निरीक्षण करने के लिए बहुत से निरीक्षक भी नियुक्त होते थे। जैसा कि कौटिल्य ने बतलाया है, सुसंघटित तथा उत्तम राष्ट्र में इनकी संख्या तीस से भी कुछ अधिक होती थी। हिन्दुओं ने शासन-कला पर बहुत अधिक विचार किया था और उसकी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं तथा विभागों का बहुत विचारपूर्वक संवदन किया था। राष्ट्र का न्याय-विभाग ऐसे लोगों के हाथ में होता था जो धर्म-शास्त्र या कानून के अच्छे ज्ञाता, विद्वान् तथा स्वतन्त्र विचार के होते थे। उसके दान, अर्थ-शास्त्र तथा लोक-कल्याण आदि से सम्बन्ध रखनेवाले विभाग भी बहुत अच्छी तरह संघटित होते थे।

विदेशों के साथ राष्ट्र का सम्बन्ध बहुत ही समझ-बूझकर स्थापित किया जाता था और उसके हितों की भली भाँति रक्षा की जाती थी। उसके युद्ध-सम्बन्धी नियम भी बहुत विकसित थे। इन सबका विकास एक नियमित विज्ञान के रूप में हुआ था और अनुभव तथा अध्ययन के आधार पर राजा के मार्ग-प्रदर्शन के लिए नियम बनाये जाते थे।

हिन्दुओं के लिए राजनीति एक विज्ञान, कला और मानव आवश्यकता की चीज़ थी।

हिन्दुओं में एक उत्तम राजा तथा सुसंघटित राष्ट्र या सरकार के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणा थी। इसके अतिरिक्त पश्चिमी तथा उत्तरी भारत में के कुछ भागों में शासन के कुछ और प्रकार भी प्रचलित थे जिनमें से कुछ तो कुलीन तन्त्र थे और कुछ लोकमत के आधार पर निर्मित प्रजातन्त्र थे। उन्हें गण-राज्य कहते थे। उनमें या तो एक विशिष्ट वर्ग और या सारी जनता मिलकर शासन-कार्य में सम्मिलित होती थी। उनमें से कुछ वैराज्य या भौज्य कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सरकार के कुछ ऐसे विकसित रूप भी थे जो साम्राज्य-सम्बन्धी या संघात्मक थे; जैसे—साम्राज्य और महाराज्य; और कुछ ऐसी सरकारें भी थीं जिनमें शासनाधिकार या तो किसी एक शक्ति या व्यक्ति के हाथ में रहता था और या कई शक्तियाँ या व्यक्ति मिलकर राज्य करते थे। चक्रवर्त्तों और सार्वभौम-सम्बन्धी जो कल्पनाएँ थीं, वह

समस्त भारतवर्ष को एक राष्ट्र मानकर की गई थीं और उनकी स्थापना का प्रयत्न प्राचीन काल में कई राजाओं ने किया था। ऐतिहासिक काल में चन्द्रगुप्त और अशोक ने इस प्रकार के राज्य स्थापित किये थे और दूसरे अनेक राजाओं ने इनकी स्थापना का उद्योग किया था। इसके उपरान्त भारत में समाज तथा राष्ट्र के सम्बन्ध की जागीरदारी भावना का उदय हुआ। राजा और उनके जागीरदार लोग या तो विजय प्राप्त करके और या राजाओं से दान रूप में प्राप्त करके देश-विभाग के वंशानुक्रमिक शासक तथा स्वामी हो जाते थे। भूमि पर जनता का आरम्भ से जो अधिकार चला आता था और उसे व्यक्तिगत तथा नागरिकता के सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त थे, वे धीरे-धीरे उससे छीने जाने लगे। भूमि मानों राजा या ज़मींदार की निजी सम्पत्ति हो गई। कृषक लोग उसे या तो ऐसे काश्तकार के रूप में जोतते-बोते थे जो जब चाहे, तब बेदखल कर दिये जा सकते थे; और या भूमि पर बिना किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त किये हुए मज़दूरों की भाँति काम करते थे। ज़मीन पर जो राजनीतिक अधिकार या शक्ति होती थी, वह एक वंश की या निजी वंशानुक्रमिक सम्पत्ति समझी जाने लगी थी। विवाह और दान आदि के द्वारा या युद्ध में पराजित हो जाने के कारण ज़मीन का अधिकार एक के हाथ से दूसरे के हाथ में चला जाता था। जनता किसी गिनती में ही नहीं समझी जाती थी। जिस प्रकार ज़मीन के साथ उस पर के वृक्ष तथा अन्य पदार्थ एक के हाथ से दूसरे के हाथ में चले जाते थे, उसी प्रकार प्रजा भी नये स्वामी या उत्तराधिकारी के हाथ में चली जाती थी। समाज और राष्ट्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना उत्पन्न होने पर वंशानुक्रमिक जागीरदारों, इनामदारों और तालुकदारों की सृष्टि होने लगी। इसी आधार पर वंशानुक्रमिक शासक चले चलते थे और बराबर समृद्ध होते जाते थे। मध्य युग में जीवन और शासन के सम्बन्ध में यहाँ जो यह धारणा प्रचलित हुई थी, उसके बहुत से सिद्धान्तों और प्रथाओं को हिन्दू, मुसलमान तथा अँगरेज़ शासकों ने ग्रहण कर लिया था।

मुसलमानी राज्यतन्त्र—समाज और राष्ट्र के सम्बन्ध में मुसलमानों की यह धारणा है कि इन सबका स्वामी ईश्वर है और राज्य उसी के प्रतिनिधि-स्वरूप समाज तथा देश का शासन करता है। भारत में भी वे अपनी यही धारणा साथ लेकर आये थे। उनके अनुसार राज्य उस आध्यात्मिक शक्ति या ईश्वर की पुलिस के रूप में काम करता है। ईश्वर ही सबका शासक है। इस संसार में खलीफा उस ईश्वर का प्रतिनिधि या प्रधान कर्मचारी है जो कुरान की आज्ञाओं के अनुसार शासन-कार्य करता है। राजनीतिक शक्ति केवल सच्चे धर्म की रक्षा और प्रचार के लिए है। ये दोनों ही शक्तियाँ खलीफा के हाथ में हैं। परन्तु वह निम्न कोटि की शक्तियों का प्रयोग केवल उच्च कोटि के हितों की रक्षा के विचार से करता है। वे राजनीति को धर्म के अधीन या नीचे मानते हैं। वे पापी और काफिर को भी राजद्रोही और बागी समझते हैं। जो लोग मुसलमान नहीं हैं, वे नागरिकता के समस्त अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। गैर-मुसलमानों में कुछ लोग, जैसे यहूदी और ईसाई (जो अहले-किताब कहलाते हैं अर्थात् जिनका उल्लेख कुरान में है) तो उनके राज्य में जैसे-तैसे स्थान पा जाते हैं, परन्तु मूर्ति-पूजकों आदि को उसमें कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। उनके साथ काफिरों के से व्यवहार का ही विधान है। यदि ऐसे लोग मुसलमानों द्वारा विजित देश में रहना चाहते थे, तो उन पर “जज़िया” नाम का एक धार्मिक कर लगाया जाता था।

ईश्वर के स्वामित्ववाली कल्पना—राष्ट्र और उसके शासक के सम्बन्ध में मुसलमानों में ईश्वर के ही स्वामी होने की जो कल्पना थी, उसने लोक या प्रजातन्त्री शासन-सम्बन्धी विचारों के विकास के लिए कोई स्थान ही न छोड़ा था। मुसलमानों का एकतन्त्री शासन उत्तरदायित्व से वितान्त रहित था। शासक केवल कुरान की आज्ञाओं के अनुसार ही चल सकता था; वह अपने आपको और किसी के अधीन नहीं समझता था। उसे कुरान के विधानों या खलीफाओं की आज्ञाओं के विरुद्ध चलने का कोई अधिकार ही नहीं था। ऐसा करना पाप भी था और राजद्रोह भी। इस प्रकार मुसलमान शासक या राजा एक विशिष्ट धर्म और उसके नेता के ही अधीन

रहता था, राष्ट्र या प्रजा का उस पर कोई दबाव ही न होता था। जब तक ख़िलाफ़त अविभक्त रही, तब तक तो इस सिद्धान्त में बहुत अधिक बल था। पर जब ख़लीफ़ा के निर्वाचन या उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कई परस्पर विरोधी सिद्धान्त उठ खड़े हुए और उनके माननेवालों में लड़ाईयाँ-झगड़े होने लगे, तब ख़िलाफ़त तीन भागों में बँट गई और संसार के तीन भागों में तीन ख़लीफ़ा हो गये। ख़लीफ़ा की राजनीतिक शक्ति धीरे-धीरे घटने लगी और सुलतानों के हाथ में जाने लगी, जो अधिक बलवान् शासक थे और जिन्होंने ख़लीफ़ा के राज्य का बहुत बड़ा अंश ले लिया था। मुस्लिम संसार के भिन्न-भिन्न भागों में इस प्रकार के अनेक सुलतान और अमीर राज्य करने लग गये थे; या ग़ैर-मुसलिम देशों में जाकर और विजय प्राप्त करके उन्होंने अपने नये राज्य स्थापित कर लिये थे। ऐसे सुलतानों के हाथ में धार्मिक अधिकार तो बहुत कम होता था, परन्तु जीते हुए प्रदेशों पर उनका राजनीतिक अधिकार पूरा-पूरा हुआ करता था। इस प्रकार यद्यपि उन्होंने क़ुरान के उपदेशों को मान लिया था, तो भी वे बराबर बलवान् शासक बनते जाते थे और राजनीतिक दृष्टि से इस बात का सदा ध्यान रखते थे कि हमारा अस्तित्व दृढ़ हो और हमारे स्वार्थों पर किसी प्रकार का आघात न होने पावे। इसमें सन्देह नहीं कि वे अपनी प्रजा को राजनीतिक अधिकारों तथा आर्थिक रक्षा से वञ्चित करके अपने धार्मिक विचारों का उपयोग प्रजा को पीड़ित करने में करते थे; पर फिर भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उन्हें देश की दूसरी ग़ैर-मुसलिम प्रमुख जातियों के साथ मिलकर ही काम करना पड़ता था; और उन्हें उनके कुछ धार्मिक अधिकार तथा राजनीतिक सुभीते देने ही पड़ते थे। जिस समय देश में कोई भीतरी युद्ध छिड़ता था या किसी बाहरी शत्रु के साथ लड़ाई होती थी, उस समय वे अपने उन ग़ैर-मुसलिम साथियों को भी अपने मुसलमान विरोधियों के साथ लड़ा दिया करते थे।

भारतवर्ष के मुसलमान शासक अपने मूल मुसलिम राज्यतन्त्र की कठोरता कम करने के लिए विवश हुए थे। पर फिर भी कभी-कभी इधर-उधर कुछ शासक अपनी प्रजा के साथ व्यवहार करते समय अपनी धार्मिक भाव-

नाम्नों और कृत्यों का अनुकरण तथा प्रयोग करते थे। शेर शाह और अकबर ने केवल क्षेत्रीय और राजनीतिक शासक बनने का प्रयत्न किया था और राजनीति पर से धर्म का प्रभाव घटाना चाहा था। वे अपनी प्रत्येक प्रजा को, चाहे वह मुसलमान हो और चाहे गैर-मुसलमान, समान रूप से नागरिक समझते थे और उसे नागरिकता, धर्म और राजनीति-सम्बन्धी वैसे ही स्वतन्त्रता देते थे, जैसी मुसलमानों को।

जागीरदारी की भावना—परन्तु फिर भी उन लोगों में राजनीतिक शक्ति की जागीरदारीवाली प्रथा का भाव बना ही रहा। उनके समय में लोकतन्त्र का कोई भाव नहीं था। यही माना जाता था कि व्यक्ति विजय द्वारा राज्य प्राप्त करता है और राज्य उसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति होता है। बहिश्त का मालिक खुदा इस दुनिया की बादशाहत का मालिक नहीं होता था, बल्कि इस दुनिया का बादशाह अलग होता था जो अपने अनुयायियों और सरदारों के साथ मिलकर अपनी राजनीतिक विजयों से होनेवाले साम्प्रतिक लाभों का सुख भोगता था। उसके सैनिक अनुयायियों को जो सम्पत्ति और शक्ति प्रदान की जाती थी, वह उनके विद्रोही होने या मरने पर फिर उसी बादशाह को प्राप्त हो जाती थी। यदि वह चाहता तो उसके उत्तराधिकारियों को वह शक्ति तथा सम्पत्ति फिर से प्रदान कर सकता था। स्वयं बादशाह को छोड़कर और किसी को सदा के लिए कोई शक्ति या सम्पत्ति नहीं मिल सकती थी। इससे यह पता चलता है कि शासक और शासित में हितों की रक्षा का कोई समान भाव नहीं होता था। इसके विपरीत शासितों को अपना कोई निजी अधिकार नहीं होता था। केवल शासक ही सब कुछ होता था। जो कुछ उसके मन में आता था, वही माने का नून होता था। जो बात उसे नापसन्द होती थी, वही माने अपराध और विद्रोह में गिनी जाती थी। वह जो बात होने देता था, उसे सब सहन करते थे। वहाँ हर एक काम केवल आवश्यकता के विचार से किया जाता था। न्याय अथवा समानता के सिद्धान्त के आधार पर कोई कानून नहीं होता था। मुसलमान शासक जहाँ आवश्यकता-वश अथवा

मनमाने तौर पर सहनशीलता का भाव दिखलाते थे और जनता के कल्याण का ध्यान रखते थे, वहाँ जनता के स्थानिक, सामाजिक या धार्मिक विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता था। जाति या सम्प्रदाय तथा गाँवों की पञ्चायतें अपने गृह्य विषयों का प्रायः स्वयं ही सब प्रबन्ध करती थीं। केन्द्रीय सरकार और उसके कर्मचारी मुख्यतः पर-राष्ट्रनीति, युद्ध, देश की शान्ति की रक्षा और कर-संग्रह का ही विशेष ध्यान रखते थे। सेना, पुलिस और माल-विभाग के संघटन में प्रायः सैनिक अधिकारियों को बहुत कुछ अधिकार दे दिये जाते थे। नागरिक शासक या तो उनके अधीन रहते थे या उनके नियन्त्रण में काम करते थे। मुसलमान बादशाहों में केवल शेर शाह और अकबर ने ही कुछ समय के लिए सैनिक अधिकारियों को नागरिक अधिकारियों के अधीन किया था। यदि लड़नेवाले पक्षों में से कोई एक पक्ष मुसलमान होता था या अपराध बहुत बड़ा होता था, तो या तो स्वयं बादशाह और या क़ाज़ी उसका न्याय करता था। और यदि अपराध साधारण होता था और जन-साधारण से सम्बन्ध रखता था, तो उसका निर्णय गाँव या नगर की पञ्चायतें ही करती थीं। इस प्रकार सरकार और जनता में जो विवादास्पद विषय होते थे और स्वयं जनता में आपस में जो झगड़े होते थे, उनके निर्णय के लिए सरकारी न्यायालय हुआ करते थे।

शासन-विभाग न तो निश्चित ही थे और न सुसंघटित ही। शासक की इच्छा के अनुसार वे घटते-बढ़ते रहते थे। जिस विषय में वह चाहता था, उसमें स्वयं हस्तक्षेप करता था। इस प्रकार सारे शासन-कार्य का मूल वही था और सारा शासन उसी के निरीक्षण में होता था।

इस प्रकार यह एक ऐसा व्यक्तिगत स्वेच्छाचारपूर्ण शासन था जिसे धर्म, जनता या उसके परामर्शदाताओं और प्रतिनिधियों में से कोई रोक नहीं सकता था।

ब्रिटिश राज्यतन्त्र—शासन की ब्रिटिश प्रणाली कुछ तो विजयों का परिणाम है, कुछ अनुकरण का और कुछ अँगरेज़ी परम्परा तथा रचना का। उन्होंने भारत को जीता है, इसलिए उनका शासन एक प्रकार का

दण्ड या भार है और उसमें स्वेच्छाचार है। पुराने बादशाहों के उत्तराधिकारी होने के कारण उनका शासन उत्तरदायित्व-रहित तथा मनमाना है; और वे द्वैध ब्रिटिश स्वतन्त्रता तथा शासन-प्रणाली के प्रतिनिधि हैं, इसलिये वे आजकल एक ऐसी द्वैध शासन-प्रणाली का प्रयोग कर रहे हैं जिसमें प्रतिनिधित्व के आधार पर ब्रिटिश तथा भारतीय दोनों ही तत्त्व मिले हुए हैं। उन्होंने अभी तक ऐसी शासन-प्रणाली मान्य और स्वीकृत ही नहीं की है जो सब तरह से जनता के प्रति उत्तरदायी हो; फिर उसे कार्य रूप में परिणत करना तो बहुत दूर की बात है।

स्वेच्छाचारपूर्ण और नौकरशाही से युक्त—ब्रिटिश भारत का शासन बहुत कुछ स्वेच्छाचारपूर्ण है। सब अधिकार वाइसराय या बड़े लाट और भारत-मन्त्री को प्राप्त हैं जो ब्रिटिश पार्लिमेंट के समक्ष उत्तरदायी हैं। शासन-कार्य शासकों अर्थात् ब्रिटिश जनता के हित के विचार से किया जाता है। उसका संघटन नौकरशाही से हुआ है और वह ऐसी सिविल सर्विस के हाथ में है जिसकी नियुक्ति तथा नियन्त्रण आदि सेक्रेटरी आफ़ स्टेट या भारत-मन्त्री करता है। भारतीय विषयों में सब से बड़ा अधिकार ब्रिटिश पार्लिमेंट को ही प्राप्त है। न तो उसमें भारत का कोई प्रतिनिधि है, न वह भारतीय लोकमत के प्रति उत्तरदायी है और न उस लोकमत की कुछ परवाह ही करती है। भारत पर भारतवासियों का कोई नियन्त्रण नहीं है। भारत में जो नई लेजिस्लेटिव काउंसिल बनी है, उसके निश्चय भी गवर्नर-जनरल के लिए कोई बन्धन या बाधक नहीं हैं। वे निश्चय आज्ञा के रूप में नहीं, बल्कि केवल सिफ़ारिश के रूप में होते हैं। वह सभी विषयों में उन निश्चयों के विपरीत काम कर सकता है। इसी प्रकार प्रान्तीय बातों में प्रान्तीय गवर्नरों को अपरिमित अधिकार प्राप्त होते हैं। जो विषय लेजिस्लेटिव काउंसिल से स्वीकृत नहीं होता, उसे भी वह अपनी इच्छा और अधिकार से कार्य-रूप में परिणत कर सकता है। जो क़ानून लेजिस्लेटिव काउंसिल से न भी स्वीकृत हो, उसे भी वह स्वीकृत कर सकता है। रचित विषयों में तो उसे सब बातों का पूरा-पूरा अधिकार है ही, हस्तान्तरित

विषयों पर भी उसका बहुत कुछ प्रभाव रहता है; और वह सरकारी कर्मचारियों तथा सरकार द्वारा नामांकित सदस्यों आदि की सहायता से उनमें भी अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं होने देता ।

शासन में कार्यकारी शासकों का प्रभुत्व—भारत में वास्तविक लोकतन्त्र या प्रजातन्त्र के दङ्ग की शासन-प्रणाली नहीं है । न्याय-विभाग और क़ानून बनाने में भी कार्यकारी शासकों का ही शासन या प्रभुत्व है । अन्तिम निर्णय करने और किसी निश्चय को न मानने का अधिकार प्रान्तीय गवर्नर की कार्यकारिणी सभा को प्राप्त है । हाँ, अँगरेज़ों ने नित्य-प्रति के शासन-कार्यों, भिन्न-भिन्न क़ानूनों के रूपों, क़ानूनी और न्याय-विभाग-सम्बन्धी कार्रवाइयों, राजकीय सेवा-सम्बन्धी विधानों, विभागों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा और बहुत सी दूसरी बातों का बहुत कुछ संघटन और विभाग किया है । यह नौकरशाही खूब अच्छी तरह से संघटित है; इसमें बहुत सूक्ष्म भेद-विभेद हैं; इसका नियन्त्रण बहुत अच्छा है; और इसके कर्त्तव्य, कार्य तथा अधिकार आदि ठीक तरह से निश्चित किये हुए हैं । लेकिन फिर भी यह विदेशी शासन है और विदेशियों के हित के विचार से ही इसका संचालन होता है । यह ऐसा राष्ट्रीय शासन नहीं है जो मुख्यतः और पूर्ण रूप से केवल जनता के हित के विचार से ही काम करे ।

(२) सरकार और जनता

सहयोग और संघटन की आवश्यकता—हम लोग एक ऐसे युग में हैं जिसमें विस्तृत राष्ट्रीय नीतियों तथा उपयोगी और लाभदायक बड़े-बड़े सार्वजनिक कार्यों का विकास सब जगह केवल दो ही मुख्य तत्त्वों के आधार पर होता हुआ देखा जाता है । उनमें से एक तो सहयोग है और दूसरा संघटन । ठीक तरह से पूरा काम करने के लिए लोगों को आपस में मिलना पड़ता है; और एक साथ मिलकर काम करने के लिए समान विचार और समान उद्देश्य की आवश्यकता होती है । किसी काम को निरन्तर तथा सफल-

तापूर्वक चलाने और उसकी उन्नति करने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न और व्यवस्था अपूर्ण होती है; क्योंकि वह क्षणिक तथा अनियमित होती है। जब बहुत से लोग मिलकर अच्छा संघटन करते हैं, तभी पूरी-पूरी सफलता होती है। बड़ी-बड़ी कठिन समस्याओं के निराकरण और बहुत से देशों को दूर करनेवाली रामबाण ओषधि यही है और सफलता की कुञ्जी तथा मूल मन्त्र भी यही है। इसके अतिरिक्त उन्नत राष्ट्रों के इतिहास से यह बात और भी अच्छी तरह स्पष्ट तथा सिद्ध होती है कि जनता की उन्नति पर पूरा-पूरा ध्यान देने के लिए वही राष्ट्र उपयुक्त है, जिसमें अपने देश के निवासियों की उन्नति के विचार से समस्त जनता का प्राकृतिक और कृत्रिम दोनों ही प्रकार से सहयोग और संघटन होता है। राष्ट्र को ही जनता के कल्याण के लिए नई-नई योजनाएँ बनानी और चलानी चाहिए और उन सब उपयोगी कामों को जारी रखना चाहिए जिनमें उसकी सहायता, प्रोत्साहन, परामर्श तथा रक्षा की आवश्यकता होती है।

राष्ट्र के व्यक्तिवादी और समष्टिवादी सिद्धान्त—अब एक ऐसे नये आचार्यों का वर्ग उत्पन्न हो गया है जो यह प्रतिपादित करते हैं कि राष्ट्र या सरकार को ही सब काम अपने हाथ में लेने चाहिए और व्यक्तिगत प्रयत्न के लिए कोई काम नहीं छोड़ना चाहिए। वे प्रत्येक कार्य का उत्तर-दायित्व सरकार या राष्ट्र पर ही रखना चाहते हैं। वे यद्यपि व्यक्ति का अस्तित्व एक दम से नहीं मिटा देना चाहते, तो भी उसे कम से कम एक औज़ार या मशीन बना देना चाहते हैं। पर वास्तव में कोई मनुष्य ऐसी अवस्था में पहुँचना और यह प्रवृत्ति ग्रहण नहीं करना चाहता और न कोई यही चाहता है कि व्यक्तित्व बिलकुल गौण होकर सबसे पीछे हो जाय। संसार में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो केवल व्यक्तिगत उद्योग, मौलिकता तथा ज्ञान के कारण हुई हैं। हम जिस स्थिति को पहुँचना और जिस मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं, वह यह है कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनों का ही उनके अलग-अलग क्षेत्रों में ठीक तरह से उपयोग हो सके। जो काम थोड़े से आदमी न कर सकते हों, उसे पूरा करना राष्ट्र के जिम्मे होना चाहिए।

परन्तु जो काम हम स्वयं कर सकते हैं और जिसे करना हमारा कर्त्तव्य हो, उसके लिए हमें राष्ट्र या सरकार का मुँह न ताकना चाहिए। नहीं तो उन सभी व्यक्तिगत गुणों का नाश हो जायगा जिनके कारण लोग साहसपूर्वक बड़े-बड़े काम कर डालते हैं, अच्छे-अच्छे मौलिक अन्वेषण करते हैं, ईमानदारी के साथ प्रतियोगिता करते हैं और अच्छे ढंग से आत्म-विकास करते हैं। इन सब गुणों के नष्ट होने पर मनुष्य फिर अपनी आरम्भिक वन्य अवस्था को पहुँच जायगा। हमारा यह विश्वास है कि ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनके लिए केवल निजी और व्यक्तिगत उद्योग होना चाहिए। हमें केवल उसी दशा में राष्ट्र या सरकार का मुख्यापेक्षी होना चाहिए जब कि कोई ऐसा बहुत बड़ा काम आ पड़े जिसमें सारे राष्ट्र को सहयोग करना और संघटित होना पड़े। और सहयोग तथा संघटन केवल उसी दशा में हो सकता है जब समाज के प्रमुख तथा सर्वोपरि अधिकारों का प्रतिनिधित्व करनेवाली सरकार और राष्ट्र के सभी साधनों पर अधिकार रखनेवाली सरकार मनेयोगपूर्वक अपने ऊपर उत्तरदायित्व ले ले और कर्त्तव्य-पालन में लग जाय।

सरकार का कर्त्तव्य—आजकल बहुत बड़े-बड़े प्रयत्न तथा कार्य होते हैं और बड़े-बड़े राष्ट्र अपने स्वार्थों को सबसे आगे रखना चाहते हैं, कमज़ोरों को दबाकर उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि सारे राष्ट्र का अस्तित्व बहुत ही संकटपूर्ण हो रहा हो, कोई सरकार केवल अपने देश की आन्तरिक शान्ति तथा व्यवस्था की चिन्ता में ही मग्न होकर चुपचाप नहीं बैठी रह सकती और न उसे इस प्रकार बैठे रहना चाहिए। बहुत से ऐसे काम थे जो पहले सरकार के कर्त्तव्य-क्षेत्र के बाहर समझे जाते थे, परन्तु अब वे सब उसके ही हाथ में आ गये हैं। उसके कार्य बढ़ गये हैं, शक्ति विस्तृत हो गई है, दृष्टिकोण फैल गया है और उत्तरदायित्व बहुत अधिक हो गये हैं। अब उसे अपनी प्रजा की सर्वांगीण उन्नति तथा विकास की ओर अधिक दृष्टिचित होना पड़ता है। उसे ऐसा प्रत्येक कार्य करना चाहिए जो जनता के स्वास्थ्य तथा समृद्धि का वर्धक हो। अब सरकार किसी एक वर्ग या व्यक्तिगत स्वार्थों की प्रतिनिधि नहीं रहनी चाहिए,

बल्कि समस्त राष्ट्र की प्रतिनिधि होनी चाहिए। अब वे दिन चले गये जब खूब मनमानी कारवाइयाँ होती थीं, लोगों को खूब इनाम और जागीरें दी जाती थीं और उन पर अनेक प्रकार के मनमाने अनुग्रह किये जाते थे। अब तो जब तक कोई सरकार समस्त राष्ट्र के हितों की रक्षा और प्रतिनिधित्व न करे, तब तक वह सरकार कहलाने की अधिकारी ही नहीं होती। सरकार का अस्तित्व केवल तभी तक रहना चाहिए, जब तक शिक्षित और समझदार लोग उसका समर्थन करें और उसे चलाना चाहें। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि सरकार राष्ट्र के माता-पिता के समान होती है और उसे राष्ट्र या जनता के कल्याण के लिए सदा अपनी नीति ठीक रखनी चाहिए और उत्तम रीति से उसका विकास करते रहना चाहिए जिसमें जनता ज्ञान तथा कर्म के उच्चतर तथा उज्ज्वलतर मार्गों पर बराबर अग्रसर हो सके।

आधुनिक काल में सरकार का कर्तव्य—आजकल हम देखते हैं कि सब जगह सरकार का यह एक सर्वमान्य सा कर्तव्य हो रहा है कि वह जनता की सब प्रकार से भौतिक, शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक उन्नति और कल्याण करे; क्योंकि उसने समाज के धार्मिक, सामाजिक तथा शिष्टक वर्गों के कर्तव्यों पर या तो स्वयं अधिकार कर लिया है और या वे कर्तव्य उस पर छोड़ दिये गये हैं। यद्यपि सरकार की सृष्टि आरम्भ में मुख्यतः राजनीतिक कार्यों के लिए ही हुई थी, परन्तु यूनानी और जर्मन पितृप्रधान एकाधिकारी और समष्टिवादी प्रभावों के कारण वह सभी सामाजिक कार्यों में प्रधान और सञ्चालक शक्ति हो गई है। सरकार के सामाजिक और लोक-कल्याण के कार्य उसके उन कानूनों में प्रकट होते हैं जो वह शिल्प, समाज और शिक्षा आदि के सम्बन्ध में बनाती है और जिनका पालन वह अपने शिल्प, व्यापार, गमनागमन के साधन, कृषि, सिंचाई, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा इसी प्रकार की और बातों से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे विभागों के द्वारा करती है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सरकार जनता के कल्याण के लिए उत्तरदायी होती है; और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और जापान ने इस प्रकार के कामों को सरकारी सहायता

देने और उनका संरक्षण करने की नीति का अवलम्बन कर रखा है और वे अपने देश की संस्कृति, भौतिक सम्पन्नता और वैज्ञानिक उन्नति के ऊँचे तल पर ले आये हैं। अब तो सरकार का मुख्य कर्त्तव्य ही यह हो गया है कि वह बहुत समझदारी के साथ जनता के जीवन का नियन्त्रण करे और अपने कानूनों तथा कार्यकारी विभागों के द्वारा उनके हितों की रक्षा तथा वृद्धि करे। अब सरकार तथा जनता के हितों का विचार और विकास लोकतन्त्री संघटनों के अधीन होता है। परन्तु भारत में राजनीतिक समस्या जटिल हो रही है।

आजकल संसार में विदेशी शासन असह्य हो रहा है—

आजकल लोगों का राजनीतिक जीवन देश में होनेवाले विदेशी शासन पर ही निर्भर करता है और उस राजनीतिक जीवन का स्वरूप भी उसी के अनुसार बन रहा है। उस विदेशी शासन ने जो दोष तथा स्वार्थ उत्पन्न कर दिये हैं, उन्हीं के विरुद्ध ये सारी कार्रवाहियाँ और आकाँक्षाएँ हो रही हैं। आजकल का संसार विदेशी शासन सहन नहीं करता। उसका यही विश्वास है कि जनता का कल्याण इसी में है कि वह अपना शासन आप करे। विदेशी शासन अन्त में कभी कल्याणकारी सिद्ध नहीं होता। विदेशी शासन मुख्यतः थोड़े से लोगों के लाभ के लिए होता है और जनता में राष्ट्रीय शक्ति तथा स्वतन्त्रता-सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण करने की जो बुद्धि होती है, उसका विदेशी शासन में विकास नहीं होता, बल्कि उसमें बाधा पड़ती है। विदेशी शासन के विचार और स्वार्थ शासितों के विचारों और स्वार्थों के विपरीत होते हैं। इस व्यवस्था में विदेशी शासकों का ही अधिकार प्रबल होता है और वह भार सा जान पड़ता है। उससे स्वतन्त्रता के भावों को कभी प्रोत्साहन और बल नहीं प्राप्त होता। हाँ, जनता के साथ उसका जो विरोध और संघर्ष होता है, उससे लोग आलस्य त्यागकर जाग्रत हो जाते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो उनकी एकता में सहायक होती हैं, उनके आन्तरिक दोष दूर करती हैं, उनके आन्तरिक सम्बन्ध ठीक करती हैं और उनमें सहयोग का भाव उत्पन्न करती हैं। परन्तु फिर भी जनता के आचरण पर उस समय उसका बुरा और घातक प्रभाव पड़ता है,

जब वह लोगों में विरोध और मतभेद उत्पन्न करके शासन करने की नीति का अवलम्बन करता है।

जनता की जाग्रति—इस देश के निवासियों की समझ में यह तत्त्व बहुत ही देर से आया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतवासी यह समझने लगे कि यहाँ का विदेशी शासन बहुत त्रुटिपूर्ण है और उसका प्रभाव हमारी उन्नति के लिए बहुत बाधक है। उस समय शिक्षित लोग छोटे-छोटे दलों में सम्मिलित होकर उसके सम्बन्ध में विचार करने लगे और नये-नये सुधारों का प्रस्ताव करके उन दोषों को दूर करने या घटाने के उपाय ढूँढ़ने लगे। उसी समय देश में वैध आन्दोलन आरम्भ हुआ। पर वह आन्दोलन केवल राजनीतिक नहीं था। जब लोग स्वयं अपनी आन्तरिक अवस्था पर भी विचार करने लगे, तब वह आन्दोलन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी भी हो गया, जिनके द्वारा लोग फिर से अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करना चाहते थे। देश के राजनीतिक पतन के मूल कारणों का अनुसन्धान करने में जीवन के सभी अङ्गों पर विचार किया गया है। उसके सामाजिक विचारों तथा स्वरूपों, धार्मिक विश्वासों और कृत्यों, शिल्प-सम्बन्धी स्थिति तथा उन्नति, शिक्षा-सम्बन्धी शक्ति और उसकी वृद्धि आदि सभी बातों का अध्ययन तथा विचार किया गया, उसके दोष और अनुपयुक्तताएँ बतलाई गईं और नये-नये सुधार तथा विचार लोगों के सामने रखे जाने लगे और उनके अनुसार काम होने लगा। इसी उद्योग और प्रयत्न में नवीन स्वतन्त्रता का जन्म और प्राचीन मिथ्या विचारों का हास हुआ, लोक-सेवा का अवसर उत्पन्न हुआ और व्यक्तिगत बल तथा निजी शक्ति का विकास हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस राष्ट्रीय सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन की सफलता के मार्ग में पुरानी और नई परम्परागत तथा नवीन आरोपित परिस्थितियों के कारण बड़ी भारी बाधा पड़ी, पर उसका मुकाबला करके उसे दबाया गया।

विदेशी शासन के प्रभाव—विदेशी शासन ने यहाँ ऐसी सेना और पुलिस तैयार की है जो देश के लाभ और हानि का विचार छोड़कर केवल

अपने वेतन के विचार से अपने अफसरों के आज्ञानुसार ही सब कुछ करने को तैयार रहती है; कुछ ऐसे नये वर्ग उत्पन्न कर दिये हैं जिनके साथ खास रिश्तायत की जाती है और उनके लिए नवीन स्वार्थों का निर्माण किया है। अपने नवीन स्वामियों के प्रति इन सब लोगों की निष्ठा और भक्ति केवल अपने हितों के विचार से बढ़ रहती है। इसके अतिरिक्त यहाँ कुछ ऐसे वर्ग भी थे जिनका राजनीति से कोई सम्बन्ध न था और न जिनका कोई राजनीतिक महत्त्व ही था। सामाजिक दृष्टि से वे कुछ हीन समझे जाते थे जिसके कारण वे मन में द्वेष रखते थे। साथ ही कुछ ऐसे समाज भी थे जो या तो पहले से ही विदेशी धर्मों के अनुयायी थे और या जिन्होंने बाद में वे धर्म ग्रहण कर लिये थे। ऐसे लोग भारतीय धर्मों के अनुयायियों से घृणा, विरोध या भय का भाव रखते थे। ये सब लोग नये स्वामियों के साथ मिलकर उनका समर्थन करने लगे और उनसे उन्हें नये अधिकार तथा सुभीते प्राप्त हुए। विदेशी सैनिक तथा सिविल विभाग के कार्यकर्ताओं, पूँजीदारों, शिल्पियों, व्यापारियों, चाय, नील आदि की खेती करनेवालों और महाजनों आदि के कारण भी बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं; क्योंकि इन सब लोगों का लाभ इसी में था कि देश में वह नई राजनीतिक व्यवस्था बनी रहे जिससे उनकी जीविका, शिल्प, व्यापार और खेती आदि का काम बहुत ही सहज में चलता था और जिससे उन्हें बहुत अधिक लाभ होता था। देश में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए जो आन्दोलन होता था, वह इन सब कामों और मुनाफों के लिए हानिकारक होता था। लोगों का यह कहना उन्हें पसन्द नहीं आता था कि भारतवर्ष केवल भारतवासियों के लिए है। राजनीतिक स्वतन्त्रता उनके लिए नई प्रतियोगिता और नई बाधाएँ खड़ी करती थी और ऐसी राष्ट्रीय व्यवस्था करना चाहती थी जो भारतीय शिल्पों तथा व्यवसायों आदि की रक्षा करना चाहती थी। नये राष्ट्रीय आन्दोलन का काम इन्हीं कठिनाइयों और विरोधों के रहते हुए चलाना पड़ता था। इसके सिवा इस देश के अधिकांश लोगों की रहन-सहन मध्य-कालीन युग की सी थी और लोगों के धार्मिक विचार बिल्कुल पुराने ढङ्ग के

थे जिनसे उनमें अज्ञान और उदासीनता फैली हुई थी। भारतीय मनोभाव तथा समाज की ये सब बातें भी बहुत ही निरुत्साहित करनेवाली थीं। भारतीय समाज ऐसे अङ्गों और दलों में विभक्त है जो ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़े हैं और जिनमें सामञ्जस्य का अभाव है; इससे भारतीय एकता तथा शक्ति के सम्पादन में बड़ी बाधा पड़ती है और आगे बढ़ने का जो प्रयत्न होता है, उसमें रुकावट होती है।

यदि विदेशी शासन पूर्ण रूप से और केवल शासितों के हित के विचार से हो तो उससे कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से कुछ लाभ भी होता है। यदि ऐसा शासन सम्भव हो तो अरस्तू के शब्दों में वह 'कुलीन तन्त्र' अथवा योग्य व्यक्तियों का शासन कहा जायगा। अर्थात् वह ऐसा शासन होगा जिसका सञ्चालन बहुत से लोगों के हित की दृष्टि से थोड़े से योग्य व्यक्ति करेंगे। पर साधारणतः ऐसा शासन सम्भव नहीं है। जब कहीं विदेशियों का शासन होता है, तब वे सरकारी नौकरियों और पदों आदि पर अपना एक विशेष अधिकार स्थापित कर लेते हैं। शिल्प, व्यापार, कृषि, धार्मिक संस्थाओं, लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने और सामाजिक तथा जातीय दृष्टि से वर्णसङ्करों आदि के सम्बन्ध में भी उन्हें इसी प्रकार के कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। फिर कभी कोई जाति किसी देश पर इसलिये विजय नहीं प्राप्त करती कि उस देश के लोगों का मङ्गल या कल्याण करे। साधारणतः राजनीतिक आकांक्षाओं तथा आर्थिक लाभों के विचार से ही प्रेरित होकर कोई जाति दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती है। प्रायः कहा जाता है कि विदेशी परोपकार दृष्टि से यहाँ शासन करते हैं और उन्हें ईश्वर की ओर से यहाँ के लोगों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। पर इस कथन का प्राप्त अधिकारों तथा राजनीतिक शान-शौकत और आकांक्षाओं के सामने बिलकुल खण्डन हो जाता है और इतिहास से यह बात बिलकुल मिथ्या सिद्ध होती है। विदेशी विजेताओं के आने के कारण वहाँ कुछ अच्छी बातें उत्पन्न हुई हैं और वहीं विजितों को कुछ लाभ हुआ है जहाँ विदेशी विजेता विजितों के साथ सामाजिक दृष्टि से मिल-

जुल गये हैं। दो विरोधी स्वार्थ कभी नया और अच्छा जीवन नहीं उत्पन्न कर सकते। इसमें एक जाति का सदा प्रभुत्व बना रहता है और दूसरी जाति का सदा हास होता रहता है। वहाँ शायद ही कभी सुख और आनन्द, समान आकांक्षा अथवा भाव उत्पन्न होता हो। इसी लिए दोनों का मिलकर एक होना कभी सम्भव नहीं। इसके विपरीत राष्ट्रीय शरीर में ऐसे उत्पात करनेवाले और केन्द्र से विच्छिन्न रहनेवाले दल तथा अङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं जो अपने स्वार्थ या भिन्न आशाओं और विचारों के कारण उस मूल शरीर के साथ कभी मिलना नहीं चाहते और राष्ट्र के शरीर पर स्थायी रूप से ऐसे घाव के समान बने रहते हैं जो उस शरीर के रक्त आदि को दूषित करके स्वयं बढ़ते रहते हैं।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस देश के शासकों और शासितों के हित समान और एक नहीं हैं, बल्कि उन दोनों में एक स्वाभाविक विरोध है। दोनों के आर्थिक हितों में संघर्ष होता रहता है और दोनों की राजनीतिक आवश्यकताएँ तथा आकांक्षाएँ सदा एक दूसरी से भिन्न रहती हैं। इनमें से एक दूसरे की सभ्यता तथा सामाजिक जीवन को बुरा समझता है और उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता देने और स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाएँ उत्पन्न करने और उनका उपभोग करने के अयोग्य समझता है। दूसरा कहता है कि पूर्ण कभी परिवर्तित नहीं हो सकता और केवल पश्चिम ही उन्नति करता रहेगा। ऐसी अवस्था में केवल जनता की इच्छाओं और बुद्धिमत्ता का ही आदर होना चाहिए। संसार में किसी को दूसरे पर अत्याचार करने का कभी कोई अधिकार नहीं है; हाँ, अपने देश का शासन स्वयं करने का अधिकार सब को प्राप्त है।

परिच्छेद ४

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(३) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन

इसके आरम्भिक मार्ग-दर्शक—कोई नया राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा करने के लिए जनता की मानसिक और नैतिक जाग्रति की आवश्यकता होती है जो उनके निश्चयों और विश्वासों को दृढ़ करती और उनके प्रयत्नों को बलवान् बनाती है। चारों ओर फैले हुए देशों के विरुद्ध मनुष्य का विवेक अवश्य जाग्रत होना चाहिए। अपनी सद्यः परिस्थिति में उसके विवेक की स्वतन्त्रता को अपना स्थान दृढ़तापूर्वक प्राप्त करना चाहिए और इस प्रकार अपने भाषणों, कार्यों और कष्ट-सहन के द्वारा एक ऐसा आदर्श खड़ा करना चाहिए जिसका और लोग अनुकरण करें। भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध कुछ लोगों के मन में विचार उत्पन्न हुआ था; बल्कि यों कहना चाहिए कि कुछ बहुत बड़े-बड़े व्यक्तियों के मन में उसके प्रति ईश्वर की ओर से असन्तोष उत्पन्न हुआ था। यह भीतरी असन्तोष प्रायः सुधार, पुनरुत्थान या क्रान्ति के रूप में प्रकट होता था और इन्हीं रूपों में यह दूसरों के मन में भी उत्पन्न किया जाता था। लोग उसे अच्छा समझकर उसके अनुयायी बनने लगे। उन्होंने अपने कार्य के लिए जीवन के कुछ विशिष्ट क्षेत्र चुन लिये और उन्हीं में सुधार करने के विचार से अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिये वे कार्य और संघटन करने लगे। आरम्भिक जाग्रति धार्मिक और सामाजिक थी। धार्मिक जाग्रति और सुधार आदि का अधिकांश श्रेय राजा राममोहन राय, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, थियासोफिस्टों, उनके साथियों तथा

कुछ और लोगों के प्रयत्नों को प्राप्त है। इस जाग्रति से सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी जाग्रति में भी बहुत कुछ सहायता मिली थी।

सामाजिक सुधार का बहुत कुछ आन्दोलन राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, जस्टिस रानडे तथा कुछ और लोगों ने चलाया था। शिक्षा-सम्बन्धी क्रान्ति के आरम्भिक मार्ग-दर्शक जे० एन० टाटा तथा कुछ और लोग थे; और स्वदेशी आन्दोलन से उसे बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला था। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ऐसे लोग थे जिनके नाम यहाँ सहज में नहीं गिनाये जा सकते, पर जिन्होंने अपने उदाहरण तथा शान्तिपूर्ण कार्यों से अपने-अपने स्थान, वर्ग, जाति और सम्प्रदाय में जाग्रति उत्पन्न की थी। लोगों में नये राष्ट्रीय महत्त्व का भाव उत्पन्न किया था; उनका दृष्टिकोण विस्तृत किया था और उन्हें व्यक्तिगत, सामाजिक तथा आत्मिक स्वतन्त्रता के उच्चतर सिद्धान्त बतलाये थे।

आरम्भिक सभाएँ—इन सब लोगों और इनके आरम्भिक प्रयत्नों ने एक ऐसा आधार और भूमिका प्रस्तुत कर दी थी, जिस पर उच्चतर राजनीतिक तथा राष्ट्रीय भाव या विवेक की जाग्रति स्थित होकर उन्नति कर सकती थी। देश के भिन्न-भिन्न भागों में कतिपय वास्तविक घटनाओं के कारण राजनीतिक जाग्रति बराबर सम्भव होती जाती थी। सारे देश में राजनीतिक प्रचार-कार्य का संघटन करने, लोगों में राजनीतिक एकता का भाव उत्पन्न करने और उन्हें कार्य करने के लिए मिलाकर एक करने के उद्देश्य से सन् १८७६ में कलकत्ते में इंडियन एसोसिएशन नामक संस्था की स्थापना हुई थी। शिक्षित वर्ग ने उसका अच्छा समर्थन और पृष्ठ-पोषण किया था। सुरेन्द्र-नाथ बनर्जी उसके सञ्चालक तथा मार्ग-दर्शक थे। सन् १८७७ में दिल्ली में जो दरबार हुआ था, उसने लोगों में एकता का भाव उत्पन्न तथा दृढ़ कर दिया था; और भारत में स्वेच्छाचारपूर्ण शासन को रोकने के लिए वैध आन्दोलन आरम्भ किया था। सन् १८८४ में बङ्गाल में नैशनल लीग बनी; उसी वर्ष मदरास में महाजन सभा खुली और सन् १८८५ में बम्बई प्रेसिडेंसी एसोसिएशन की स्थापना हुई। ये सभी संस्थाएँ यह बतलाती थीं

कि इस समय लोगों का क्या रुख है। सन् १८८३ में इलबर्ट बिल के सम्बन्ध में जो वाद-विवाद उत्पन्न हुआ था, उससे सब लोगों को स्पष्ट रूप से यह पता चल गया था कि भारत में ब्रिटिश शासन का मुख्य स्वरूप और नीति क्या है। सब जगह यह बात स्पष्ट रूप में देखने में आती थी कि शासकों और शासितों के हितों या स्वार्थों में बहुत बड़ा विरोध तथा अन्तर है; और अब समस्त भारत को अपना अधिकार प्राप्त करने और अपने सम्बन्ध में मत प्रकाशित करने के लिए मिलकर एक हो जाना चाहिए।

एकता की आरम्भिक शक्तियाँ—भारत के इतिहास से पता चलता है कि यहाँ के बड़े-बड़े सन्तों, महात्माओं, सुधारकों, विद्वानों, शिष्टों और शासकों ने बराबर इस बात का प्रयत्न किया है कि यहाँ धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता स्थापित हो। परन्तु यद्यपि उन लोगों ने प्रयत्न करके मानव-समाज के बहुत बड़े-बड़े दलों और क्षेत्रीय विभागों की सृष्टि करने में सफलता प्राप्त की थी, पर तो भी यहाँ की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक शक्तियाँ इतनी यथेष्ट नहीं थीं कि वे राजनीतिक विषयों में उसकी राष्ट्रीय एकता बनाये रख सकतीं। यहाँ के शासकों तथा इस पर आक्रमण करनेवालों की आकांक्षाएँ इस देश को राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बराबर विभक्त करती रहती थीं और बराबर परिवर्तित होनेवाले ऐसे दलों की सृष्टि करती रहती थीं जो आपस में भी लड़ाई-झगड़ा करते थे और आक्रमणकारियों का भी सामना किया करते थे। हर्ष, मौर्य तथा मुगल सम्राटों के समय में भारत में अपेक्षाकृत अधिक राजनीतिक एकता उत्पन्न हुई थी। परन्तु इनका भी इसलिए पतन हो गया कि आगे चलकर या तो ये साम्राज्य बहुत दुर्बल हो गये और या धार्मिक विषयों में बहुत कठोर व्यवहार करने लगे। स्वयं ब्रिटिश शासन के अधीन होने पर भी भारत में कोई राजनीतिक एकता नहीं है। बहुत सी देशी रियासतें ऐसी हैं जो मानों बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं और पूरी तरह से स्वतन्त्र होने का दावा करती हैं। भारत का एक तृतीयांश ऐसा है जो प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन के अधीन नहीं है। परन्तु आजकल सारे संसार में लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता

की जो लहर उठ रही है, उसके कारण पहले की अपेक्षा आजकल की परिस्थिति राष्ट्रीय भावों के प्रचार और जनता की जाग्रति के लिए अधिक उत्तम है। एक ओर तो ये आदर्श हैं और प्रगतिर्या हो रही हैं और दूसरी ओर से इसके साथ ही अनेक प्रकार की राजनीतिक असमर्थताओं, आर्थिक कष्टों और शिक्षा के अभाव के कारण शिक्षित भारतवासी और जन-साधारण इस बात में मिलकर एकमत हो गये हैं कि वर्तमान कष्टों के लिए देश की जो राजनीतिक शक्ति उत्तरदायी है, उसका विरोध किया जाय और उन कष्टों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार देश में एक ऐसी आन्तरिक शक्ति उत्पन्न हो गई है जो सुधार और उन्नति करना चाहती है; और बाहर की ओर से ऐसा दबाव पड़ रहा है जो एक साथ मिलकर विरोध करने या लड़ने के लिए विवश कर रहा है।

एक नई शक्ति—भारत में उन्नीसवीं शताब्दी मानों भारतीय पुनरुद्धार और सुधार का युग था। निरन्तर ऐसे बहुत बड़े-बड़े विचारशील और नेता होते गये जो नये-नये सिद्धान्तों और आदर्शों का उपदेश करते गये और उनके अनुसार काम भी करते रहे। पश्चिमी सभ्यता के दबाव में पड़कर और अँगरेज़ी शासन के कठोर तथा अपमानकारक आघातों के कारण भारतवासियों की मनःशक्ति बिलकुल बदलकर नई हो गई। पुराने दबवृत्त की प्रवृत्ति बिलकुल छोड़ दी गई। पश्चिमी प्रवाहों से अपनी तथा अपने राष्ट्र की रक्षा करने के लिए लोगों ने ऐसी नई दृढ़ प्रवृत्ति ग्रहण की जो अपनी रक्षा करने के साथ-साथ आवश्यकता पड़ने पर आक्रमण करने के लिए भी तैयार रहती है।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा—किसी रास्ते में पहला कदम उठाना सदा इसलिए कठिन हुआ करता है कि वह पहला कदम नया होता है; उसमें यह पता नहीं रहता कि आगे ज़मीन कैसी है और आगे कैसी नीति ग्रहण करनी पड़ेगी। भारतीय राष्ट्रीय महासभा का संघटन भारतवासियों का पहला पग था। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो इस संघटन में

जनता की स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली कामनाएँ और देश में अन्दर ही अन्दर प्रवाहित होनेवाली लहरें और विकसित होनेवाली शक्तियाँ ही अभिव्यक्त होती थीं। इस प्रकार भारत की राष्ट्रीय महासभा का इतिहास अधिकांश में भारत की राष्ट्रीय भावना तथा जीवन की उत्पत्ति और वृद्धि का इतिहास है। उसने देश की उन्नति और निस्तार के लिये समस्त शक्तियों और व्यक्तियों को एकत्र करके एक ही केन्द्र पर लगा दिया। हमारे यहाँ पहले स्थानिक और वर्गीय सभाएँ और साम्प्रदायिक संस्थाएँ तो थीं, पर राष्ट्रीय दृष्टि से हम सब लोग अलग-अलग थे। कांग्रेस ने एक ऐसे सार्वजनिक मत की सृष्टि की जिसके बिना राष्ट्रीयता का ज्ञान ही नहीं हो सकता और फलतः जिसके बिना स्वराज्य भी नहीं हो सकता। कांग्रेसवाले आन्दोलन ने कस्बे को कस्बे से, ज़िले को ज़िले से, प्रान्त को प्रान्त से, वर्ग को वर्ग से और सम्प्रदाय को सम्प्रदाय से परस्पर सम्बद्ध कर दिया। मध्य युग में जो एक दूसरे से बिलकुल अलग रहकर जीवन व्यतीत किया जाता था, उसका इसने अन्त कर दिया। इन प्रतिबिधियों के पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्ध और हेल-मेल ने सबमें एक ऐसी भावना उत्पन्न कर दी जिससे सब समझने लगे कि हम सब लोगों के हित समान हैं और हम सबकी आकांक्षाएँ एक ही हैं। उन्होंने यह दिखला दिया कि हम लोग यहाँ लोकतन्त्र स्थापित करना चाहते हैं; और भिन्न वर्गों तथा व्यक्तियों में ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया कि उन्होंने मिलकर राजनीतिक कार्य करने और राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए अपने समस्त सामाजिक विभेद तथा व्यक्तिगत विशेषताएँ भुला दीं।

आरम्भिक स्थानिक तथा प्रान्तीय सभाएँ और प्रयत्न—

जिन स्थानिक तथा प्रान्तीय सभाओं ने अपना दृष्टिकोण एक बनाकर आगे चलकर राष्ट्रीय संघटन का विकास सम्भव किया था, वे बंगाल की ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन (१८५१), बाम्बे एसोसिएशन (१८५१), पूने की सार्वजनिक सभा (१८७२) आदि थीं; और इस प्रकार का काम करनेवाले महान् व्यक्ति दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और रानडे आदि थे जो बराबर अपने-अपने ढंग पर काम करते हुए व्यक्तिगत समस्याओं का निरा-

करण करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे समय-समय पर सरकार के कार्यों की आलोचना करते थे, पर भारत में विदेशी शासन की भावना पर कभी कोई आक्रमण नहीं करते थे। भारत के राजनीतिक भविष्य के सम्बन्ध में उनके विचार अनिश्चित थे। उनके काम करने के ढंग भी निश्चित और प्रभावशाली नहीं थे और न उनका कोई व्यवस्थित कार्य-क्रम ही था। उनमें एक सामूहिक राष्ट्रीयता के भाव का भी विकास नहीं हुआ था। पर उनके स्थानिक और प्रान्तीय प्रयत्नों ने यह दिखला दिया था कि राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों में सारे भारत में समान रूप से दोष हैं और सारे देश की आवश्यकताएँ समान हैं। उन्होंने यह भी दिखला दिया था कि ठीक यही बात यहाँ के धार्मिक और सामाजिक विषयों में भी है। कांग्रेस के कार्य आरम्भ करने से पहले बहुत थोड़े से लोगों को इस अवस्था का पता था। उनके मन में देश की यह दुर्दशा खटकती तो बहुत थी, पर उनके चारों ओर उदासीनता का जो समुद्र लहरा रहा था और उसी का जो वातावरण चारों ओर फैला हुआ था, उसके कारण वे दृढ़तापूर्वक काम नहीं कर सकते थे। जन-साधारण को इन सब बातों के सिखलाने की आवश्यकता थी। आरम्भिक संस्थाओं और नेताओं ने अपने-अपने स्थान पर यह काम किसी सीमा तक किया तो था, पर राष्ट्रीय परिमाण में जनता की जाग्रति केवल तभी हो सकती थी, जब राष्ट्रीय प्रतिनिधि यह समझते हुए एक स्थान पर एकत्र होते कि हम सब लोग एक ही देश के निवासी हैं और एक ही ढंग से अपना भविष्य सुधारना चाहते हैं। जब तक प्रत्येक नीति का अवलम्बन, सारे देश के लिए, समान रूप से न किया जाता, तब तक एक-राष्ट्रीयता का भाव उदित ही नहीं हो सकता था। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय महासभा या कांग्रेस की सृष्टि भारत की राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई थी।

राष्ट्रीय मनोवृत्ति—कांग्रेस के अनुयायियों या राष्ट्रीय विचारवाले लोगों ने वर्गीय हितों, राजनीतिक उदासीनता, देश की सीमा के बाहर के लोगों के साथ सम्मिश्रित होने और साम्प्रदायिक झगड़ों आदि का विचार बिल्कुल छोड़ दिया था; और जन-साधारण के आर्थिक तथा राजनीतिक कष्टों, नवीन

विचारों, शिक्षा-प्रचार और महान् व्यक्तियों के प्रभाव में पड़ने और उनके दबाव में आने के कारण कांग्रेस के अनुयायियों की संख्या बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ने लगी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवर्तक—बर्क, ब्राइट, ब्राडला और बेसेंट सरीखे पार्लिमेंटवाले अँगरेज़ और ह्यूम, काटन तथा वेडबर्न सरीखे अँगरेज़ सिविल सरवेंट और डिग्बी तथा यूल सरीखे अँगरेज़ व्यापारी आदि अनेक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अँगरेज़ी शासन के प्रभावों और जनता के कष्टों तथा दुःखों को समझ लिया था, सरकार का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया था और जनता को अपने दुःख प्रकट करने और अनेक प्रकार से उनका विरोध करने में उन्हें सहायता दी थी। उनकी सहायता पाकर और उनके उदाहरण देखकर भारतीय नेता भी भारतीय परिस्थिति पर अपने विचार प्रकट करने और देशोद्धार का काम करने के लिए अग्रसर हुए। उन्होंने सार्वजनिक व्याख्यानोँ और समाचार-पत्रों तथा कॉन्फ़ेन्सों द्वारा आन्दोलन करने की व्यवस्था की। सार्वजनिक भाषणों, सार्वजनिक लेखों और सार्वजनिक सभाओं के द्वारा जनता की जाग्रति के आन्दोलन में बहुत जोर पहुँचा; और उन्हें इस बात का ज्ञान हो गया कि आजकल किसी विजित राष्ट्र को किन-किन समस्याओं का निराकरण करना पड़ता है और उनका सार्वजनिक जीवन कैसा होता है।

भिन्न-भिन्न राजनीतिक शाखाओं का उदय—परन्तु इन अँगरेज़ मित्रों और भारतीय नेताओं में कई ऐसी विचार-धाराएँ और दल उत्पन्न हो गये जिनके उद्देश्य और कार्य-प्रणालियाँ एक दूसरी से भिन्न हो गईं। आरम्भ में न तो यह भिन्नता या भेद लोगों की समझ में ही आता था और न बहुत बढ़ा ही था; पर आगे चलकर जब अनुभव और ज्ञान बढ़ा और अनेक प्रकार की सार्वजनिक समस्याओं के क्रान्तिमूलक अङ्ग समझ में आने लगे, तब राजभक्त, सनातनी या अनुदार मतवाले तथा चरम सीमा के परिवर्तन चाहनेवाले लोग आपस में एकमत होकर न चल सके।

राजभक्त—राजभक्तों का कहना था कि सरकार जानती है कि जनता का सबसे अधिक कल्याण किस बात में है; और हम लोगों को चुपचाप उसकी सब आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।

वैध आन्दोलनकारी—पुराने विचारों के और केवल वैध आन्दोलन करनेवाले लोग कहते थे कि जनता के सब कष्ट प्रार्थना-पत्रों, प्रस्तावों और डेपुटेशनों आदि के द्वारा सरकार को बतला दिये जाने चाहिए, जिसका सरकार पर प्रभाव पड़ेगा; और हम लोग जो कुछ चाहते हैं, और जिन अधिकारों के योग्य हैं, वे सब हमें प्रदान कर दिये जायेंगे। पर तब तक हमें प्रतीक्षा करनी चाहिए।

उदार और नरम दलवाले—तीसरा पक्ष उदार और नरम दलवालों का था जो यह समझता था कि यदि देश में पूरी तरह से आन्दोलन किया जायगा और हमारे साथ जो अन्याय होते हैं अथवा भारत पर जो आर्थिक तथा राजनीतिक अनुचित कानून लादे जाते हैं, उनका ज़ोरदार विरोध किया जायगा तो हमारा उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। उनमें राष्ट्रीयता का भाव तो था, पर न तो उनका कोई राष्ट्रीय संघटन था और न उनका आधार किसी प्रकार की दृढ़ता या अनुभूति के बल पर था। वे इस बात की प्रतीक्षा करते थे कि या तो घटनाओं और परिस्थितियों का आप से आप विकास होगा और या शासकों का भाव बदलकर अच्छा हो जायगा। वे लोग समाचार-पत्रों में लेख लिखकर अथवा लेजिस्लेटिव काउंसिलों और सभाओं आदि में व्याख्यान देकर ही इस बात पर ज़ोर देते थे कि जनता को भी देश के शासन-कार्यों में सम्मिलित करना चाहिए और राजनीतिक क्षेत्र में उसे भी काम करने का कुछ अवसर मिलना चाहिए। यह दल देश के थोड़े से ऐसे शिक्षित लोगों का था जो सब काम बहुत ही हाथ-पैर बचाकर और धीरे-धीरे करना चाहते थे और केवल बुद्धि-बल से लड़ाई लड़ना चाहते थे। जिस परिवर्तन में किसी प्रकार की अव्यवस्था की सम्भावना होती थी, उसे वे बुरा समझते थे। वे समझते थे कि भारत में ऐसी बहुत सी जातियाँ बसती हैं जिनके विचार और आदर्श एक दूसरी से भिन्न हैं; इसलिए यह देश सहसा कोई बहुत बड़ा परिवर्तन या अव्यवस्था उत्पन्न करने के योग्य नहीं है। इसे बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ाना चाहिए; पर हाँ, बढ़ाना जरूर चाहिए। असन्तोष तो होना

चाहिए, पर अव्यवस्था नहीं होनी चाहिए। सुधार या पुनरुद्धार तो होना चाहिए, पर क्रान्ति नहीं होनी चाहिए। वे लोगों को यह बतलाते थे कि तुम्हारे पक्ष में कौन-कौन सी खुराबियाँ हैं और उनके क्या कारण हैं; और उन्हें यह भी समझाते थे कि देश और सरकार के सम्बन्ध की ऐसी कौन-कौन सी बातें हैं जो इन सब खुराबियों की जिम्मेदार हैं।

राष्ट्रवादी—उदारमतवादियों की यह निष्क्रिय प्रवृत्ति तथा कार्य-क्रम उन लोगों के लिए उपयुक्त या आकर्षक नहीं हो सकता था जो ज़ोरदार उपायों और कार्य-क्रमों पर विश्वास रखते थे। वे लोग यह चाहते थे कि अपनी पूरी-पूरी मार्ग पेश की जाय और सक्रिय या प्रत्यक्ष उपायों का अवलम्बन किया जाय। उन्होंने जनता में सरकार के विरुद्ध बहुत अधिक असन्तोष और अप्रियता उत्पन्न की। उन्होंने कुछ क़ानून तोड़े और उनके लिए दण्ड भोगे। उन्होंने क्रान्तिकारी उपायों के सम्बन्ध में भी अपना असन्तोष नहीं प्रकट किया। वे चाहते थे कि क़ानून की जो सीमाएँ संकुचित और कष्ट देनेवाली हैं, वे तोड़ी जायँ और परिस्थितियों का फिर से संघटन किया जाय। सरकारी वचनों और घोषणाओं पर उनका कोई विश्वास नहीं था। उनका विश्वास था कि जनता का घोर असन्तोष और विरोध ही सरकार को दबने और अपना सुधार करने के लिए बाध्य करेगा। न तो वे सरकार के साथ सहयोग करनेवाला सिद्धान्त मानते थे और न असहयोग का कार्य-क्रम ही मानते थे। स्वराज्य, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा और बहिष्कार आदि शब्दों के द्वारा वे अपने आदर्श व्यक्त करते थे। वे चाहते थे कि जो आन्दोलन हो, वह पूर्ण रूप से जनता का हो और वही उसका परिचालन करे। उनकी सारी आशा जनता के काम पर निर्भर करती थी। वे कहते थे कि सरकार जो कुछ दे, उसका उपयोग करना चाहिए और बराबर एक ऐसा संघर्ष चलाते रहना चाहिए जिससे जनता शिक्षित हो और सरकार का विरोध हो। यह शाखा अपने आपको राष्ट्रवादी शाखा कहती थी और चरमवादी या गरम दल के नाम से भी प्रसिद्ध थी। आगे चलकर इस शाखा से दो बड़े शाखाएँ निकलीं जिनमें से एक तो सरकार के साथ पूर्ण असहयोग करना

चाहती थी; और दूसरी केवल उसी सीमा तक सहयोग करना चाहती थी जिस सीमा तक सरकार सहयोग करने के लिये तैयार हो।

असहयोगी—असहयोगी लोग समझते थे कि वर्तमान शासन-प्रणाली ही सबसे बड़ा दोष और विपत्ति है; और इसलिए किसी को सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग नहीं करना चाहिए। अपनी राजनीतिक लड़ाई के लिए उन्होंने सविनय आज्ञा-भङ्ग और कर न देने के उपायों का अवलम्बन आरम्भ किया और इन्हीं दोनों उपायों को अपना वैध अस्त्र माना। उन्होंने अपनी सारी शक्ति रचनात्मक कार्य-क्रम में लगाई; क्योंकि उनका विश्वास था कि इसी से राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होगा और राष्ट्रीय आवश्यकताएँ पूरी होंगी। उनका विश्वास था कि सुसंघटित और अस्त्रों आदि से सुसज्जित सरकार का विरोध करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि अहिंसा-व्रत का पालन किया जाय और अपने उठाये हुए कार्य की सिद्धि के लिए बिना किसी प्रकार का प्रतिकार या विरोध किये सब तरह के कष्ट प्रसन्नता-पूर्वक सहे जायँ। वे सरकार के साथ किसी प्रकार मिलना नहीं चाहते थे और विशेषतः लेजिस्लेटिव काउंसिलों, सरकारी नौकरियों और सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से तो बिल्कुल ही अलग रहते थे।

प्रतिकारी सहयोगी—दूसरा दल प्रतिकारी सहयोगियों का था, जिसका सिद्धान्त यह था कि हमें कुछ अंशों में तो सरकार के साथ सहयोग करना चाहिए और कुछ अंशों में असहयोग करना चाहिए। यदि काउंसिलों में और सरकारी पदों पर रहकर अथवा शिक्षा-संस्थाओं द्वारा सरकार के साथ मिलकर अथवा उसका विरोध करके किसी प्रकार का लाभ हो सकता हो, तो वह लाभ प्राप्त करना चाहिए। वे इन सार्वजनिक संस्थाओं से अलग नहीं रहना चाहते थे; क्योंकि वे समझते थे कि यदि ये संस्थाएँ यों ही छोड़ दी जायँगी तो हमें हाथ पट्टुं चावेंगी। उनका कहना था कि इस समय हमारे देश की जो अवस्थाएँ और जनता का जो रूप है, उसे देखते हुए इन संस्थाओं का नाश नहीं किया जा सकता; इसलिए या तो इनका काम बन्द कर देना चाहिए और या इन्हें अपकार करने से रोकना चाहिए; अथवा यदि हो सके

तो इनका सुधार या उपयोग करना चाहिए। परन्तु लड़ाई और विरोध बराबर चलता रहना चाहिए। साथ ही यह भी प्रयत्न किया जाता था कि प्रत्येक अवसर तथा स्थान पर नौकरशाही से मोरचा लिया जाय।

क्रान्तिकारी—क्रान्तिकारियों का विश्वास था कि हमें अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के उद्देश्य की सिद्धि के लिए हिंसात्मक तथा उग्र उपायों का भी अवलम्बन करने से न चूकना चाहिए। इसलिए उनके सब कार्य गुप्त रहते थे और केवल ऐसे थोड़े से जोशीले और दृढ़ कार्यकर्त्ता ही उनमें सम्मिलित होते थे जो अपने उपायों का अवलम्बन करने में अपनी जान तक जोखिम में डालने को तैयार रहते थे। वे दूसरे सौम्य उपायों की उपयोगिता में कुछ भी विश्वास नहीं रखते थे; इसलिए वे लोग अपने आन्दोलनों में सारी जनता या जन-साधारण को सम्मिलित नहीं कर सकते थे। बहुत से लोग उनके उरसाह, साहस और त्याग आदि के कारण उनसे सहानुभूति तो रखते थे, पर साथ ही वे यह भी समझते थे कि इन लोगों के उपाय कार्य-रूप में परिणत नहीं हो सकते; और यदि किसी प्रकार वे उपाय किये भी जायँ तो देश की व्यवस्थित उन्नति के लिए बाधक तथा हानिकर होंगे। उनका महत्त्व इसी बात में था कि वे सरकार को यह समझने के लिए बाध्य करते थे कि विदेशी शासन के विरुद्ध तथा राजनीतिक सुधार करने के पक्ष में लोगों की भावना कितनी गम्भीर, दृढ़ और विरल है। भारत में कुछ अधिक सुधार कराने के लिए उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से कुछ जोर भी डाला था।

जातीय शाखाएँ—इनके अतिरिक्त लोगों में और भी कई प्रकार के विचार तथा मत फैले हैं; परन्तु भारत का सार्वजनिक मत मुख्यतः इन्हीं रूपों में संघटित हुआ है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक विचारों की कुछ जातीय शाखाएँ भी हैं जो अपने-अपने धर्म, जाति या समाज आदि के प्रभावों से उत्पन्न हुई हैं। उन्हें हम कदाचित् ही राष्ट्रीय कह सकते हों; क्योंकि वे दूसरी जातियों या वर्गों को दबाकर अपने लिए सुभीते प्राप्त करना चाहती हैं और राजनीतिक अधिकारों का आधार मानवी या राष्ट्रीय विचारों को नहीं मानती, बल्कि धर्म, जाति या वर्ग आदि के विचारों को मानती हैं।

अब भी उनका दृष्टिकोण अपने वर्ग, दल या जाति से ही सम्बन्ध रखता है । पर फिर भी ये शाखाएँ यही कहती हैं कि हम राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र के पक्ष में हैं; इसलिए इन बातों की सिद्धि का प्रयत्न करने के समय उन्हें अन्त में विवश होकर अपने लिए विशेष सुभीते या अधिकार प्राप्त होने की इच्छा का परित्याग करना ही पड़ेगा । परन्तु इस समय उनके दृष्टिकोण और उपाय देश की एकता और उन्नति में बाधक ही हो रहे हैं ।

लार्ड लिटन का शासन-काल और उनकी साम्राज्यवादिता—

भारत के बड़े लार्ड लार्ड लिटन का कार्य-काल (१८७६-८०) विचारशील भारतवासियों को जाग्रत करने और उन्हें ब्रिटिश शासकों के आन्तरिक भाव समझने में सहायक हुआ था । लार्ड लिटन भारत तथा एशिया में चिर-स्थायी कीर्ति प्राप्त करने की कामना से आये थे । वे 'कैसे हिन्द का सा व्यक्तित्व प्राप्त करना चाहते थे; और "कैसे हिन्द" वह उपाधि थी जो ईंग्लैंड के बादशाह ने धारण की थी और भारत में जिसकी घोषणा सन् १८७७ वाले दरबार में की गई थी । उन्होंने सन् १८७८ में भारत के देशी भाषाओं के समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में एक कानून (Vernacular Press Act) बनाया था जिसके अनुसार उन समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता बहुत कम कर दी गई थी जो अँगरेज़ी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रकाशित होते थे । सन् १८७८ के हथियारों के कानून (Arms Act) के द्वारा उन्होंने भारत-वासियों के अस्त्र-शस्त्र भी छीन लिये थे । उन्होंने इस बात का भी प्रयत्न किया था कि भारत की सिविल सर्विस परीक्षा में भारतवासी न सम्मिलित हो सकें । यह नियम कर दिया गया था कि उन्नीस वर्ष से अधिक अवस्था का कोई व्यक्ति इस परीक्षा में सम्मिलित न हो सके । इसका फल यह हुआ कि बहुत ही थोड़े भारतवासी इस परीक्षा में सम्मिलित हो सकते थे । उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कह दिया था कि भारतवासियों को उच्च शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए । इस देश में बाहर से आनेवाले सूती कपड़ों पर जो कर लगाया जाता था, वह भी उन्होंने ईंग्लैंड के हित के विचार से उठा दिया । अफ़ग़ानों के साथ कई युद्ध करने तथा एशिया में अँगरेज़ों की अनेक उच्छाकांक्षाएँ

पूरी करने के लिए भी उन्होंने भारतवर्ष के करोड़ों रुपये नष्ट किये थे। उन्होंने नमक-कर बढ़ाया था। सन् १८७७-७८ में भारत में जो भीषण अकाल पड़ा था, उसमें भारतवासियों की रक्षा का कोई उपाय नहीं किया गया था जिससे इस देश के बहुत से लोग पीड़ित हुए थे और बहुत अधिक संख्या में मरे भी थे। अपनी साम्राज्य-विस्तारवाली नीति के आगे उन्होंने सब प्रकार के सार्वजनिक मतों तथा विरोधों का तिरस्कार कर दिया था। उन्होंने सब कार्य-कैसर की भांति नहीं, बल्कि एक सच्चे ज़ार की भांति किये थे।

लार्ड रिपन का शासन-काल—लार्ड रिपन के शासन-काल (१८८०-८४) में अफ़ग़ानिस्तान, देशी समाचारपत्रों और नमक-कर के सम्बन्ध में लार्ड लिटनवाली नीति बहुत कुछ बदल दी गई और उसमें शिक्षा-सम्बन्धी सुधार करने तथा स्थानिक स्वराज्य-सम्बन्धी अधिकार देने का भी प्रयत्न किया गया। पर सरकारी और गैर-सरकारी ब्रिटिश जनता के अधिकार और सुभीते इन बातों से कम होते थे; इसलिए हलबर्ट बिल के सम्बन्ध में जो वाद-विवाद (१८८३-८४) हुआ, उसमें ब्रिटिश जनता की मनोवृत्ति पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गई। पहले से यह नियम चला आता था कि भारतवासी ज़िला मजिस्ट्रेट तथा दौरा जज, केवल जातीय विभेद के कारण, युरोपियन अपराधियों के अपराधों का विचार या निर्णय नहीं कर सकते थे। हलबर्ट बिल में यह प्रस्ताव किया गया था कि न्याय-विभाग में इस प्रकार के जातीय भेद-भाव न रहने पावें। युरोपियनों ने बहुत ही घोर विरोध आरम्भ किया। भारतवासियों ने भी इसके पक्ष में आन्दोलन आरम्भ किया। युरोपियनों में बहुत ही कटु जातीय भावना दिखाई पड़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवासियों के मन से यह विश्वास धीरे-धीरे उठने लगा कि अँगरेज़ लोग सचमुच न्यायशील हैं, वे सबके साथ उचित व्यवहार करना चाहते हैं या सबको समान स्वतन्त्रता देना चाहते हैं। सन् १८८४ में यह बिल वापस ले लिया गया और उसी वर्ष दिसम्बर में लार्ड रिपन ने इस्तीफ़ा दे दिया। इससे भारतवासी यह बात अच्छी तरह समझ गये कि भारत में

कौन लोग शासन करते हैं और किनके हित के विचार से शासन करते हैं। सन् १८८२ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के जन्म से ठीक पहले भारत में यही अवस्था थी। एक तो लाड लिटन की नीति और दूसरे इलबर्ट बिल के सम्बन्ध का वाद-विवाद और उसके परिणाम-स्वरूप होनेवाली घटना यही दो मुख्य राजनीतिक बातें थीं जिनसे भारतवासियों को अपनी राजनीतिक स्थिति का ठीक-ठीक पता चल गया और उन्हें यह विदित हो गया कि युरोपियनों के हितों के आगे और उनके विरोध करने पर हम लोग कैसे असहाय और असमर्थ रह जाते हैं। देश की अनेक संस्थाओं तथा सभाओं आदि में इन सब बातों पर विचार किया गया था और इन कार्यों की निन्दा की गई थी।

भारतीय राष्ट्रीय विवेक की जाग्रति—इससे भारतीय राष्ट्रीय विवेक जाग्रत हुआ और यह कामना बलवती हुई कि बिखरी हुई शक्तियों और समाजों आदि को एकत्र करके एक ही राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक राजनीतिक मञ्च पर लाया जाय। सन् १८७७ वाले दिल्ली दरबार के बाद ही सन् १८७८ में बा० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सारे देश में भ्रमण किया और भारतवासियों के जितने कष्ट, जितनी आकांक्षाएँ और जितनी आवश्यकताएँ थीं, वे सब लोगों को भली भाँति समझाई। अब भारतवासी अपने साथ होनेवाले अन्यायों और अपनी आवश्यकताओं को समझने लगे। तुरन्त ही सारे शिक्षित वर्ग के विचार बदल गये और वे सब समस्याओं पर राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने लगे। इसका स्याभाविक परिणाम यह हुआ कि सब वे मिलकर एक ऐसा राष्ट्रीय संघटन करना चाहा जो लोगों को भारतवासियों के कष्ट बतलावे और उन्हें दूर कराने का प्रयत्न करे। सन् १८८४ में मद्रास में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) आरम्भ करने का विचार उत्पन्न हुआ। दीवान बहादुर रघुनाथराव के मकान पर सत्रह आदमियों ने एकत्र होकर यह विचार स्थिर किया था।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा की सृष्टि—उन लोगों ने निश्चय किया कि एक राष्ट्रीय राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ किया जाय। मार्च १८८५ में स्थिर

हुआ कि बड़े दिनों की छुट्टियों में भारत के सभी विभागों के प्रतिनिधियों की एक सभा की जाय। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, के० टी० तैलङ्ग, दादाभाई नौरोजी तथा दूसरे नेताओं ने अग्रसर होकर मुख्य रूप से यह कार्य आरम्भ किया। कांग्रेस का पहला अधिवेशन १८८५ में बम्बई में हुआ। उसमें भारत के सभी प्रान्तों के ७२ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। कांग्रेस की सृष्टि करने में आरम्भ से ही जिन श्रीयुक्त ए० ओ० ह्यूम ने बहुत कुछ काम किया था, वे चाहते थे कि कांग्रेस केवल सामाजिक विषयों का विचार करे। उन्होंने भारत के तत्कालीन बड़े लाट लार्ड डफरिन से कांग्रेस के उद्देश्य आदि निश्चित करने के सम्बन्ध में परामर्श कर लिया था। उन्होंने परामर्श दिया था कि कांग्रेस को राजनीतिक विषयों पर विचार करना चाहिए और यह बतलाना चाहिए कि जनता को क्या-क्या कष्ट हैं और वह क्या चाहती है, क्योंकि सरकार इन सब बातों को जानने के लिए उत्सुक है। उस समय कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, महादेव गोविन्द रानडे, जी० जी० आगरकर, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रघुनाथराव, ए० ओ० ह्यूम, रमेशचन्द्र बनर्जी, के० टी० तैलङ्ग, डी० ई० वाचा, एन० जी० चन्दावरकर, पी० रंगैया नायडू, एस० सुब्रह्मण्य ऐयर, पी० आनन्द चारलू सरीखे बड़े-बड़े अनेक नेता वहाँ उपस्थित थे।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा के उद्देश्य (१८८५)—उन लोगों ने कांग्रेस के उद्देश्य इस प्रकार स्थिर किये थे—

(१) साम्राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों में भारतवर्ष के हित के लिए जो दूसरे अनेक उत्साही कार्यकर्ता हैं, उनके साथ अधिक व्यक्तिगत घनिष्टता बढ़ाई जाय और मित्रता स्थापित की जाय।

(२) समस्त देश-प्रेमियों में से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत मैत्री भाव के द्वारा जाति, धर्म और प्रान्त आदि के कारण होनेवाला पक्षपाते निकालकर दूर किया जाय और राष्ट्रीय एकता के उन भावों का विकास तथा दृढ़ीकरण किया जाय जो परम प्रिय लार्ड रिपन के चिरस्मरणीय शासन-काल में उत्पन्न हुए थे।

(३) बहुत विचारपूर्वक और पूर्ण वाद-विवाद के उपरान्त प्रामाणिक रूप से यह निश्चय किया जाय कि आजकल जो महत्त्वपूर्ण और परम आवश्यक सामाजिक प्रश्न उपस्थित हैं, उनके सम्बन्ध में भारत के शिक्षित वर्गों के क्या मत हैं ।

(४) वे उपाय और मार्ग निश्चित किये जायँ जिनके द्वारा अगले बारह महीनों में भारतीय राजनीतिज्ञों को सार्वजनिक हित के कामों के लिए परिश्रम करना अभीष्ट है ।

इन उद्देश्यों में न तो कोई निश्चित राजनीतिक उद्देश्य और न कोई कार्य-प्रणाली ही दृष्टिगत होती है । इनका अभिप्राय यही था कि देश में राजनीतिक एकता उत्पन्न की जाय और सामाजिक समस्याओं पर विचारपूर्ण मत प्रकट किये जायँ ।

राजनीतिक समस्याओं पर विचार—दूसरी कांग्रेस के सभापति ने सूचित किया कि यह संस्था शुद्ध राजनीतिक है । राजनीतिक विषयों में सब भारतवासी एकमत थे; इसलिए सबकी समान आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से मिलकर कोई काम किया जा सकता था । अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में उन लोगों में अवश्य ही मतभेद था; और इसी लिए सब लोग मिलकर कोई काम नहीं कर सकते थे । प्रत्येक सम्प्रदाय या समाज की सामाजिक आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न थीं; इसलिए कांग्रेस ने केवल राजनीतिक नीति का ही अवलम्बन किया जिसमें सब समाज और सम्प्रदाय सम्मिलित हो सकते थे । पर इस राजनीतिक आन्दोलन के कारण देश में और भी अनेक प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न हो गये और उन्हें प्रोत्साहन मिला ।

आरम्भ से ही कांग्रेस के काम के लिए एक राजनीतिक वातावरण और राजनीतिक भाव प्रस्तुत था । उसने केवल राजनीतिक विषयों पर ही विचार करने की नीति ग्रहण की । विरोधी और सरकारी अधिकारी सब प्रकार से कांग्रेस के काम की हूँसी उड़ाते थे और कांग्रेसवालों को कटु वचन कहते तथा उनका विरोध करते थे । आगे चलकर यह नौबत पहुँची कि लार्ड डफरिन ने कांग्रेस को “राजद्रोही” तक कह डाला ! पर ह्यूम, वेडबर्न,

ब्रैडला तथा यूल सरीखे अँगरेज उसके लिए भारतवासियों के साथ मिलकर बराबर काम करते रहे।

स्वीकृत प्रस्तावों का स्वरूप—आरम्भ के चौदह वर्षों में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे, वे शासन विभाग, कानून बनाने, न्याय, सरकारी नौकरियों, सैनिक व्यय, अकाल-सम्बन्धी नीति, शासन के बढ़े हुए व्यय और बहुत अधिक कर, धन-सम्पत्ति के विदेश जाने, जनता की दरिद्रता, उसके निःशस्त्र किये जाने, औद्योगिक तथा आरम्भिक शिक्षा, मालगुजारी की प्रथा, जङ्गलों के कानून, मादक द्रव्यों के कर, इंडिया काउंसिल, इंग्लैंड को यहाँ के शासन-व्यय के लिए दी जानेवाली रकम, औपनिवेशिक भारतीयों के प्रतिबन्धों, सीमा-प्रान्त सम्बन्धी नीति, लोगों को नज़रबन्द और निर्वासित करने के सम्बन्ध के पुराने नियमों, समाचारपत्रों सम्बन्धी कानूनों, विनियम नीति तथा इसी प्रकार के और दूसरे महत्वपूर्ण विषयों में परिवर्तन और सुधार करने के ढङ्ग तथा उपाय बतलाते थे, जिनका जनता के कल्याण और अधिकारों के साथ सम्बन्ध था।

विशिष्ट सिद्धान्तों के लिए आग्रह—कांग्रेस इस बात पर भी जोर देती थी कि निर्वाचन सिद्धान्तों के अनुसार प्रतिनिधि संस्थाएँ स्थापित की जायँ; यह सिद्धान्त स्वीकृत किया जाय कि बिना प्रतिनिधित्व दिये कर नहीं लगाया जा सकता; सरकारी नौकरियों और शासन विभाग में अधिक संख्या में भारतवासी लिये जायँ; सेना विभाग में भारतवासियों को उच्च पद मिलें; न्याय और शासन विभाग पृथक् किये जायँ; ज्यूरियों की सहायता से अभियोगों का निर्णय हुआ करे; दवामी बन्दोबस्त हो; स्थानिक स्वराज्य का विस्तार हो; आदि। इसी प्रकार के कुछ और ऐसे सिद्धान्तों की स्वीकृति पर भी जोर दिया जाता था जिनका मुख्य आधार उन्नत वैध शासन के आदर्श तथा लोकतन्त्र की मर्गें थीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में इन्हीं सब विषयों के सम्बन्ध में प्रार्थना और विरोधसूचक प्रस्ताव स्वीकृत होते थे।

उसकी शाखाएँ और कार्य—भारतीय राष्ट्रीय महासभा के कामों को जोर पहुँचाने के लिए इंग्लैंड में डेपुटेशन भेजने, इंग्लैंड में कांग्रेस की

शाखा स्थापित करने (१८८१), हाउस आफ़ कामन्स में भारतीय पार्लिमेंटरी कमेटी स्थापित करने (१८९३) आदि की भी सूचनाएँ दी गई थीं और उनकी व्यवस्था की गई थी। अँगरेज़ जनता को भारतवासियों की मार्गों बतलाने और उनके कष्ट सुनाने के लिए इंग्लैंड में "इंडिया" नामक एक पत्र का प्रकाशन भी आरम्भ किया गया था (१८९०)।

काँग्रेस आन्दोलन के कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ता—देश में ऐसे सार्वजनिक भाषण भी दिये जाते थे जिनमें इन मार्गों का उल्लेख होता था और इस प्रकार लोगों को उनकी राजनीतिक आवश्यकताएँ बतलाकर लोकमत तैयार किया जाता था। इस काल के काँग्रेस आन्दोलन को आरम्भ से अन्त तक बहुत बड़े-बड़े लोगों ने विभूषित किया था। ऊपर जो नाम दिये जा चुके हैं, उनके अतिरिक्त कुछ थोड़े से नाम यहाँ भी दे दिये जाते हैं—

रमेशचन्द्र दत्त, बाल गङ्गाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, बिशन नारायण द्र, राजा रामपालसिंह, टी० माधवराव, बदरुद्दीन तैयबजी, मदनमोहन मालवीय, शङ्करन् नायर, लाला लाजपत राय, अर्डली नार्टन, मनमोहन घोष, एन० जी० चन्दावरकर, आर० एन० सुधोलकर, विपिनचन्द्र पाल, लालमोहन घोष, कालीचरण बैनर्जी, पण्डित अयोध्यानाथ, अम्बिकाचरण मजुमदार, मुहम्मदअली जिन्ना, अलफ्रेड वेब, सुब्बा राव, रासबिहारी घोष, मुहम्मद रहमतुल्ला सयानी, अली मुहम्मद भीमजी, सत्येन्द्रप्रसाद सिनहा, चिमनलाल सीतलवाद, भूपेन्द्रनाथ बसु, वैकुण्ठनाथ सेन, रामभजदत्त चौधरी, लाला हरकिशनलाल, अलफ्रेड नन्दी, विजयराघवचारियर, पी० सी० राय, मोतीलाल घोष, जी० एस० खापर्डे, गङ्गाप्रसाद वर्मा, मोहनदास करमचन्द गान्धी, मोतीलाल नेहरू, चित्तरञ्जन दास, मुहम्मदअली, हसन इमाम, सी० वाई० चिन्तामणि, हरचन्द्र राय बिशनदास, तेजबहादुर सप्रू, मज़हरुल हक़, डाकूर अनसारी, इकीम अजमल ख़ाँ, पट्टमि सीतारामैया, श्रीमती सरोजिनी नायडू, सत्यमूर्ति, श्रीनिवास ऐयंगर, रङ्गस्वामी ऐयंगर, एन० सी० केलकर, एम० सए अयो, बी० एस० मुन्जे, वी० जे० पटेल, एम० आर० जयकर, जे० एम० सेनगुप्त, इत्यादि।

उद्देश्यों और संघटन का पुनर्निश्चय (सन् १८९९)—
सन् १८६६ में कांग्रेस ने अपने संघटन के सम्बन्ध में नये नियम बनाये। उसका उद्देश्य इस प्रकार स्थिर किया गया—“भारतीय साम्राज्य के हितों और कल्याण की वृद्धि उपायों से वृद्धि करना।” यह भी निश्चय हुआ कि इसमें वही प्रतिनिधि आया करे जो राजनीतिक संस्थाओं या दूसरी संस्थाओं और सार्वजनिक सभाओं द्वारा चुने हुए हों। उसके कार्यों की व्यवस्था भारतीय कांग्रेस कमेटी के द्वारा होने लगी। कांग्रेस का काम चलाने के लिए प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों और ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी का संघटन करना निश्चित हुआ। कांग्रेस के इस आरम्भिक इतिहास से पता चलता है कि उसके उद्देश्यों और कार्य के सम्बन्ध में उसके सदस्य कितने अधिक सहमत थे। वह किसी एक दल या सम्प्रदाय की संस्था नहीं थी। उसके नेता विशाल-हृदय, दूरदर्शी, निःस्वार्थ और बड़े कार्य-तत्पर थे।

आरम्भिक कांग्रेसों के कार्य का महत्त्व—देश के साथ जो अन्याय होते थे, उनसे कांग्रेसवाले लोगों को परिचित कराते थे; उन्हें उनके अधिकार तथा उत्तरदायित्व बतलाते थे; उनमें राजनीतिक एकता और देश-भक्ति के भाव उत्पन्न करते थे और उन्हें अपना संघटन, सहयोग और एक दूसरे की सहायता करने के लिए तैयार करते थे। भारत की जितनी जातियाँ और सम्प्रदाय राष्ट्रीय भावों से प्रेरित होकर किसी बात पर विचार करते थे, कांग्रेस उन सब की सम्प्रतिषेधों और कामनाओं का प्रदर्शन और प्रतिनिधित्व करती थी। उसके नेता और सभापति देश के सभी भागों और प्रान्तों, सभी जातियों और सम्प्रदायों के हुआ करते थे। वह सब का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करने-वाली और राष्ट्रीय संस्था थी।

उसका राष्ट्रीय स्वरूप—वह किसी एक सम्प्रदाय की उपेक्षा या अपकार करके दूसरे सम्प्रदाय का कल्याण नहीं करती थी। उस पर कभी किसी ने स्वार्थी होने का दोष नहीं लगाया। हाँ, राजनीतिक विषयों में उसकी उच्चाकांक्षा अवश्य थी। सामाजिक विषयों और औद्योगिक आवश्यकताओं में वह कभी हस्तक्षेप नहीं करती थी। अतः ऐसी समस्याओं का

निराकरण करने के लिए सोशल काम्पेन्स (१८८८) और इंडस्ट्रियल काम्पेन्स सरीखी नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। पर फिर भी कांग्रेस सब प्रकार के कार्यों का बराबर आरम्भ करती और उन्हें प्रोत्साहन देती रही; क्योंकि वही राष्ट्रीय विवेक तथा जाग्रति का उद्गम थी। देश के सर्वश्रेष्ठ तथा योग्य व्यक्ति उसमें सम्मिलित होते थे और उसके लिए काम करते थे। देश के सभी भागों और सम्प्रदायों में से निरन्तर ऐसे बहुत से आदमी आते रहते थे जिनसे सूचित होता था कि उन लोगों में जीवनी-शक्ति और राजनीतिक विवेक वर्तमान है। वे लोग स्वार्थ-त्याग करते थे, अपने आप पर भरोसा रखते थे, दृढ़-निश्चयी होते थे, सब प्रकार के साधनों से युक्त होते थे, देश-भक्त होते थे और अविरल भाव से अपने काम में लगे रहते थे।

आरम्भिक उद्देश्य—पहले कांग्रेस का काम इसी विचार से होता था कि सरकारी पदों पर धीरे-धीरे भारतवासी नियत किये जायँ और उनकी सब शाखाओं में क्रमशः सुधार हों। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लोगों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि देश की सब प्रकार की खराबियों को दूर करने का एकमात्र उपाय और हमारा चरम उद्देश्य स्वराज्य प्राप्त करना है; और बीसवीं शताब्दी में इस विचार ने एक निश्चित रूप धारण किया। पहले वे यहाँ की विदेशी सरकार की आलोचना तो करते थे, पर कभी यह विचार नहीं करते थे कि यहाँ से विदेशी शासन बिलकुल उठा ही दिया जाय। तब तक उनमें पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने का विचार नहीं उत्पन्न हुआ था। उस समय का वातावरण भी इसके लिए उपयुक्त नहीं था। अभी अनेक नई घटनाएँ होने को बाकी थीं और ब्रिटिश चर्चों की परीक्षा होने को थी; क्योंकि जब तक ये बातें न होतीं, तब तक लोग स्वराज्य-प्राप्ति का विचार भली भाँति अपना नहीं सकते थे और न तर्कपूर्वक यही निश्चित कर सकते थे कि देश के शासन में अंगरेजों का क्या स्थान होना चाहिए।

नवीन दल और नवीन उद्देश्य; उदय के कारण—सन् १९०० के बाद कांग्रेस की राजनीति पर जिस नवीन दल का प्रभाव बढ़ा, वह दल लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का था जो राष्ट्रीय या गरम दल कहलाता

था। सरकारी दमन और जनता के राजनीतिक तथा आर्थिक पतन के कारण इस दल ने यह सोचा कि भारत की अनगिनत खराबियों को दूर करने का एकमात्र उपाय स्वराज्य है। प्लेग और अकाल के सम्बन्ध की सरकारी नीति, लार्ड कर्जन की दमनकारी और अग्रिम नीति आदि के तात्कालिक कार्यों से ही इस नये दल की सृष्टि हुई थी और इसका जोर बढ़ा था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के सैकड़ों बरस पुराने नियमों के अनुसार लोग पकड़कर बिना मुकदमा चलाये निर्वासित कर दिये जाते थे। विश्वविद्यालय सरकारी नियन्त्रण में कर लिये गये थे (१९०४), वक्ल-विच्छेद हुआ था (१९०५) और बिना किसी प्रकार के उत्तरदायित्व के विचार के शासन किया जाता था। इन्हीं सब बातों के कारण राजनीतिक क्षेत्र में यह नया दल जल्दी-जल्दी बढ़ने लगा। इसने स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा को स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अपना साधन बनाया। तिलक और अरविन्द घोष इसके बड़े नेता थे।

लार्ड कर्जन की साम्राज्य-वादिता और आचरण—लार्ड कर्जन (१८६६-१९०५) ने अपनी ज़ारशाही नीति और उपायों में लार्ड लिटन को भी मात कर दिया। उन्होंने अपनी नीति और कार्यों से सारे देश को अपना विरोधी बना लिया। वे प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में स्थायी महत्त्व प्राप्त करना चाहते थे। उनके सब काम मनमाने होते थे। वे सार्वजनिक मत की बहुत ही कम परवाह करते थे और अपनी बुद्धि तथा गुणों पर बहुत अधिक भरोसा रखते थे। वे अश्वल दर्जे के साम्राज्यवादी थे; इसलिए उन्होंने बिना किसी कारण के तिब्बत पर सैनिक चढ़ाई की (१९०३—०४) और भारत का बहुत अधिक धन उसमें नष्ट किया। पर इस चढ़ाई का कुछ भी फल न हुआ और उनकी साम्राज्य-कीर्ति कुछ भी न बढ़ी। उन्होंने हैदराबाद के निज़ाम के साथ जो अनुचित व्यवहार किया था और ज़बरदस्ती उनका बरार प्रान्त हस्तगत कर लिया था (१९०२), वह भी कुछ इसी तरह का काम था। उन्होंने सार्वजनिक मत के विरुद्ध सरकारी रहस्यों को गुप्त रखने के लिए आफिशल सीक्रेट्स एक्ट (Official Secrets Act) पास किया (१९०३)। यूनिवर्सिटी एक्ट बनाकर उन्होंने उच्च कोटि की शिक्षा पर पूरा-पूरा सरकारी

अधिकार जमा दिया (१९०४)। कालेजों को युनिवर्सिटी के साथ मिलाने या उनसे अलग करने और मिलाये हुए कालेजों का निरीक्षण करने का कुल अधिकार उन्होंने सरकार के हाथ में रखा। उच्च कोटि की शिक्षा देनेवाली संस्थाओं की सारी स्वतन्त्रता उन्होंने हरण कर ली; और निम्न कोटि की शिक्षा में तो पहले से ही कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि महारानी विक्टोरिया की सन् १८५८ वाली घोषणा कार्य रूप में परिणत करना नितान्त असम्भव है। सन् १८६६-१९०० में जो भीषण अकाल पड़ा था, उससे बहुत से लोग पीड़ित हुए और मर गये। लेकिन फिर भी दिखी दरबार के लिए धन निकल ही आया जो सन् १८७७ वाले लार्ड लिटन के दरबार के ढङ्ग पर किया गया था। उन्होंने कह दिया कि भारतवासी भूटे होते हैं और उनकी सम्मति का निरादर किया। वे अपने आपको गुण, बुद्धि और परोपकार का मूर्तिमान् अवतार समझते थे। उनका सबसे बड़ा कार्य वङ्ग-भङ्ग (१९०५) था जो उन्होंने सारी जनता के घोर विरोध करने पर भी कर ही डाला। बङ्गाल एक ऐसा प्रान्त था जिसमें एक ही तरह के लोग बहुत अच्छी तरह मिल-जुलकर रहते थे और जो भाव, भाषा और आकांक्षा आदि के विचार से बहुत अच्छी तरह एक में मिले हुए और सब बातों में एकमत थे। उन्होंने उसके दो टुकड़े कर डाले और दोनों टुकड़ों में आस-पास के कुछ ऐसे प्रदेश भी मिला दिये जो अनेक बातों में उनसे भिन्न थे और जिनकी भाषा, भाव और विकास आदि में भी बहुत कुछ अन्तर था। उनके इस भीषण कार्य के कारण सारे देश में घोर विरोध की आँधी उठ खड़ी हुई। लोगों ने इससे अपना बहुत अधिक अपमान समझा था; इसलिए उनका राष्ट्रीय विवेक और भी प्रबल हो गया। इसी से स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के भावों का उदय हुआ। अब तक तो कांग्रेस के उद्देश्यों और कार्यों को सब लोग समान रूप से मानते चले आये थे, पर अब उसमें नरम और गरम नाम की दो शाखाएँ उत्पन्न हो गईं। इनमें से प्रत्येक के अन्तिम लक्ष्य और उसकी सिद्धि के उपायों के सम्बन्ध में दोनों दल एक दूसरे का विरोध करते थे। दोनों में विभेद होना

अवश्यम्भावी था और वह विभेद सन् १६०७ में सूरत की कांग्रेस में हो ही गया। इससे पहले कांग्रेस का कार्य पूर्ववत् चलता था। लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों पर जो सरकारी अधिकार स्थापित कर दिया था और बङ्गाल के जो दो टुकड़े किये थे, उनका खूब विरोध हुआ था। लार्ड कर्जन के कानूनों, नीति और भाषणों ने लोगों को यह बात और भी अच्छी तरह समझा दी थी कि भारत में विदेशी शासन होने के कारण यहाँवालों की कितनी दुर्दशा होती है और उन्हें कितनी हानियाँ सहनी पड़ती हैं। सन् १६०५ में बनारस कांग्रेस में गोखले ने शासन की कड़े शब्दों में बहुत निन्दा की थी। उन्होंने यह भी मान लिया था कि राजनीतिक कामों के लिए बहिष्कार एक अच्छा हथियार है; पर उसका प्रयोग उसी समय करना चाहिए, जब और कोई उपाय न रह जाय और जब उसे दृढ़ सार्वजनिक मत का आधार प्राप्त हो। वङ्ग-भङ्ग के कारण भी और उसे रद्द कराने के लिए होने-वाले आन्दोलन को रोकने के लिए सरकार ने जो दमन चक्र चलाया था, उसके कारण भी जनता के विरोधी विचारों ने बहुत प्रबल और उग्र रूप धारण कर लिया।

दादाभाई द्वारा नये उद्देश्य की व्याख्या—दादाभाई नौरोजी ने, जो सन् १६०६ में कलकत्ते की कांग्रेस के सभापति हुए थे, कांग्रेस का निम्न-लिखित दोहरा उद्देश्य बतलाया था। पहला और सबसे महत्त्व का प्रश्न उस नीति और शासन-प्रणाली के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में है जिनके अनुसार भविष्य में भारतवर्ष का शासन होगा; और दूसरा उद्देश्य यह है कि शासन की वर्तमान प्रणाली पर अच्छी तरह ध्यान रखा जाय और उसमें तब तक सुधार किया जाय, जब तक वह पूर्ण रूप से परिवर्तित न हो जाय और उचित तथा न्यायसङ्गत सिद्धान्तों और नीति पर उसका आधार स्थापित न हो। उन्होंने यह भी घोषित किया कि जनता के कल्याण और उन्नति के लिए यहाँ भी वैसा ही स्वराज्य स्थापित होना नितान्त आवश्यक है जैसा यूनाइटेड किंगडम या उपनिवेशों में है। उनका विश्वास था कि भारत ऐसे स्वराज्य के लिए उपयुक्त है; और इसलिए तुरन्त ही इसका आरम्भ हो जाना चाहिए।

उन्होंने कहा था—“स्वराज्य ही एक मात्र और मुख्य ओषधि है। हमारी सारी आशा, शक्ति और महत्त्व स्वराज्य पर ही निर्भर करती है। सब लोग एक साथ मिलकर अध्यवसायपूर्वक प्रयत्न करें और स्वराज्य प्राप्त करें, जिसमें उन लाखों करोड़ों आदमियों की रक्षा हो सके जो इस समय दरिद्रता, अकाल, प्लेग, अज्ञाभाव या बहुत ही थोड़ा भोजन मिलने के कारण मर रहे हैं। और पश्चिम के सबसे बड़े और सभ्य राष्ट्रों में भारत भी फिर से अपना पुराना और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सके।”

सूरत कांग्रेस में फूट (१९०७), नरम और गरम दल—
यद्यपि कांग्रेस ने निश्चित रूप से अपना ध्येय स्वराज्य मान लिया था, तथापि कांग्रेसवालों में फूट पैदा हो रही थी। उसका एक अंश तो अपने पुराने आदर्शों, प्रार्थनावाले ढङ्गों और धीरे-धीरे उन्नति करने पर विश्वास रखता था और दूसरा अंश सरकार की दमन-नीति और कष्टदायक कानूनों के कारण पार्लिमेंट से प्रार्थनाएँ करने से और सहयोग की नीति पर से अपना विश्वास खो चुका था और यह कहने लगा था कि हमें स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा आदि को राजनीतिक आन्दोलन का मुख्य साधन बनाना चाहिए। सूरत में (१९०७) दोनों दल कांग्रेस पर अपना-अपना अधिकार जमाने के लिए झगड़ पड़े। लोकमान्य तिलक राष्ट्रीय दल का नेतृत्व करते थे। परन्तु पुरानी व्यवस्था की शक्तियों और मनमाने कानूनी दाँव-पेचों के कारण नरम दल के नेता कांग्रेस पर अपना अधिकार बनाये रखने में सफल हुए। सूरत में कांग्रेस की सभा टूट गई।

कांग्रेस पर नरम दलवालों का अधिकार—नरम दलवालों ने मदरास में (सन् १९०८) कांग्रेस का एक नया सिद्धान्त स्थिर किया जिससे उन्होंने बहुत से राष्ट्रवादियों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से वञ्चित कर दिया। सूरत में कांग्रेस के टूटने के बाद ही नरम दलवालों ने वहाँ अपनी एक बड़ी सभा की थी और उसी में वह सिद्धान्त स्थिर किया गया था। उसी सभा में एक कन्वेंशन कमेटी बनाई गई थी जिसने प्रयाग में अधिवेशन करके वह सिद्धान्त स्थिर किया था और नये नियम बनाये थे।

उनका सिद्धान्त और कन्वेंशन कांग्रेस—उसमें स्वराज्य का कहीं कोई नाम या उल्लेख नहीं था। उस सिद्धान्त की पहली धारा इस प्रकार थी—

कांग्रेस के उद्देश्य—“भारत की राष्ट्रीय महासभा या नैशनल कांग्रेस का उद्देश्य यह है कि भारतवर्ष के निवासी भी यहाँ वैसी ही शासन-प्रणाली प्राप्त या स्थापित करें जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे स्वराज्य-भोगी सदस्यों या अङ्गों में प्रचलित है और साम्राज्य में उन्हीं के समान अधिकार तथा उत्तरदायित्व प्राप्त करें। ये उद्देश्य वैध उपायों द्वारा वर्तमान शासन-प्रणाली में निरन्तर सुधार करते हुए, राष्ट्रीय एकता बढ़ाते हुए, लोगों में जाग्रति उत्पन्न करते हुए और देश के मानसिक, नैतिक, आर्थिक और औद्योगिक साधनों का विकास तथा संघटन करते हुए प्राप्त किये जायेंगे।”

सदस्यता—दूसरी धारा के अनुसार प्रत्येक प्रतिनिधि के लिए यह आवश्यक कर दिया गया था कि पहली धारा में बतलाये हुए कांग्रेस के उद्देश्यों की स्वीकृति लिखकर और हस्ताक्षर करके दे और बराबर उसका पालन करने के लिए तैयार रहे। सन् १९०८ की मदरासवाली कांग्रेस इन्हीं नियमों के अनुसार हुई थी। यह नया संघटन और इसके बाद के कुछ सुधार सन् १९११ और १९१२ की कांग्रेसों में स्वीकृत हुए थे।

इस बीच में सरकार बराबर ज़ोरों से दमन-चक्र चला रही थी, लोगों को देश से निर्वासित करती थी, राजद्रोही सभाओंवाले कानून (Seditious Meetings Act) के अनुसार सार्वजनिक सभाएँ और महासभाएँ आदि भङ्ग करती थी, नवयुवकों को कोड़े लगाती थी, समाचार-पत्रों पर मुकुद्दमे चलाती थी और उसकी नीति के विरुद्ध जो राष्ट्रीय विरोध तथा विद्रोह हो रहा था, उसे दबाने का प्रयत्न करती थी। सूरत कांग्रेस के समय लोग बहुत क्रुब्ध हो गये थे और सन् १९०८ में मुज़फ़्फ़रपुर में एक क्रान्तिकारी अपराध हो गया था। इसी लिए सरकार ने अपनी कड़ाई कम नहीं की थी, बल्कि दमन

करनेवाले और भी कई नये क़ानून बना डाले थे। उनमें से क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ऐक्ट (१९०८) और प्रेस ऐक्ट (१९१०) मुख्य थे।

सूरत के भगड़े के बाद कांग्रेस—सूरत के भगड़े के बाद सरकार ने राष्ट्रीय दल के लोगों को १९०८ में नागपुर में कांग्रेस के मुक़ाबले का अधिवेशन नहीं करने दिया। सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक पर मुक़दमा चला और उनको सज़ा हो गई जिससे राष्ट्रीय दल में कोई ज़बरदस्त और काम करनेवाला नेता न रह गया। इसके बाद नरम दलवालों ने कांग्रेस पर अपना अधिकार बना रखा और उसके अधिवेशन हर साल उन्हीं के नियन्त्रण में होने लगे जिनमें छोटे-छोटे सुधारों के सम्बन्ध में वही पुराने ढङ्ग के प्रस्ताव स्वीकृत होते थे। वङ्ग-भङ्ग का विरोध किया गया, दमनकारी क़ानूनों और देश-निकालों पर असन्तोष प्रकट किया गया और शासन-कार्य में अधिक अंश मिलने तथा लेजिस्लेटिव काउंसिलों में अधिक प्रतिनिधित्व मिलने के लिए प्रार्थनाएँ की गईं। अनिवार्य और निःशुल्क आरम्भिक शिक्षा तथा शिल्प और उद्योग-सम्बन्धी शिक्षा पर भी ज़ोर दिया गया। पुराने कष्टों की शिकायतें दोहराई गईं। शर्त्तबन्द मज़दूरी और राजनीतिक कैदियों के छुटकारे के लिए भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए।

माले'-मिंटो सुधारों की अनुपयुक्तता—सन् १९०६ में जो माले'-मिंटो सुधार हुए थे, वे जनता के उसी आन्दोलन का परिणाम थे जो वङ्ग-विच्छेद के बाद हुआ था। पर वे सुधार संकुचित हृदय से किये गये थे। एक्ज़िक्यूटिव फिर भी सब जगह प्रधान था। लेजिस्लेटिव काउंसिलों में सरकार द्वारा नामाङ्कित सदस्यों की बहुत अधिकता थी, उनके अधिकार बहुत ही परिमित थे और वे केवल परामर्श दे सकती थीं। उस ऐक्ट के अनुसार जो नियम बने थे, उनसे उस ऐक्ट के अनेक उद्देश्य नष्ट हो गये थे। अपनी नई निजी कांग्रेस में नरम दलवालों ने उन सुधारों का स्वागत किया था। पर शीघ्र ही लोगों को पता चल गया कि एक्ज़िक्यूटिव के उत्तरदायित्व-रहित कार्यों को रोकने के लिए वे सुधार नितान्त अनुपयुक्त हैं। जब उनका काम होने

लगा, तब तुरन्त ही स्पष्ट हो गया कि उनको पार्लिमेंट का जो रूप दिया गया है, वह सच्चा और वास्तविक नहीं है। जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के लिए उनमें जो बाधक बातें थीं, उनके कारण लोग और अधिक सुधारों के लिए आन्दोलन करने लगे। उनके अनुपयुक्त तथा असन्तोषजनक रूप के विरुद्ध आन्दोलन धीरे-धीरे (सन् १९१४ तक) बढ़ता रहा। पर शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिए अभी बहुत सी नई शक्तियों और व्यक्तियों की आवश्यकता थी।

१९१४ के बाद कांग्रेस की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण प्रभाव— सन् १९१४ के बाद कई ऐसी घटनाएँ हो गईं जो कांग्रेस के विकास में सहायक हुईं। लोकमान्य तिलक जेल से छूट आये और राष्ट्रीय दल कांग्रेस में सम्मिलित हुआ (१९१६); युरोप में महायुद्ध छिड़ा (१९१४-१९१८); होम रूल लीग का आन्दोलन आरम्भ हुआ (१९१६); लखनऊ में मुसलमानों के साथ समझौता हुआ (१९१६); मांटफोर्ड सुधार हुए (१९१८); रालेड ऐकृ पास हुआ (१९१८); पंजाब में अत्याचार हुए (१९१९); लोगों की दुर्दशाएँ हुईं; उन पर महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व, उपदेशों और सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा जिसके परिणाम-स्वरूप असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ और जनता में जाग्रति हुई; खिलाफत का आन्दोलन चला और नये सुधारों के अनुसार लेजिस्लेटिव काउंसिलें बनीं जिनका अन्तिम उद्देश्य भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करना था।

छूटकारे के बाद तिलक का रुख—ज्योंही लोकमान्य तिलक मांडले के जेल से छूटकर आये (१९१४) जहाँ वे छः बरस की सजा भोगने के लिए भेजे गये थे, त्योंही उन्होंने सोचा कि राष्ट्रीय दल के लोगों ने कांग्रेस से अलग रहने की जो नीति ग्रहण की है, वह इन नवीन परिस्थितियों में बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। कांग्रेस पर नरम दलवालों का अधिकार करने में चाहे कितने ही अन्यायपूर्ण कृत्य क्यों न हुए हों और नरम दल के अथवा सरकारी कितने ही अधिक प्रभाव क्यों न पड़े हों, तो भी कांग्रेस नये सिद्धान्त से बाँध गई थी और सन् १९०८ में गरम दलवालों की मुकाबले की कांग्रेस का संघटन नहीं होने

दिया गया था। सूरत में या उसके बाद जो कुछ हुआ था, उसे सोचने और उसके बारे में लड़ने-झगड़ने का अवसर नहीं रह गया था; और अब वह समय आ गया था जब कि कांग्रेस के नरम दलवाले सिद्धान्त से उत्पन्न बन्धनों को मानकर भी सब लोगों के मिलकर एक हो जाने की आवश्यकता थी। लोकमान्य तिलक ने अपने अनुयायियों को कांग्रेस में सम्मिलित होने की सलाह दी। जान पड़ता है कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास हो गया था कि काम करने-वाली शक्तियाँ और लोकमत हमारे पक्ष में है और कांग्रेस सरीखी लोकसत्तात्मक तथा प्रतिनिधि संस्था पर उस भारतीय लोकमत तथा लोकतन्त्र का पूरा प्रभाव पड़ेगा जिसके हम नेता हैं; और अन्त में हम उस संस्था के उद्देश्य, संघटन तथा नीति पर अपना पूरा-पूरा अधिकार कर लेंगे। यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय था। वे यह भी समझते थे कि इस समय जो महायुद्ध चल रहा है, उसके समय में नये बल से बलवती कांग्रेस एकमत होकर काम करेगी।

श्रीमती बेसेंट और राजनीति—देश की राजनीति में मुख्य रूप से सम्मिलित होने के लिए श्रीमती एनी बेसेंट और उनके साथी भी प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने सोचा कि भारत की धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी और राजनीतिक विषयों की एक साथ और सर्वाङ्गीण उन्नति करने के लिए जनता की राजनीतिक स्थिति में सुधार करना बहुत ही आवश्यक है। श्रीमती एनी बेसेंट इस बात के लिए भी उत्सुक थीं कि पारस्परिक सहायता और बल-वृद्धि के लिए भारत और इंग्लैंड का सम्बन्ध टूट नहीं जाना चाहिए, बल्कि बना रहना चाहिए।

महायुद्ध से ज़ोर पहुँचना—महायुद्ध से भी लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं को बहुत ज़ोर पहुँचा। कहा गया था कि यह युद्ध स्वतन्त्रता का युद्ध है और स्वेच्छाचारपूर्ण शासन का नाश कर देगा। इस महायुद्ध की जड़ में विदेशी शासन के प्रति जो घृणा और स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम का जो भाव था और जनता की स्वतन्त्रता और स्वभाग्य-निर्णय का जो अधिकार मान लिया गया था, उसके साथ यह नहीं कहा गया था कि इन सिद्धान्तों का

पालन किसी विशिष्ट महादेश में या सीमा के अन्दर ही होगा, बल्कि कहा गया था कि इनका पालन सार्वत्रिक होगा। भारत सरकार कठिनाइयों में पड़ने के कारण नरम हो गई थी और लोगों को शान्त करके अपनी ओर मिलावे रखना चाहती थी; और इसी लिए वह उन माँगों का विरोध खुले आम नहीं कर सकती थी जो और अधिक राजनीतिक सुधारों के सम्बन्ध में पेश की जा रही थीं। पर फिर भी वह लोकमान्य तिलक, एनी बेसेंट तथा और-और कार्यकर्त्ताओं के कार्यों पर डिफेंस ऑफ़ इंडिया ऐक्ट तथा दूसरे कानूनों के द्वारा बराबर नियन्त्रण रखती चलती थी।

कांग्रेस में राष्ट्रीय दल का प्रवेश—अब नरम दलवालों का दृष्टि-क्षेत्र भी और विस्तृत हो गया था। वे एक नया पर छोटा सा दरवाज़ा खोलकर अपनी वह पुरानी नीति छोड़ने के लिए तैयार हो गये थे जिसके अनुसार पहले उन्होंने बलवान् राष्ट्रीय दल को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोक रखा था। दलों के नेताओं में समझौते की कुछ बात-चीत होने लगी थी। सन् १९१४ में पूने में लोकमान्य तिलक और श्रीयुक्त गोखले की भेंट हुई। सन् १९१४ में मदरास में जो कांग्रेस हुई थी, उसमें कोई ऐसा वास्तविक मार्ग नहीं बनाया गया था जिससे राष्ट्रीय दलवाले कांग्रेस में प्रवेश कर सकते। सन् १९१५ में श्रीयुक्त गोखले और सर फ़ीरोज़शाह मेहता का देहान्त हो गया। पर सन् १९१५ की कांग्रेस में प्रतिनिधियों के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ सुधार किये गये थे। प्रतिनिधि चुने जाने के लिए किसी कांग्रेस कमेटी का सदस्य होना आवश्यक नहीं था। इसी पर १९१६ में लखनऊ कांग्रेस में तिलक का दल सम्मिलित हुआ था। नये राजनीतिक और राष्ट्रीय वातावरण में भारत ने यह निश्चय कर लिया कि दूसरे स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों के समान ही भारतवर्ष को भी साम्राज्य के अन्दर स्वराज्य का अधिकार प्राप्त हो।

होम रूल लीगों का काम—सन् १९१६ में लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बेसेंट ने अपने-अपने समाचारपत्रों द्वारा तथा दो होम-रूल लीगें तथा उनके साथ की और संस्थाएँ स्थापित करके ज़ोरों से प्रचार का

कार्य आरम्भ किया। यह कार्य कांग्रेस के विरुद्ध तो नहीं था, पर उससे बिल्कुल अलग अवश्य था और इसका उद्देश्य यह था कि जन-साधारण अपने राजनीतिक कर्तव्य, अधिकार तथा उत्तरदायित्व आदि भली भाँति जान लें। महायुद्ध ने जनता और सरकार दोनों को सचेत कर दिया। जनता तो सुधार या स्वराज्य माँगने लगी और सरकार महायुद्ध के लिए रंगरूट भरती करने, ऋण माँगने और लोगों की सहायुभूति सम्पादित करने का प्रयत्न करने लगी। होम रूल की माँग सबको पसन्द आती थी और उसमें कोई बात अवैध या कानून के खिलाफ भी नहीं थी। लोगों की आकांक्षाएँ और प्रयत्न बढ़ने लगे और सब दल मिलकर अपना स्वराज्य-भोगी राष्ट्र बनाने का प्रयत्न करने लगे। १९१५ में कांग्रेस ने स्वराज्य के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव स्वीकृत किया था जिसमें कहा गया था—“कांग्रेस की नियमावली की पहली धारा में बतलाये हुए स्वराज्य की प्राप्ति के लिए और अधिक तथा तत्त्वपूर्ण सुधार किये जायँ; अर्थात् इस देश की शासन-प्रणाली में ऐसा सुधार किया जाय और उसे इतना उदार किया जाय कि जिसमें शासन-प्रणाली पर जनता का वास्तविक नियन्त्रण हो।” इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कहा गया था कि प्रान्तों को राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों में पूरी स्वतन्त्रता दी जाय, लेजिस्लेटिव काउंसिलें सुधारी और बड़ी की जायँ, एकजिक्यूटिव पर जनता का नियन्त्रण हो, स्थानिक स्वराज्य-सम्बन्धी अधिकारों की और वृद्धि की जाय तथा इसी प्रकार के और काम किये जायँ। निरन्तर काम करने का एक ऐसा कार्यक्रम तैयार किया गया था जिससे प्रचार भी हो और लोगों का ज्ञान भी इस सम्बन्ध में बढ़े।

कांग्रेस-लीग योजना (१९१६)—१९१६ की संयुक्त कांग्रेस ने लखनऊ में कांग्रेस-लीग योजना स्वीकृत की। इस योजना में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह थी कि मुसलमानों का पृथक् प्रतिनिधित्व स्वीकृत किया गया था और उनके लिए प्रत्येक प्रान्त में प्रति शत कुछ स्थान मिश्रित कर दिये गये थे। इस प्रकार दोनों दलों और दोनों धर्मानुयायियों के मिलकर एक हो जाने से राष्ट्रीय जाग्रति और उन्नति के लिए एक अच्छा और अनुकूल

वातावरण उत्पन्न हो गया। छोटे-मोटे सुधारों की माँग भी ख़तम हो चुकी थी और उसका समय भी निकल गया था। आत्म-सम्मान का एक नया भाव उत्पन्न हो गया था जो यथासाध्य शीघ्र स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। इस प्रकार पहले जो बात भारतीय राजनीति में एक बहुत बड़ा हौवा समझी जाती थी, अब वह कार्य रूप में परिणत होनेवाले क्षेत्र में आ गई थी।

सन् १९१६, १९१७ और १९१८ में दोनों होम रूल लीगों ने भारत के सभी भागों की जनता में ख़ूब आन्दोलन और काम किया। उन्होंने कांग्रेस के काम में बहुत कुछ सहायता पहुँचाई और कांग्रेस-लीग योजना को सर्व-प्रिय बनाया। १९१७ में जब एनी बेसेंट और उनके सहायक नज़रबन्द कर दिये गये, तब इस आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा। बहुत से प्रमुख व्यक्ति भी होमरूलवाले आन्दोलन में सम्मिलित हो गये।

अगस्तवाली घोषणा (१९१७)—२० अगस्त १९१७ को भारत की राजनीतिक उन्नति के सम्बन्ध में ब्रिटेन ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें कहा गया था कि भारतवर्ष में ब्रिटेन उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली स्थापित करना चाहता है। यह घोषणा इस प्रकार थी—“सम्राट् की सरकार की यह नीति है और भारत सरकार भी इससे पूर्ण सहमत है कि शासन की प्रत्येक शाखा में भारतवासियों को अधिकाधिक सम्मिलित किया जाय और स्वराज्य-भागी संस्थाओं का इस दृष्टि से धीरे-धीरे विकास किया जाय जिसमें भारतवर्ष हमारे ब्रिटिश साम्राज्य का एक अन्तर्भुक्त अङ्ग बना रहकर क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली प्राप्त कर सके।” इस नीति का अवलम्बन क्रम-क्रम से किया जाने को था। १९१७ में मि० मांटैगू भारत आये। नैशनल कांग्रेस, मुस्लिम लीग और दोनों होम रूल लीगों ने इन्हें मेमोरियल अर्पित किये जिनमें स्वराज्य की माँग पेश की गई थी। भारत में नये सुधार करने के सम्बन्ध में जूलाई १९१८ में मांटैगू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार के सामने पेश की गई। उसमें जिन सुधारों का प्रस्ताव किया गया था, उनसे भारतवासी सन्तुष्ट नहीं थे। वह प्रस्तावित योजना अधूरी थी और उसमें जनता को उत्तरदायित्वपूर्ण स्वराज्य के अधिकार नहीं दिये गये थे। भारत में भी

और इंग्लैंड में भी लेजिस्लेटिव काउंसिलों के बहुत बड़े अंश पर फिर भी एक्ज़िक्यूटिव का ही अधिकार बना रहने दिया गया; और जो आंशिक उत्तरदायित्व तथा शासनाधिकार जनता को दिया गया था, वह केवल सिद्धान्त-रूप में था, वास्तव में वह कार्य-रूप में परिणत न हो सकता था।

सुधारों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दलों के विचार—नरम दल-वाले उन सुधारों को भी ग्रहण करने के लिए तैयार थे, पर उनमें कुछ परिवर्तन कराना चाहते थे। होम रूलवाले उनसे असन्तुष्ट थे और उनमें बहुत अधिक परिवर्तन चाहते थे। और गरम दल ने तो उन्हें स्वीकृत करने से बिलकुल इनकार ही कर दिया था। बम्बई की विशेष कांग्रेस (१९१८) ने उन सुधारों के सम्बन्ध में साफ़ कह दिया था कि ये सुधार अनुपयुक्त, असंतोषजनक और निराश करनेवाले हैं। उसमें ऐसे प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे जिनमें कहा गया था कि ये सुधार और बढ़ाये जायँ और काम में लाने के योग्य बनाये जायँ। नरम दलवालों ने अपनी एक अलग कांग्रेस की और सुधारों को कुछ और बढ़ाने की सूचनाएँ उपस्थित कीं। १९१८ की दिल्लीवाली कांग्रेस ने सुधारों की निन्दा की। १९१९ में रिफॉर्म ऐक्ट पास हुआ। उसके द्वारा एक ऐसी लेजिस्लेटिव एसेम्बली बनी जिसमें प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए सदस्यों का बहुमत था; और प्रान्तों में भी ऐसी लेजिस्लेटिव काउंसिलें बनीं जिनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था। पर उन्हें पूरे-पूरे अधिकार प्राप्त नहीं थे और भारत के शासन में फिर भी एक्ज़िक्यूटिव के हाथ में ही सब अधिकार बने रहे। प्रान्तों में रचित तथा हस्तान्तरित विभाग स्थापित करके द्वैध शासन-प्रणाली प्रचलित की गई थी, जिसमें इसलिए बहुत से दोष थे कि सरकारी और सरकार द्वारा नामाङ्कित सदस्य चुने हुए साम्प्रदायिक अल्पमत के साथ मिल जाते थे और इस प्रकार बहुमत का तिरस्कार कर देते थे। इसके अतिरिक्त लोकोपकारी कामों के लिए धन का भी अभाव बना रहता था और किसी निश्चय को अस्वीकृत करने या अस्वीकृत विषय को स्वीकृत करने आदि का पूरा अधिकार एक्ज़िक्यूटिव के हाथ में था। बड़ी लेजिस्लेटिव काउंसिल में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की कोई बात नहीं थी और

प्रान्तों में द्वैध शासन-प्रणाली काम के ठीक तरह से चलने में बाधक होती थी। बहुत सी ऐसी मदे' बना दी गई थीं जिनके सम्बन्ध में काउंसिलों को अपना मत देने का कोई अधिकार ही नहीं था; सरकारी नौकरियों आदि पर अनुचित रूप से सरकार ने अपना ही अधिकार रखा था और भारत-मन्त्री तथा बड़े लाट के अधिकार बहुत विस्तृत तथा स्वेच्छाचारपूर्ण थे। काउंसिल ऑफ़ स्टेट की रचना और स्वरूप ही ऐसा था कि वह हर एक अच्छी बात को उलट देती थी और मार्ग में बहुत बड़ी बाधक होती थी।

कांग्रेस का भाव—औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए कोई समय निश्चित नहीं हुआ था। १९१६ की अमृतसर वाली कांग्रेस ने उक्त ऐक्ट को अनुपयुक्त, असन्तोषजनक और निराश करनेवाला बतलाकर उसकी निन्दा की थी। रालेड ऐक्ट (१९१६) पंजाब के मार्शल लॉ और कृत्लेआम (१९१६) और टर्की के साथ होनेवाले अनुचित व्यवहार ने सरकार और जनता के बहुत बड़े भाग के बीच में मानों एक बहुत बड़ी खाड़ी बना दी थी। निहत्थे और शान्त लोगों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये थे और वे अत्याचार हंटर तथा कांग्रेस कमेटियों की जाँच से भली भाँति प्रमाणित भी हो चुके थे जिससे लोकमत बहुत क्षुब्ध हो गया था और वह सुधारों को काम में नहीं लाना चाहता था। केवल नरम दलवाले और प्रतिक्रिय सहयोगी ही उनसे वह थोड़ा-बहुत लाभ उठाना चाहते थे जितना उनसे उठाया जा सकता था। पर वे प्रतिक्रिय सहयोगी भी कांग्रेस से अलग नहीं होना चाहते थे। वे लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस के साथ ही बने रहे और आगे चलकर उन्होंने कांग्रेस की आज्ञा के अनुसार काम भी किया।

असहयोग का सन् १९२०—भारतीय नेशनल कांग्रेस के इतिहास में सन् १९२० इसलिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि उस वर्ष कांग्रेस ने अपना एक नया उद्देश्य और नई कार्य-प्रणाली स्थिर की थी; और यह काम उन महात्मा गान्धी के नेतृत्व में हुआ था जिन्होंने दक्षिण अफ़्रीका में सत्याग्रह करके विजय प्राप्त की थी, महायुद्ध के समय सरकार के साथ सह-

योग किया था और गुजरात तथा बिहार में सत्याग्रह किया था। लोग एक ऐसा नेता चाहते थे जो उनकी बन्द की हुई शक्तियों और क्रोध का ऐसा उपयोग कर सके जिसमें विचारों और कार्यों में एक बहुत बड़ी क्रान्ति खड़ी हो जाय। पञ्जाब के हत्याकाण्ड के कारण उनमें असीम क्रोध उत्पन्न हो गया था। वे सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार नहीं थे, बल्कि अपने कार्य तथा आन्दोलन के लिए नये मार्ग ग्रहण करना चाहते थे। १ अगस्त १९२० को लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हो गया। उधर महात्मा गान्धी का जो प्रभाव खिलाफ़ती मुसलमानों और जनता में कुछ दिनों से दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता चला जा रहा था वह इस समय बहुत अधिक बढ़ गया और नेशनल कांग्रेस का नेतृत्व उनके हाथ में चला गया। कलकत्ते की विशेष कांग्रेस और १९२० की नागपुरवाली कांग्रेस में महात्मा गान्धी ही सब कुछ दिखाई पड़ते थे। नागपुर में कांग्रेस का पुराना सिद्धान्त और संघटन बदल दिया गया। कांग्रेस का उद्देश्य इस प्रकार स्थिर किया गया—“भारतवासी समस्त वैध तथा शान्तिपूर्ण उपायों से स्वराज्य प्राप्त करें।” अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, विषय-निर्धारिणी कमेटी और प्रान्तीय तथा ज़िला कांग्रेस कमेटियों का फिर से संघटन किया गया, और यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक व्यक्ति जो कांग्रेस का उद्देश्य स्वीकृत करे और चार आना वार्षिक चन्दा दे, इसका सदस्य हो सकता है। रचना और संघटन के विचार से यह संस्था बहुत अधिक लोकतन्त्री बना दी गई। भाषा और इतिहास की दृष्टि से नये सिर से प्रान्त निर्धारित किये गये। कांग्रेस के सब काम निरन्तर करते रहने के लिए एक नई कार्य-कारिणी समिति बनाई गई। कांग्रेस ने अहिंसात्मक असहयोग का नया सिद्धान्त ग्रहण किया।

गान्धी की नई नीति और कार्य-प्रणालियाँ—देश के राजनीतिक क्षेत्र में गान्धी ने एक नवीन ज्ञान और भाव का संचार किया। काम और आन्दोलन के माने हुए महत्त्वों में उनकी नई कार्य-प्रणालियों और नये उद्देश्यों ने एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उन्होंने अपने आन्दोलन

का नाम “सत्याग्रह” रखा जो सत्य और अहिंसा के आधार पर था; और लोगों को बतलाया कि राजनीतिक तथा सामाजिक ऋगड़ों में इनसे बहुत बड़ा काम लिया जा सकता है। वे अपनी नई कार्य-प्रणाली से दक्षिण अफ्रिका में काम ले चुके थे और वहाँ जब उसका प्रयोग एक विशिष्ट समस्या का निराकरण करने के लिए किया गया था और आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले लोगों के एक दल ने उससे काम लिया था, तो वह प्रणाली बहुत उपयोगी और सफल सिद्ध हो चुकी थी। जिस समय वे लौटकर भारत आये थे, उस समय श्रीयुक्त गोखले ने उनसे कहा था कि अपनी प्रणालियों की उपयोगिता लोगों को बतलाने और उनसे काम लेने से पहले आप इस देश की अवस्था का भली भाँति ज्ञान प्राप्त कर लें। उन्होंने यह बात मान ली थी और गुजरात के खेड़ा जिले में तथा बिहार के चम्पारन जिले में छोटी-छोटी सीमाओं में और कुछ विशिष्ट कष्टों की निवृत्ति के लिए उन प्रणालियों का प्रयोग करके देख लिया था। वहाँ उन्हें सफलता हुई थी। फिर भी उन्होंने अभी तक यह नहीं कहा था कि कांग्रेस इसे अपने सार्वजनिक राजनीतिक हथियार के रूप में ग्रहण करे। पर समय बहुत जल्दी बदल गया। महायुद्ध समाप्त हो चुका था (१९१८) और खिलाफत के प्रश्न पर भारत के मुसलमान बहुत अधिक लुब्ध हो गये थे। टर्की की सीमाएँ और स्वतन्त्रता बहुत कम कर दी गई थी जिसका उन्होंने घोर विरोध किया। उनमें से कुछ लोग तो हिजरत करने और भारत छोड़कर दूसरे मुसलमानी देशों में जाकर बसने तक के लिए तैयार हो गये थे। बाकी बहुत से मुसलमान भारत में ही आन्दोलन करके एक प्रबल असन्तोष खड़ा करना चाहते थे। महात्मा गान्धी ने उनकी आपत्तियों में उनका साथ दिया और उनके साथ होनेवाले अन्यायों को दूर कराने का प्रयत्न किया।

सरकार के कार्य और गान्धी का सन्देश—सरकार ने अपना दमन कार्य रालेट ऐक्ट से आरम्भ किया (१९१९)। यह लोगों पर मुकदमे चलाने और उन्हें सजा देने का एक नया तरीका था जो लोगों को

सुधारों के बदले में मिला था। पञ्जाब में जो अत्याचार हुए थे और सर माइकेल ओडायर के मार्शल लॉ के समय में जो कत्लेआम हुए थे, उनसे लोगों को पता चल गया था कि वर्तमान शासन-प्रणाली में हमारी कितनी अधिक दुर्दशा और अपमान होता है। इसी लिए जनता बहुत अधिक क्रुद्ध हो गई थी। वह एक ऐसा नेता चाहती थी जो उसे कोई नया मार्ग दिखलावे। इस प्रकार की दुर्घटनाओं और अपमानों के सामने पुरानी कार्य-प्रणालियाँ और पुराने आन्दोलन विफल सिद्ध हो चुके थे। महात्मा गान्धी लोगों के लिए एक नया सन्देश, नई कार्य-प्रणाली और नई आशा लेकर आये थे और लोगों ने उनके आदर्श तथा कार्यक्रम स्वीकृत कर लिये थे। भारत-वासी सदा से धार्मिक तथा साधु वृत्ति के होते आये हैं, इसलिए गान्धी की कार्य-प्रणालियाँ और आदर्श उनके लिए बहुत उपयुक्त थे। उनकी व्यवस्थाएँ और नियम आदि एक ऐसे सिद्धान्त के आधार पर थे जिसे वे अहिंसात्मक असहयोग कहते थे और जिसके साथ एक ऐसा रचनात्मक कार्यक्रम भी लगा हुआ था जिसके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक बिना किसी दूसरे की सहायता के श्रम-पूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता था। सन् १९२० से ही कांग्रेस ने उन्हें अपना सबसे बड़ा नेता मान लिया था और उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना निश्चित कर लिया था। १९२० में कलकत्ते और नागपुर की कांग्रेसों में उनका कार्यक्रम स्वीकृत हो चुका था। १९२० में और उसके उपरान्त उसी के अनुसार काम करना आरम्भ हुआ। उनका विश्वास था कि हम सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करके और सब प्रकार के कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहकर सब तरह के विरोधों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। वे कहते थे कि इस प्रकार विरोध आप से आप नष्ट हो जायगा और सत्य की विजय होगी। मनुष्य में एक प्रकार का आत्मिक बल होता है जो अपने आपको प्रेम, संयम तथा प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहन करने में प्रकट करता है। ये सब बातें मनुष्य के वास्तविक बल के अङ्ग हैं और सत्य के लिए आग्रह करने या मगड़ने में इन गुणों से बहुत सहायता मिलती है। कष्ट सहन करने और बिना दूसरे को मारे स्वयं मर जाने में ही वास्तविक शक्ति और महत्त्व है। इस शक्ति के

आगे विरोधियों को अवश्य झुकना पड़ेगा और अपने आचरणों का भी सुधार करना पड़ेगा ।

उनका आदर्श और सत्याग्रह आश्रम की नियमावली—
महात्मा गान्धी ने साबरमती, अहमदाबाद में लोगों को शिक्षा देने के लिए जो सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया है, उसमें सम्मिलित होने के लिए लोगों को जो व्रत धारण करने पड़ते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) सत्य—यदि अपने देश का कोई लाभ भी होता हो तो भी कभी किसी को मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए ।

(२) अहिंसा—अत्याचारियों की भी कभी हत्या नहीं करनी चाहिए, बल्कि उन्हें प्रेम से अपने वश में करना चाहिए ।

(३) ब्रह्मचर्य ।

(४) सरल जीवन ।

(५) अस्तेय व्रत—किसी की कोई चीज़ कभी न चुरानी चाहिए ।

(६) अपरिग्रह व्रत—उन चीज़ों को छोड़कर, जो जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक हैं, और कुछ भी अपने पास न रखना चाहिए ।

(७) स्वदेशी और बहिष्कार ।

(८) अभय या निर्भीकता—राजा, जनता, परिवार के लोगों, जङ्गली जानवरों या मृत्यु से तनिक भी भयभीत न होना चाहिए ।

इन्हीं नियमों से उन सिद्धान्तों का पता चल जाता है जिनके अनुसार महात्मा गान्धी काम करते हैं ।

नये ढंग के कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता—ये नियम इह-लौकिक नहीं, बल्कि साधुओं और त्यागियों के से हैं । पर उनका विश्वास था कि जब तक इन सिद्धान्तों के अनुसार चलनेवाले कार्यकर्त्ता न तैयार होंगे, तब तक भारत अपनी वर्त्तमान गिरी हुई अवस्था से अपनी रक्षा नहीं कर

सकता। विकट अवसरों पर बहुत ही उच्च कोटि की ओषधियों की आवश्यकता हुआ करती है। जिनका हित कुछ विशिष्ट बातों में हो, जो स्वार्थी हों और जिनके अधिकार में कुछ पदार्थ हों, वे वर्तमान कठिन समस्या की सीमांसा नहीं कर सकते। इसके लिए उच्च आदर्शवाले और कठोर व्रतों तथा नियमों का पालन करनेवाले लोगों की आवश्यकता है। अतः उन्होंने अपने आश्रम तथा विद्यालयों में कुछ ऐसे लोगों को तैयार करना चाहा जो अपने आपको देश-सेवा के काम के लिए अर्पित कर दें और एक नई भावना तथा नये जीवन का आदर्श बन जायें। इस समय थोड़े से लोगों को अपना साधारण लौकिक जीवन छोड़ देना चाहिए जिसमें आगे चलकर बहुत से लोग भली भाँति वह जीवन व्यतीत कर सकें।

असहयोग का कार्य-क्रम—इस समय जो त्याग और तपस्या की जायगी, उससे भविष्य में हमारा बहुत अधिक कल्याण होगा और हमें सुख मिलेगा। महात्मा गान्धी के आदेश के अनुसार नागपुर कांग्रेस ने अहिंसात्मक असहयोग का जो कार्य-क्रम स्वीकृत किया था, वह इस प्रकार था—

१—लोग सरकारी उपाधियाँ और अवैतनिक पद छोड़ दें और स्थानिक संस्थाओं में जो लोग सरकार द्वारा नामाङ्कित होने के कारण सम्मिलित हों, वे अपने पद से इस्तीफा दे दें।

२—सरकारी दरबारों तथा दूसरे सरकारी और अर्द्ध-सरकारी उत्सवों में, जो सरकारी कर्मचारियों की ओर से अथवा उनका सम्मान करने के लिए हों, जाने से लोग इन्कार कर दें।

३—जिन स्कूलों और कालेजों को सरकार चलाती हो, सहायता देती हो अथवा जिनका नियन्त्रण करती हो, उनसे लोग धीरे-धीरे अपने बच्चों को हटा लें और ऐसे स्कूलों तथा कालेजों के स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय स्कूल तथा कालेज स्थापित करें।

४—धीरे-धीरे कानूनपेशा लोग और मुकदमे लड़नेवाले सरकारी अदालतों का बहिष्कार करें और अपने निजी मगड़ों का निपटारा करने के लिए उनके स्थान पर निजी पञ्चायते कायम करें।

५—मेसोपोटामिया में काम करने के लिए यदि किसी से सेना-विभाग या दफ्तर में अथवा मजदूरी आदि का काम करने के लिए भरती होने को कहा जाय, तो वह भरती होने से इन्कार कर दे ।

६—नये सुधार के अनुसार जो काउंसिलें बनी हैं, उनके लिए लोग उम्मेदवार न खड़े हों; और यदि कोई व्यक्ति कांग्रेस के इस परामर्श के विरुद्ध भी ऐसी किसी काउंसिल के लिए उम्मेदवार खड़ा हो तो मतदाता लोग उसके लिए मत न दें ।

७—विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाय ।

एक वर्ष में स्वराज्य—महात्मा गान्धी ने कहा था कि एक वर्ष में अर्थात् सन् १९२१ के अन्त तक स्वराज्य हो जायगा । उनके इस कार्यक्रम का एक उद्देश्य यह भी था कि लोग व्यवस्थित रूप से काम करना और आत्म-त्याग करना सीखें । उसमें स्वदेशी वस्त्रों के व्यवहार पर बहुत जोर दिया गया था और कहा गया था कि सब लोग हाथ से सूत कातें और कपड़ा बुनें । यह कार्यक्रम आगे चलकर एक ऐसा वृत्त रूप धारण करने को था जिसमें सब लोग एक साथ मिलकर सविनय आज्ञा-भङ्ग करें और सरकारी लगान तथा कर आदि देना बन्द कर दें ।

यह भी निश्चित हुआ था कि इस कार्यक्रम के अनुसार काम करने के लिए हर एक गाँव या कुछ गाँवों के समूह में कमेटियों का संवटन हो और उन सबका केन्द्र एक प्रान्तीय संस्था में हो । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सारे भारत में स्वराज्य-कोष के लिए धन एकत्र करना भी निश्चित हुआ था ।

आंशिक सफलता—बहुत से विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय संस्थाओं में भरती होने के लिए सरकारी स्कूल तथा कालेज आदि छोड़ दिये, थोड़े से नरम दलवाले और कंसर्वेटिवों को छोड़कर सब लोगों ने लेजिस्लेटिव काउंसिलें छोड़ दीं और कुछ वकीलों ने वकालत करना भी छोड़ दिया ।

स्वदेशी कपड़ों का व्यापार बहुत बढ़ गया और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार जोर पकड़ने लगा । प्रायः एक करोड़ रुपये एकत्र किये गये थे और कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गई थी । बहुत से लोग हाथ से सूत कातने

और कपड़ा बुनने लगे थे, सारे देश में बहुत बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था और शराब तथा ताड़ी आदि की दुकानों पर पिकेटिंग होने लगी थी।

वर्ष के अन्त में लोग सविनय आज्ञा-भङ्ग करने और सरकारी कर न देने के लिए उत्सुक तथा अधीर होने लगे। पर महात्मा गान्धी ने समझा कि देश अभी इसके लिए ठीक तैयार नहीं है, क्योंकि उसने कार्य-क्रम का ठीक तरह से पालन नहीं किया है। अहिंसा का भाव अभी तक लोगों में पूर्ण रूप से नहीं फैला था। ४ नवम्बर को दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो बैठक हुई थी, उसमें सविनय आज्ञा-भङ्ग के सम्बन्ध में एक निर्णय हुआ था जिसमें प्रान्तीय कांग्रेसों को यह अधिकार दिया गया था कि यदि उनका इस विषय में सन्तोष हो जाय कि शर्तों की पूरी तरह से पाबन्दी की गई है, तो वे व्यक्तियों अथवा समूहों को सविनय आज्ञा-भङ्ग आरम्भ करने की इजाजत दे सकती हैं। गुजरात ने बारडोली और आनन्द ताल्लुकों की प्रजा को यह आज्ञा दे दी थी कि वह सविनय आज्ञा-भङ्ग आरम्भ कर दे। पर १७ नवम्बर को और उसके बाद कई दिन बम्बई में जो उपद्रव हुए थे, उनसे सिद्ध हो गया था कि अभी देश अहिंसात्मक तथा शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करने के लिए तैयार नहीं हुआ है। प्रिंस आर्चु वेल्स के बहिष्कार और हड़तालों के कारण सरकार ने कांग्रेस तथा खिठाफत के स्वयंसेवकों को गिरफ्तार करके जेल भेजना आरम्भ कर दिया था; क्योंकि यह घोषणा कर दी गई थी कि किमिनल ला अमेंडमेंट ऐक्ट के अनुसार ये लोग गैर-कानूनी सभाओं के सदस्य हैं। चित्तरञ्जन दास, लाला लाजपत राय, मोतीलाल नेहरू तथा और भी हजारों आदमी पकड़कर जेल भेज दिये गये थे। इन्होंने सब परिस्थितियों में १९२१ में अहमदाबाद में कांग्रेस हुई थी। महात्मा गान्धी को कांग्रेस की ओर से सब कुछ करने और आवश्यकता पड़ने पर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का भी अधिकार दे दिया गया था। जनता से कहा गया था कि सब लोग सविनय आज्ञा-भंग करने के लिए अहिंसा, देश-सेवा और त्याग का व्रत ग्रहण करके राष्ट्रीय स्वयंसेवकों के दल में भरती हों।

बारडोली और उसके बाद—महात्मा गान्धी ने बारडोली ताल्लुके को सविनय आज्ञा-भङ्ग के लिए संघटित करना आरम्भ किया; पर इसी बीच में संयुक्त प्रान्त के चौरीचौरा नामक स्थान से हत्याओं आदि का जो समाचार आया (१९२२), उसके कारण महात्मा गान्धी ने अपना विचार बदल दिया और यह समझकर आन्दोलन स्थगित कर दिया कि इसके लिए जिस वास्तविक अहिंसात्मक वातावरण की परम आवश्यकता है, वह अभी तक प्रस्तुत नहीं हुआ है। पर सरकार ने यह निश्चय कर लिया था कि बंग इंडिया में प्रकाशित कुछ लेखों के लिए महात्मा गान्धी पर राजद्रोह का अभियोग लगाया जाय और उन्हें जेल भेजा जाय। उन्हें गिरफ्तार करके उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें छः बरस की सादी सजा दी गई। उनके जेल जाने से अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का प्रमुख सञ्चालक न रह गया। जिन लोगों का इस आन्दोलन पर पूरा-पूरा विश्वास था, न तो उनका व्यक्तित्व ही महात्मा गान्धी के समान था और न उनमें उतनी शक्तियाँ ही थीं; और जिन लोगों का कुछ व्यक्तित्व था और जो शक्ति-सम्पन्न तथा प्रभावशाली थे, उनका महात्मा गान्धी की नीति और कार्य-क्रम पर विश्वास नहीं था। इसलिए दो दल खड़े हो गये।

दो दल—एक दल तो अपरिवर्तनवादी था जो महात्मा गान्धी के कार्य-क्रम का पूर्ण रूप से पालन करना चाहता था; और दूसरा दल स्वराज्यवादियों का था जो काम करने के ढंग बदलना चाहता था और अदालतों, स्कूलों तथा काउंसिलों का बहिष्कार जारी नहीं रखना चाहता था।

स्वराज्यवादियों का उदय और बल—ये लोग काउंसिलों में सम्मिलित होने पर ज़ोर देते थे और कहते थे कि हमें काउंसिलों के अन्दर रहकर उनका बहिष्कार करना चाहिए, जिसका मतलब यह था कि सरकार के कामों में बराबर बाधा डालते रहना चाहिए। वे कहते थे कि काउंसिलें अपना काम बराबर करती चली हैं, अतः उन्हें अनर्थ करने से रोकना चाहिए। सी० आर० दास और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में यह स्वराज्य-

वादी दल धीरे-धीरे कांग्रेस में बहुत महत्वपूर्ण हो गया। १९२२ वाली कांग्रेस जाँच कमेटी ने कह दिया था कि देश अभी अहिंसात्मक असहयोग के लिए तैयार नहीं है। इसी लिए बहुमत स्वराज्यवादियों के पक्ष में हो गया था।

दिल्ली की विशेष कांग्रेस (१९२३) में इन लोगों को अपना दल बनाने में सफलता हुई। लेजिस्लेटिव काउंसिलों के दूसरे चुनाव में ये लोग भी खड़े हुए (१९२३) और लेजिस्लेटिव असेम्बली तथा प्रान्तीय काउंसिलों में बड़ी संख्या में प्रविष्ट हो गये (१९२४)। यद्यपि ये लोग काउंसिलों का काम बन्द करने में सफल नहीं हुए, तथापि इन्होंने काउंसिलों में बहुत से ऐसे निर्णय नहीं होने दिये जो देश की उन्नति में बाधक थे। असहयोगी या अपरिवर्तनवादी दल मुख्यतः सूत कातने, कपड़े बुनने और राष्ट्रीय शिक्षा पर जोर देता रहा। उनमें से कुछ लोग गाँवों में प्रचार करने लग गये और वहाँ का जीवन सादा, पर साथ ही उच्च करने का प्रयत्न करने लगे। धीरे-धीरे कांग्रेस पर स्वराज्यवादी दल का अधिकार हो गया; और यद्यपि १९२५ में सी० आर० दास का देहान्त हो गया, तो भी अभी तक कांग्रेस का सब काम उन्हीं लोगों के हाथ में है*। बड़े-बड़े नगरों में रहनेवाले और शिक्षित लोगों के लिए, जो नौकरशाही के साथ लड़ने के लिए काउंसिलों का उपयोग करना चाहते थे, यह कार्यक्रम बहुत उपयुक्त था। महात्मा गान्धी ने अपना कार्यक्रम सरकारी कार्यों पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करने की नीति के अनुसार स्थिर किया था और उसके लिए आत्म-त्यागपूर्वक अपने पैरों पर खड़े होने की आवश्यकता थी। आगे भारत में केवल नगरों में आन्दोलन होता था, जिसमें शिक्षित वर्ग के लोग केवल अपनी क्लम और जुबान का उपयोग करते थे और अपने राजनीतिक विरोधियों का मुकाबला करने के लिए लोगों को इन्हीं चीजों के उपयोग करने का परामर्श देते थे। पर महात्मा गान्धी ने उसके बदले में सारी जनता का आन्दोलन खड़ा कर दिया था।

*ये बातें मूल पुस्तक के लिखे जाने के समय (नवम्बर १९२८) तक की हैं।—अनु०।

गान्धी के आन्दोलन में दूसरों को कोई काम करने का परामर्श कम दिया जाता था और स्वयं कुछ काम करके दिखाया जाता था। इस प्रकार सारी जनता की सम्मिलित शक्ति के आगे अहिंसात्मक रूप से सरकार को दबने के लिए विवश किया जाता था। उन्होंने दिसम्बर १९२१ वाले सूचनापत्र में कहा था—“असहयोगी इस समय सरकार के साथ लड़ रहे हैं। हम लोग सरकार को उलट देना चाहते हैं और उसे जनता की आज्ञा मानने के लिए विवश करना चाहते हैं।...हम लोग आवश्यकता पड़ने पर अपना खून बहा देंगे, पर अपने विरोधियों का खून नहीं बहावेंगे। बिना निपटारा किये यह लड़ाई बन्द न होगी।” १९२१-२२ में लोगों के इसी प्रकार के मनोभाव थे।

दो प्रवाह—प्रत्यक्ष कार्य और पार्लिमेंटरी कार्य—पर अनेक प्रकार की शक्तियों और प्रभावों के कारण यह आन्दोलन बन्द हो गया और प्रत्यक्ष कार्य या आक्रमण के स्थान पर अब हम लोगों के सामने पार्लिमेंटरी ढंग का कार्य है। अब इसमें चाहे सरकार का निरन्तर विरोध किया जाय, चाहे केवल उसी सीमा तक उसके साथ सहयोग किया जाय जिस सीमा तक करना उचित हो; और चाहे पूर्ण रूप से सहयोग किया जाय; और इन्हीं में से किसी एक न एक ढंग से कांग्रेसियों के दल काम करते हैं। अब अपना सुधार करने या बल बढ़ाने का उतना कार्य नहीं रह गया है जितना कांग्रेसियों, समाजों और समाचारपत्रों का काम रह गया है; और इन सब साधनों से हम अपने विरोधियों को उग्र तथा मृदु दोनों प्रकार के तर्कों से या तो अपने औचित्य का विश्वास दिलाना चाहते हैं और या उनका विरोध करना चाहते हैं। आजकल कांग्रेस के जो राजनीतिक विचार हैं और उसमें जिस प्रकार के तर्क-वितर्क होते हैं, वे उन्हीं दोनों प्रवाहों के अनुरूप हैं जिनसे पहले कांग्रेस का इतिहास बना है। सर्वदल-सम्मेलन (१९२८) की आज्ञा से जो नेहरू रिपोर्ट (१९२८) तैयार हुई थी, वह उसी आरम्भिक पार्लिमेंटरी ढंग की मनोवृत्ति का फल है और उसमें औपनिवेशिक स्वराज्य माँगा गया है; जातियों और सम्प्रदायों के झगड़े निबटारे गये हैं; यह निश्चय किया गया है कि नये सुधारों के समय किसके कितने प्रतिशत प्रतिनिधि आदि होने चाहिए;

और साथ ही प्रान्तों तथा कार्यों और अधिकारों आदि का विभाग किया गया है। पूर्ण स्वतन्त्रतावाला कांग्रेस का प्रस्ताव (१९२७), साइमन कमीशन के बहिष्कार की नीति (१९२७) और हड़तालें आदि प्रत्यक्ष कार्यवाले अथवा अहिंसात्मक असहयोग के गान्धी-काल की अवशिष्ट मनोवृत्तियों की सूचक हैं। इस समय किसी एक विशिष्ट प्रवाह के अनुसार पूरा-पूरा काम करनेवाला कोई विशिष्ट दल नहीं है। नेहरू रिपोर्ट और साइमन बहिष्कार दोनों साथ-साथ चलते हैं; लोग एक ही मञ्च पर से खड़े होकर लेजिस्लेटिव असेम्बली और कांसिलों की मेम्बरी का भी समर्थन करते हैं और पूर्ण स्वतन्त्रतावाले उद्देश्य का भी; वे सब जातियों और धर्मों के लिए अलग-अलग प्रतिनिधित्व भी माँगते हैं और प्रतिनिधि-सत्तात्मक राजनीतिक लोकतन्त्र भी। जब तक शासकों और शासितों में होनेवाला स्वाभाविक विरोध अनुभूत होता है और जब तक शासित ही शासक नहीं बन जाते, तब तक ये दोनों प्रवाह, जो उपयोगवादी सहयोग और आदर्श तथा रचनात्मक असहयोग के आधार पर स्थित हैं, कभी नष्ट नहीं हो सकते। इनमें से एक दूसरे से कह सकता है कि तुम निष्फल और निरर्थक सहयोग कर रहे हो; और दूसरा उससे कह सकता है कि तुम ऐसा असहयोग कर रहे हो जो न तो पूर्ण रूप से काम में आ सकता है और न जिसकी सिद्धि हो सकती है। पर फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे वातावरण में इस समय ये दोनों ही तत्त्व उपस्थित हैं।

क्रान्तिकारक आन्दोलन—उसका स्वरूप और विस्तार—क्रान्तिकारक आन्दोलन वास्तव में राजनीतिक आन्दोलन के मुख्य प्रवाह के विलकुल बाहर जा पड़ता है। भारतीय राजनीति के सम्बन्ध में वह यह नहीं मानता कि विकासात्मक या वैध सुधारों से काम चल सकता है। वह अपने अनुयायियों की गुप्त क्रान्तिकारक संस्थाएँ स्थापित करके हिंसात्मक उपायों से वर्तमान शासन-प्रणाली में परिवर्तन करना चाहता है। वे लोग या तो अँगरेज़ अफसरों या उनके भारतवासी नौकरों पर बम और गोलीयाँ चलाते हैं। भारत में इस दल की सृष्टि बीसवीं शताब्दी में वङ्ग-विच्छेद (१९०५) के बाद उस समय हुई थी, जब सरकार ने उन लोगों का दमन आरम्भ किया था जो अपने

अधिकारों और माँगों पर जोर देते थे। श्रीमती एनी बेसेंट कहती हैं और यह बात मानी भी जाती है कि लार्ड कर्जन के शासन-काल में ही भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों का बीजारोपण हुआ था। उसी शासन ने भारत-वासियों को यह समझने के लिए विवश किया था कि बलवान् तथा स्वेच्छा-चारी ब्रिटिश शासन के सामने हमारा कुछ वश नहीं चल सकता। लार्ड कर्जन के अनेक कार्यों से जो घोर असन्तोष फैला था, उसी के कारण इस हिंसावादी दल का उदय हुआ था; क्योंकि उस समय वैध आन्दोलन सफल नहीं हो सका था। वे लोग व्यवस्था या शासन का अन्त नहीं करना चाहते थे, बल्कि शासन-प्रणाली में सुधार करना चाहते थे। ब्रिटिश शासकों को वे स्वार्थी और भारत की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के मार्ग में बाधक समझते थे; और इसी लिए वे लोग भारत में स्वतन्त्र रूप से स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे। यह शाखा मुख्यतः बङ्गाल में, और सरकारी प्लेग नीति तथा तिलक के साथ होनेवाले व्यवहार के कारण महाराष्ट्र में और सर माइकेल ओडायर के कठोर शासन के कारण पंजाब में अधिक बलवान् थी। इसके अनुयायी अपने ढंग से काम करने के पीछे अपने प्राण तक निछावर करने के लिए पूरी तरह से तैयार रहते थे। पर साधारण जनता ऐसे उपायों को ठीक तथा आवश्यक नहीं समझती थी और इनसे अलग ही रहती थी। वे लोग वर्तमान शासन-प्रणाली में परिवर्तन करना चाहते थे; और ठीक यही उद्देश्य दूसरे दल का भी था। पर दोनों की कार्य-प्रणालियों में बहुत अधिक अन्तर था। साधारणतः लोग यही समझते थे कि यदि थोड़े से लोग हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करें तो उससे अँगरेज शासक विचलित नहीं हो सकते और न स्थापित व्यवस्था तथा शक्ति पर से उनका विश्वास ही उठ सकता है। पर थोड़े से ऐसे जोशीले देशभक्त नवयुवक भी थे जिन्हें अपने प्राणों, स्वतन्त्रता या सम्पत्ति की कोई परवा नहीं थी और जो व्यक्तिगत परिणामों को कुछ भी न समझते थे। उनका यही विश्वास था कि वर्तमान शासन और उसके समर्थकों को कुछ हिंसात्मक झटके देने या आघात पहुँचाने से ही काम चल जायगा। सरकार उनके बारे में बहुत सी बातें भी जानती थी और उनके विरुद्ध प्रयुक्त

करने के लिए उसके पास बहुत से क़ानून भी थे। पुराने रेगुलेशनों आदि के अनुसार उसे ऐसे लोगों को गिरफ़ार करने, नज़रबन्द रखने, उन पर मुक़दमा चलाने और उन्हें सज़ा देने के भी विशेष अधिकार प्राप्त थे। सरकार ने उनका ख़ूब अच्छा उपयोग किया। पर फिर भी क्रान्तिकारी दल का अन्त नहीं हुआ; क्योंकि वे राजनीतिक कारण अभी तक मौजूद थे जिनसे उस दल की सृष्टि हुई थी। इस दल के साथ सरकार का जो संघर्ष हुआ था, उसमें कुछ निर्दोष आदमी भी पिस गये थे। महायुद्ध छिड़ने पर इस दल को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए डिफेंस ऑफ़ इंडिया ऐक्ट (१९१५) के अनुसार अपने विशिष्ट अधिकारों का प्रयोग किया। अब यह आन्दोलन प्रायः मुरदा सा जान पड़ता है; पर फिर भी बीच-बीच में सिर उठाता है और इसकी वजह यही है कि जिन कारणों से इसकी सृष्टि हुई है, वे कारण दूर नहीं हुए हैं। इसके कुछ सदस्य भागकर भारत के बाहर निकल गये थे और वे विदेशों में ही रहकर और वहाँ से गुप्त रूप से सहायता तथा साहित्य आदि भारत भेजकर अपनी कार्रवाई किया करते थे। उन्होंने विदेशों में और विशेषतः युरोप तथा अमेरिका में अपने उद्देश्यों के लिए सहानुभूति सम्पादित करने का प्रयत्न किया। ग़दर पार्टी भारत के बाहर से और विशेषतः अमेरिका से अपना काम करती थी और उपनिवेशों में बसनेवाले सिक्खों, भारतीय विद्यार्थियों तथा भारत को लौटने-वाले औपनिवेशिकों पर अपना प्रभाव डालती थी। नाम-मात्र का यह सन्देह होने पर भी कि किसी का ग़दर पार्टी के साथ कोई सम्बन्ध रहा है, सरकार उसकी पूरी तरह से ख़बर लेती थी। वे पुराने आर्डिनेन्सेस या डिफेंस ऑफ़ इंडिया ऐक्ट (१९१५) के अनुसार या तो रास्ते में ही रोक लिये जाते थे और या खास अदालतों में उन पर मुक़दमे चलाये जाते थे और वे निर्वासित कर दिये जाते थे। पर फिर भी भारतीय राजनीतिज्ञों तथा जनता की शान्त और वैध प्रवृत्ति पर इस दल का बहुत ही थोड़ा प्रभाव पड़ा। १९१८ में मि० जस्टिस रालेड की अध्यक्षता में एक कमेटी इस बात की जाँच करने के लिए बैठी कि इस देश में राजद्रोह का कहाँ तक विस्तार है और उसे दूर करने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन किया जाय। उसने एक रिपोर्ट तैयार की जो सेडिशस

कमेटी रिपोर्ट (१९१८) कहलाती है। उसमें बतलाया गया था कि इस क्रान्तिकारी आन्दोलन का आरम्भ कहाँ से और कैसे हुआ, उसकी प्रकृति और स्वरूप रिपोर्ट लिखे जाने के समय तक क्या है, और इसका किन-किन उपायों से नाश किया जा सकता है। उसमें बतलाया गया था कि भारत में तथा विदेशों में भी बहुत दूर तक फैला हुआ एक ऐसा क्रान्तिकारी आन्दोलन है जो भारत सरकार को उलट देना चाहता है। इस रिपोर्ट के अनुसार एक क़ानून बनाया गया जो १९१८ में रालेड ऐक्ट के नाम से पास हुआ जिसके अनुसार निश्चित हुआ कि क्रान्तिकारियों के मुक़दमों का ख़ास अदालतों में और ख़ास ढंग से विचार किया जाया करे। असेम्बली के सदस्यों ने इन क़ानूनों का घोर विरोध किया था, पर फिर भी सरकार ने ये क़ानून बना ही डाले। पर देश में इसके विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन हुआ जिसके कारण आगे चलकर पञ्जाब के हत्या-काण्ड और अत्याचारों (१९१९), ख़िलाफ़त सम्बन्धी असन्तोष और अफ़ग़ानिस्तान के लिए हिज़रत के बाद सत्याग्रह या अहिंसात्मक असहयोग का आन्दोलन आरम्भ हुआ। रालेड ऐक्टों का समय समाप्त हो जाने पर और विशेषतः १९२४ के बाद सरकार बज़ाल में १८१८ वाले पुराने रेगुलेशन के अनुसार सैकड़ों आदमियों को गिरफ़्तार करती है और बिना मुक़दमा चलाये उन्हें जेल में या नज़रबन्द रखती है; और जब किसी विशिष्ट व्यक्ति के सम्बन्ध में उसका पूरा सन्तोष हो जाता है, तब उसे छोड़ भी देती है। पर इस समय यह आन्दोलन बहुत अधिक दब गया है और सार्वजनिक मत तथा देश की संघटन सम्बन्धी और वैध स्थिति की वृद्धि देखते हुए इस आन्दोलन के फिर से खड़े होने की सम्भावना नहीं है। साधारणतः लोगों का यही विश्वास है कि स्वराज्य पास आ गया है और दिखलाई पड़ रहा है।

परिच्छेद ५

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(४) शासकों की नीति

शासकों की नीति—विदेशी स्वेच्छाचारपूर्ण शासन और देशी प्रजा में जो स्वाभाविक विरोध हुआ करता है, उस विरोध को दबाने के लिए सरकार ने अनेक प्रकार की नीतियों का अवलम्बन किया था। वह एक बलवान्, पटु और सन्नद्ध सेना, पुलिस तथा एंक्ज़िक्यूटिव रखती है; प्रजा को उसने निरस्त कर दिया है; कुछ ऐसे वर्ग उत्पन्न कर दिये हैं जिनका व्यापारिक, ज़मींदारी, धार्मिक तथा नौकरियों आदि से सम्बन्ध रखनेवाला स्वार्थ इसी शासन-प्रणाली में सिद्ध हो सकता है। ऐसे वर्ग विदेशीय भी हैं और भारतवासियों के भी; और वे अपनी शक्तियों तथा सुभीतों के कारण वर्तमान शासन-प्रणाली के साथ सम्बद्ध हो गये हैं। जनता में उन्होंने एक ऐसा भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है कि जातीय दृष्टि से शासक लोग श्रेष्ठ हैं और वे सब के साथ न्याय तथा उचित व्यवहार करते हैं। लोगों को नज़रबन्द रखने या निर्वासित करने, समाचार-पत्रों, सभाओं और व्याख्यानों आदि को रोकने और विरोध या आन्दोलन होने पर उसे कठोरतापूर्वक दबाने के लिए शासन-कार्यों के रूप में बहुत सी शक्तियाँ अपने हाथ में रखी हैं। और एक बड़ी बात यह है कि वह बीच-बीच में थोड़े-बहुत सुधार करके लोगों को थोड़ा-बहुत शान्त रखने का भी प्रयत्न करते रहते हैं।

नियन्त्रण उनके हाथ में है—सेना—१८५७ के बाद पुलिस और एंक्ज़िक्यूटिव पर—जिसका फिर से संघटन हुआ था—पूर्ण रूप से अँगरेजों का ही नियन्त्रण है और उनमें उच्च पदाधिकारी भी अँगरेज ही हैं। १८७८ में

जनता से हथियार रखने का अधिकार छीन लिया गया। युरोपियन व्यापारी और पूँजीदार, नील और चाय आदि की खेती करनेवाले गोरे, सरकारी नौकर, धर्म-प्रचारक और नवोद्भूत दल तथा वर्ग आदि सदा सरकार के स्वेच्छाचार का ही समर्थन करते हैं। अँगरेज़ी साहित्य और अँगरेज़ी संस्थाओं ने भारतीय विद्वानों तथा साहित्य-सेवियों के मन में यह अनुकूल भाव उत्पन्न कर दिया है कि अँगरेज़ों में स्वतन्त्रता और न्याय का भाव यथेष्ट है। यहाँ शिक्षा आदि की कुल व्यवस्था और नियन्त्रण सरकार के हाथ में है और शिक्षा-विभाग के प्रधान प्रोफ़ेसर और डाइरेक्टर आदि सब युरोपियन हैं और इन सबने सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति की है और ब्रिटिश शासन को इढ़ बनाने में सहायता दी है। १८१८ तथा और सनो के पुराने रेगुलेशन तथा समाचार-पत्रों, सार्वजनिक सभाओं और व्याख्यानों आदि से सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे कई नये कानून आदि हैं जिनकी सहायता से एक्ज़िक्यूटिव या साधारण न्यायालय आदि लोगों को बिना मुकदमा चलाये गिरफ़्तार, नज़रबन्द या निर्वासित कर सकते हैं, जब चाहें तब राजनीतिक विरोधियों और आन्दोलनकारियों को सज़ा दे सकते हैं, समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता कम कर सकते हैं और व्याख्यान देने तथा सार्वजनिक सभाएँ आदि करने की स्वतन्त्रता कम कर सकते हैं।

कुछ समाधानकारक उपाय—इसके साथ ही साथ बड़े-बड़े वचन देने और लोगों का आंशिक समाधान करने की नीति का भी अवलम्बन किया गया है। यदि हम मनरो, मेटकाफ़ और मेकॉले सरीखे कुछ लोगों के व्यक्तिगत, पर उत्तरदायित्व-रहित, उद्गारों को अलग छोड़ दें और १८३३ वाले कम्पनी के चार्टर में, जो इस प्रकार के कुछ शुभ उद्गार प्रकट किये गये हैं—“इन सीमाओं में रहनेवाला या श्रीमान् सम्राट् के उस राज्य में जन्म लेनेवाला कोई व्यक्ति केवल इसलिए कम्पनी के अधीन कोई जगह, पद या नौकरी पाने से वञ्चित न रहेगा कि वह किसी दूसरे धर्म का अनुयायी है अथवा उसका जन्म अमुक स्थान में हुआ है, अमुक वंश या अमुक वर्ण का है।” आदि को छोड़ दिया जाय तो भी हम कह सकते हैं कि १८३३ में जो सबसे पहला बड़ा काम हुआ था, वह यह था कि गवर्नर जनरल की काउंसिल में एक

ऐसा और सदस्य रखा गया था जिसका काम काउंसिल को सहायता देना और उस समय मत देना था जिस समय वह कानून बनाती हो। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने बराबर इस बात पर बहुत जोर दिया था कि कोई कानून बनाने के समय पहले उसके सम्बन्ध में पूरी-पूरी जाँच की जाय, वह प्रकाशित कर दिया जाय और उसके सम्बन्ध में अच्छी तरह वाद-विवाद और विचार हो। इसी विशेष सदस्य से बढ़कर आगे भारत की लेजिस्लेटिव काउंसिलें बनीं और उनसे भारत में यह प्रथा सी चल पड़ी कि कानून ही सब बातों में सबसे बढ़कर है और सब बातों को कानूनी रूप मिलना चाहिए। यद्यपि इस समय भी सारे देश में एक्जिक्यूटिव ही सर्व-प्रधान और कानून बनानेवाली सबसे बड़ी संस्था है, पर फिर भी उसके ऊपर स्वयं उसी के बनाये हुए कानूनों का ऐसा परदा पड़ा हुआ है जो तब तक नहीं टूट सकता, जब तक वह स्वयं ही उसे न तोड़े। उन कानूनों से वह भी उतनी ही बँधी हुई है जितनी कि जनता। यद्यपि कभी-कभी ऐसे कानून भी बनते हैं जो अन्याय तथा पक्षपातपूर्ण और किसी विशिष्ट जाति या स्वार्थ की रक्षा के लिए ही होते हैं, तो भी कानून के रूप और उसकी सर्व-प्रधानता की रक्षा बराबर की ही जाती है। स्वयं गवर्नर जनरल से लेकर शासन या न्याय-विभाग का छोटे से छोटा अधिकारी जो कुछ काम करता है, वह काम उन्हीं कानूनों के आधार पर होना चाहिए जो उस समय प्रचलित हैं।

१८५३ का ऐक्ट—१८५३ वाले ऐक्ट के अनुसार यह निश्चित हुआ था कि सिविल सर्विस की जितनी ऊँची सरकारी नौकरियाँ हैं, उनमें भरती होने के लिए केवल प्रतियोगिता-युक्त परीक्षा होगी और उनमें बिना अँगरेज या भारतवासी का विचार किये सम्राट् की प्रजा का प्रत्येक सदस्य सम्मिलित हो सकेगा। १८५८ में महारानी विक्टोरियावाली घोषणा में कहा गया था—“इसके अतिरिक्त हमारी यह भी कामना है कि जहाँ तक हो सके, हमारी प्रजा—चाहे वह किसी जाति या सम्प्रदाय की हो—स्वतन्त्रतापूर्वक और बिना पक्षपात के हमारी सेवा में पदों पर नियुक्त की जायगी और उनके कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए शिक्षा और योग्यता या पूर्णता द्वारा उन्हें

अपने आपको योग्य बनाना पड़ेगा।” इसके अतिरिक्त उसमें और भी कई ऐसी बातें थीं जिनमें यह वचन दिया गया था कि देशी रियासतों के साथ जो सन्धिर्षा और निश्चय आदि हुए हैं, उनका बराबर पालन किया जायगा; अनावश्यक रूप से कोई दमन न किया जायगा; धार्मिक विषयों में निष्पक्ष व्यवहार होगा और उनमें हस्तक्षेप न किया जायगा; कानून का उपयोग और पालन सबके लिए समान रूप से होगा; भारत के प्राचीन अधिकारों, प्रथाओं और परिपाटियों की रक्षा की जायगी। और अन्त में कहा गया था—“प्रजा की सम्पन्नता ही हमारी शक्ति होगी, उसका सन्तोष ही हमारा रक्षक होगा और उसकी कृतज्ञता ही हमारा सबसे बड़ा पुरस्कार होगा।” इस लेख में बतलाई हुई नीति का बहुत ही धीरे-धीरे, और वह भी बीच-बीच में कई बार बहुत सा समय छोड़कर, अनेक वाहसरायों और सिविल सर्वेंटों के विरोध करने पर भी कुछ-कुछ पालन किया गया है।

स्थानिक स्वराज्य (१८८२)—इसके बाद जिला और ताल्लुका बोर्डों तथा म्युनिसिपैलिटियों के सम्बन्ध में लार्ड रिपन ने स्थानिक स्वराज्य-सम्बन्धी कानून बनाया (१८८२)। उन्होंने यह काम जनता को राजनीतिक शिक्षा देने के विचार से किया था। पर इसमें भी जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को बहुत ही धीरे-धीरे उत्तरदायित्व और अधिकार दिया गया। सरकारी अफसरों और सरकार द्वारा नामाङ्कित सदस्यों की ही प्रबलता रही और पहले स्थानिक संस्थाओं के अधिकार और कार्य बहुत ही थोड़े रहे। हाँ, पीछे मांटफोर्ड सुधारों के समय उनमें बहुत कुछ वृद्धि की गई।

इंडियन काउंसिल ऐक्ट १८९२—इंडियन काउंसिल ऐक्ट (१८९२) के द्वारा लेजिस्लेटिव काउंसिलों में जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य रखने की व्यवस्था की गई। पर उस ऐक्ट में निर्वाचन का यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से नहीं माना गया था, बल्कि गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल को यह अधिकार दिया गया था कि वह समय-समय पर आवश्यकतानुसार नियम बनाकर जनता को निर्वाचन का अधिकार दे; और इस प्रकार यह कार्य भी अप्रत्यक्ष

रूप से किया गया था। १८६१ वाले इंडियन काउंसिल ऐक्ट के अनुसार यह पहले ही निश्चित हो चुका था कि सरकार अपनी ओर से नामाङ्कित करके काउंसिलों में कुछ गैर-सरकारी सदस्य भी रखे करेगी। इंडियन नैशनल कांग्रेस अपने पहले वर्ष (१८८५) से ही बराबर प्रति वर्ष (१८८५-१८९१) यह कहा करती थी कि सब संस्थाओं और काउंसिलों में प्रजा द्वारा निर्वाचित सदस्य ही रखे जाया करें और उनका कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय, जिसमें जनता को अपने कष्ट प्रकट करने के अधिक और बड़े अवसर मिला करें, वह अपने विचार बतला सके, जानकारी प्राप्त कर सके और सरकारी कामों की आलोचना करते हुए उनके सम्बन्ध में परामर्श दे सके। वह यह भी कहती थी कि प्रत्येक लेजिस्लेटिव काउंसिल के आधे सदस्य नियमित रूप से जनता द्वारा निर्वाचित हुआ करें, वार्षिक बजट नियमित रूप से लेजिस्लेटिव काउंसिलों के सामने पेश किया जाया करे और सदस्यों को प्रश्न करने का अधिकार दिया जाय। पर इन माँगों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया और १८९२ वाले ऐक्ट में उसकी बहुत थोड़ी बातें मानी गईं। उस ऐक्ट से अतिरिक्त गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई, प्रश्न करने और वार्षिक आर्थिक विवरणों पर वाद-विवाद करने का अधिकार दिया गया, जिसमें नई बातें भी सुझाई जा सकती थीं। पर फिर भी वे काउंसिलें केवल सरकारी लेजिस्लेटिव कमेटियाँ ही रहीं।

१९०९ का इंडियन काउंसिल ऐक्ट—इसके उपरान्त मारलेमिंटो सुधार हुए और १९०९ वाला इंडियन काउंसिल ऐक्ट बना। यह इसलिए बना था कि भारत में बहुत अधिक सार्वजनिक आन्दोलन हुआ था और माँगें पेश की गई थीं। १९०४ और १९०५ में फिर अधिक सुधार करने के लिए कहा था और चाहा था कि प्रतिनिधि संस्थाओं का विस्तार किया जाय और देश के कामों पर जनता को वास्तविक तथा अधिक अधिकार दिया जाय। १९०६ में कहा गया था कि यहाँ भी वही शासन-प्रणाली प्रचलित की जाय जो स्वराज्य-भोगी ब्रिटिश उपनिवेशों में प्रचलित है; और इस बात पर जोर दिया था कि अधिक संख्या में चुने हुए ऐसे वास्तविक प्रतिनिधियों द्वारा काम हो जिनका

विशेष प्रभाव पड़ सके और देश के आर्थिक तथा शासन-सम्बन्धी कामों पर अधिक नियन्त्रण करने का अधिकार दिया जाय। पर सारे देश में जनता का मत स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्तावों के द्वारा प्रकट किया गया था। इसके सिवा वङ्ग-विच्छेद (१९०५) के बाद क्लान्ति के चरम उपायों द्वारा जनता के क्रोध और आकांक्षाओं का जो प्रदर्शन हुआ था, उसका भी इस पर प्रभाव पड़ा था। उस समय भारत-मन्त्री लॉर्ड मारबो थे जो बहुत बड़े उदार मतवादी थे और बड़े लाट लार्ड मिंटो थे जिन्होंने समझ लिया था कि जनता का भाव और असन्तोष कितना प्रबल है। इन्हीं लोगों के दबाव से पार्लिमेंट ने भारत के संघटन में कुछ परिवर्तन करना स्वीकृत किया था। १९०६ वाले इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट के अनुसार काउंसिलों के सदस्यों की संख्या भी बढ़ाई गई और उनमें निर्वाचित सदस्यों की संख्या भी अधिक की गई; पर साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन का एक ऐसा हानिकारक साधन उपस्थित कर दिया गया था जिसमें एक सम्प्रदाय के लोगों को आवश्यकता और संख्या से अधिक प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया था। उस समय भी अर्थात् १९०६ और १९१० में भी कांग्रेस ने सरकार के इस काम की निन्दा की थी। म्युनिसिपैलिटियों, जिला बोर्डों और स्थानिक संस्थाओं में जो पृथक् और साम्प्रदायिक निर्वाचन की पद्धति प्रचलित की गई थी, उसकी भी कांग्रेस ने ज़ोरों से निन्दा की थी। इस ऐक्ट के अनुसार भारत सरकार ने जो नियम आदि बनाये थे, उनके कारण इस ऐक्ट द्वारा होनेवाले लाभ और भी कम हो गये थे। इस ऐक्ट में निश्चित रूप से मान लिया गया था कि जो अतिरिक्त सदस्य होंगे, उनमें नामाङ्कित लोग भी रहेंगे और निर्वाचित लोग भी। उसमें सदस्यों को यह भी अधिकार दिया गया था कि वे वार्षिक आर्थिक विवरणों तथा जनता के हित से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों पर वाद-विवाद कर सकें, उनके सम्बन्ध में प्रस्ताव उपस्थित कर सकें, उन पर अलग-अलग मत दे सकें और निर्धारित शर्तों और नियमों आदि के अनुसार अतिरिक्त प्रश्न भी कर सकें। पर उनके प्रस्ताव केवल सिफ़ारिश के रूप में हो सकते थे। बड़ी और केन्द्रीय लेजिस्लेटिव

काउंसिल में सरकारी सदस्यों का ही बहुमत रखा गया था और प्रान्तीय काउंसिलों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया था जिसमें निर्वाचित तथा नामाङ्कित दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित थे। पर ये प्रतिनिधि भी प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे। ये प्रतिनिधि काउंसिल के सदस्यों, म्युनिसिपैलिटियों, जिला और ताल्लुका बोर्डों, जमींदारों, चेम्बरस आफ कामर्स, विश्वविद्यालयों और मुसलमानों आदि के द्वारा चुने जाते थे। इस प्रकार प्रतिनिधि चुनने की जो प्रणाली निश्चित की गई थी, वह बहुत ही श्रुतिपूर्ण थी। हर एक काउंसिल में सरकारी और सरकार द्वारा नामाङ्कित सदस्य मिलकर जो चाहते थे, वह कर डालते थे। काउंसिलों को जो कुछ अधिकार था, वह बहुत ही परिमित था और केवल वाद-विवाद तथा आलोचना करने और परामर्श देने का था। न तो उन्हें कोई उत्तरदायित्व दिया गया था और न देने का विचार ही जान पड़ता था। एक्जिक्यूटिव की ही प्रधानता थी। काउंसिलों का मतलब सिर्फ यही था कि एक्जिक्यूटिव शासन-सम्बन्धी जो कुछ काम करे, उसमें जनता के थोड़े से प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो जायें। प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउंसिलें वास्तव में क़ानून बनाने के लिए एक्जिक्यूटिव सरकार का एक विस्तृत रूप मात्र थीं। न तो अभी तक यह बात मानी गई थी, न कहीं लिखी गई थी और न कहीं इसके माने जाने की आशा ही थी कि भारत सरकार में क़ानून के अनुसार भारतवासियों का भी कोई स्थान है और ब्रिटिश साम्राज्य में भारत की भी कोई स्थिति है। लार्ड मारले ने यह साफ़ कह दिया था कि हम भारत में कोई पार्लिमेंटवाली प्रथा नहीं चलाना चाहते। लार्ड डफ़रिन ने भी अपने शासन-काल में यही बात कही थी। वे भी कुछ थोड़े से और सुधार तो कर देना चाहते थे, पर सरकार में पार्लिमेंटवाली प्रथा नहीं लाना चाहते थे। १९०६ वाली कांग्रेस के सभापति ने यह निश्चित कर दिया था कि हमारा उद्देश्य भारत में भी वैसा ही स्वराज्य स्थापित करना है जैसा इंग्लैंड में अँगरेज़ों को प्राप्त है। उस कांग्रेस में यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था—“स्वराज्य-भोगी ब्रिटिश उपनिवेशों में जो शासन-प्रणाली प्रचलित है, वही भारत में भी हो।” १९१२ में

मुस्लिम लीग ने भी यही निश्चित किया था कि हमारा उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर औपनिवेशिक ढंग का स्वराज्य प्राप्त करना है।

एकू का स्वरूप—पर १९०६ वाले ऐक्ट ने भारत की स्वेच्छाचार-पूर्ण शासन-प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया था। भारतवासियों को नियन्त्रण करने का नहीं, बल्कि केवल प्रभाव डालने और आलोचना करने का अधिकार दिया गया था। सार्वजनिक प्रश्नों के निर्णय में जनता केवल इसी काम के लिए सरकार का साथ दे सकती थी कि जिन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और वर्गों आदि के कल्याण के लिए सरकार उत्तरदायी है, उनकी आवश्यकताएँ और भाव सरकार पर प्रकट हो जायँ। इस बार यह निश्चय हुआ था कि गवर्नर जनरल की एक्ज़िक्यूटिव काउंसिल में भी और प्रान्तीय एक्ज़िक्यूटिव काउंसिलों में भी एक-एक भारतीय सदस्य रखा जाय, यद्यपि यह बात ऐक्ट में नहीं आई थी। ऐक्ट में कोई नई नीति भी निर्धारित नहीं हुई थी। वह मानों उन्हीं आरम्भिक सिद्धान्तों का एक विस्तृत रूप था कि सब प्रश्नों का अन्तिम निर्णय एक्ज़िक्यूटिव के द्वारा ही होगा। सरकार वास्तव में कानून बनानेवाली एक्ज़िक्यूटिव थी; अर्थात् उसे कानून बनाने, शासन करने और यहाँ तक कि न्याय करने का भी पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त था। न तो उत्तरदायी संस्थाएँ ही स्थापित की गई थीं और न जनता को कोई अधिकार ही दिया गया था। पर १९०६ वाले ऐक्ट के अनुसार इस पुरानी धारणा का परित्याग कर दिया गया था कि काउंसिलें केवल कानून बनानेवाली सरकारी कमेटियाँ हैं; और मांटफ़ोर्ड रिपोर्ट के अनुसार उन्हें ऐसा रूप दिया गया था कि वे सरकारी कामों की जाँच-पड़ताल का काम कर सकें; और इसके लिए उन्हें यह महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये जायँ कि वे शासन-सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद कर सकें और उनके प्रश्नों का सरकार से जो उत्तर मिले, उनके सम्बन्ध में वे सरकार से जिरह कर सकें। इस सम्बन्ध में मत देनेवालों का क्षेत्र बहुत ही संकुचित था और निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता था; वास्तविक मतदाता और निर्वाचित प्रतिनिधि में कोई सम्बन्ध नहीं होता था और वह भिन्न-भिन्न हितों और वर्गों के आधार पर होता था। इन

बातों से साधारणतः सदस्यों के मन में यह भाव नहीं उत्पन्न होता था कि वे जनता के प्रति उत्तरदायी हैं। एक्जिक्यूटिव फिर भी पूरी तरह से उत्तरदायित्व-रहित ही था।

डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन—१९१० में डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन बैठा था जिसने अपनी रिपोर्ट में यह बतलाया था कि अधिकार एक केन्द्र से हटाकर भिन्न-भिन्न केन्द्रों में बाँट दिये जायँ, अर्थ और शासन-सम्बन्धी विषयों में उच्च केन्द्रीय अधिकारियों का नियन्त्रण कम हो जाय और प्रान्तीय सरकारों के हाथ में चला जाय, शासन-प्रणालियाँ सरल की जायँ और स्थानिक स्व-राज्य का विकास किया जाय। इस रिपोर्ट में भी इन विषयों का निराकरण मारले-मिन्टो सुधारोंवाले (१९०६) भाव से ही किया गया था और एक्जिक्यूटिव को उत्तरदायित्व-रहित ही रहने दिया गया था। इसमें भी नीति यही थी कि सब अधिकार केन्द्र की ओर ही प्रवृत्त किये जायँ, केन्द्र से विमुख या दूर न रहें। पर फिर भी केन्द्र का नियन्त्रण कुछ कम कर दिया गया था।

१९११ में सम्राट् का भारत-आगमन—इसके उपरान्त १९११ में भारत में सम्राट् का आगमन हुआ। उन्होंने वंग-विच्छेद का निर्णय रद्द करके दोनों को फिर से एक प्रान्त बनाया। इस प्रकार उन्होंने मानों जनता की वह बात मान ली जो उसने अपने इतिहास, जातीय एकता और प्राकृतिक प्रेम-सूत्र के सम्बन्ध में कही थी; और यद्यपि लार्ड क्रयू ने कह दिया था कि भारत का उद्देश्य औपनिवेशिक ढंग का स्वराज्य नहीं हो सकता, तो भी इस कृत्य से यह बात मान ली गई थी कि भारत में एक ऐसी केन्द्रस्थ शासन-प्रणाली होगी जिसमें प्रान्तों को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। इससे यह आशा उत्पन्न हो गई कि आगे चलकर भारत में संघात्मक शासन-प्रणाली भी प्रचलित होगी। प्रान्तीय स्वराज्य तभी चल सकता था जब संघात्मक शासन-प्रणाली स्थापित हो। इससे जनता में यह भाव उत्पन्न होकर परिपक्व हुआ कि प्रान्तों का संघटन उनमें बोली जानेवाली भाषा के आधार पर होना चाहिए। सार्वजनिक नौकरियों, स्थानिक स्वराज्य और एक केन्द्र से हटाकर प्रान्तों में

अधिकारों का विभाग करने के प्रस्ताव इस सिद्धान्त से परिमित कर दिये गये कि उनमें भारतवासियों को अधिक स्थान मिलेगा और उनका स्वरूप प्रजा-सत्तात्मक होगा और उन सब पर ब्रिटिश एक्ज़िक्यूटिव प्रधान रहेगा।

१९१४ का लार्ड हार्डिंज का भाषण—ब्रिटिश उपनिवेशों में बसनेवाले भारतवासियों के सम्बन्ध में लार्ड हार्डिंज का वह भाषण महत्त्वपूर्ण है जो उन्होंने १९१४ में मदरास में किया था। उसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि उपनिवेशों और भारतवर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए एक ऐसा नियम सा हो जाना चाहिए कि उपनिवेशों में भारतवासियों के साथ जैसा व्यवहार हो, वैसा ही व्यवहार भारत में उन उपनिवेशों के निवासियों के साथ भी होना चाहिए। इस प्रकार कम से कम सिद्धान्ततः यह निश्चित हो जाता था कि भारत भी स्वराज्य-भोगी उपनिवेशों के समान ही है; और जब तक भारत का आन्तरिक संघटन विस्तृत न हो और उसकी शक्तियाँ न बढ़ें तथा उस पर से ब्रिटेन का शासन कुछ शिथिल न हो, तब तक उन्नति सम्भव नहीं है। लार्ड हार्डिंज ने अपने मदरासवाले भाषण में दक्षिण अफ्रिका में रहनेवाले भारतवासियों की स्थिति के सम्बन्ध में कठोर आलोचना और विरोध किया था और वहाँ के सत्याग्रह आन्दोलन के साथ सहानुभूति प्रकट की थी और इमिग्रेशन ऐक्ट (१९१३) की निन्दा करते हुए कहा था कि वह द्वेष तथा घृणा उत्पन्न करनेवाला और अन्यायपूर्ण है। इस प्रकार वाइसराय ने भारत के हितों और आत्म-सम्मान का पक्ष लेकर एक स्वराज्य-भोगी उपनिवेश का जो विरोध किया था, उससे यह बात मानें गवर्नर-जनरल द्वारा मान ली जाती थी कि भारत का भी कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और उसकी स्थिति दूसरे उपनिवेशों के समान ही है।

अगस्त १९१७ की घोषणा—इसके उपरान्त युद्ध-काल में ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल की वह घोषणा हुई जो २० अगस्त १९१७ को की गई थी और जिसमें यह बतलाया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य में भारत का भावी संघटन और स्थिति क्या होगी। उसमें निम्नित रूप से कहा गया है कि भारत को

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रखकर उसमें उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली प्रचलित करना ही हमारा उद्देश्य है। स्वराज्य के सम्बन्ध में भारत की जो ये माँगें मान्य की गई थीं, उनका मुख्य कारण यह था कि युद्ध-काल में और ऊँचे-ऊँचे आदर्श लोगों के सामने रखे जाते थे और बड़े-बड़े वचन दिये जाते थे। भारत ने भी युद्ध में कुछ सेवा तथा सहायता की थी और भिन्न-भिन्न संस्थाओं तथा लोगों के द्वारा स्वराज्य का सार्वजनिक आन्दोलन बराबर बढ़ता जा रहा था। १९१४ और १९१५ में कांग्रेस ने यह माँग पेश की थी कि भारत को प्रान्तिक स्वराज्य और आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करके सारपूर्ण और अधिक परिवर्तन किये जायँ, भारत को संघात्मक साम्राज्य का एक संयोजक अङ्ग माना जाय, उसके सम्बन्ध में उसे सब अधिकारों का स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग करने दिया जाय तथा स्थानिक स्वराज्य के अधिकारों में और वृद्धि की जाय। १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस-लीग योजना स्वीकृत हुई। १९१६ में ही होम रूल लीग की भी स्थापना हुई थी जिसने साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करने का आन्दोलन आरम्भ किया था और जनता ने उसका अनुकरण भी किया था। १९१६ में भारतीय लेजिस्लेटिव काउंसिल ने एक सूचना-पत्र उपस्थित किया था जिसमें तेरह सिफारिशें थीं। उन सबका मतलब यही था कि वर्तमान शासन-प्रणाली और लेजिस्लेटिव काउंसिलों में सुधार किये जायँ और उनके अधिकार बढ़ाये जायँ। मांटफोर्ड रिपोर्ट में इस योजना के कुछ दोष बतलाये गये थे और कहा गया था कि इससे काम बिलकुल रुक जायगा; क्योंकि एक ओर तो लेजिस्लेटिव काउंसिलें निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होंगी और दूसरी ओर एक्जिक्यूटिव को भारत-मन्त्री के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ेगा; और ये दोनों समान रूप से शक्तिशाली होंगे। दोनों में कोई संयोजक शृंखला नहीं थी। इस प्रकार एक्जिक्यूटिव पर लेजिस्लेटिव काउंसिल का पूरा या आंशिक नियन्त्रण या उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की भावना ठीक तरह से नहीं की गई थी।

मांटफोर्ड सुधार के प्रस्ताव—१९१८ में मांटफोर्ड सुधारों के लिए जो प्रस्ताव किये गये थे, उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिए १९१९

में गवर्नमेंट आफ् इंडिया ऐक्ट स्वीकृत किया गया था जिसमें ठीक तरह से काम चलाने के लिए कुछ सिद्धान्तों का निरूपण किया गया था। वे सिद्धान्त इस प्रकार थे—

१—जहाँ तक हो सके, स्थानिक संस्थाओं पर जनता का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहे और बाह्य नियन्त्रण के लिए जहाँ तक हो सके, उन्हें स्वतन्त्रता दी जाय।

२—प्रान्त ही ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली प्रचलित करने के लिए पहले-पहल अग्रसर हुआ जाय। कुछ उत्तरदायित्व तो उन्हें तुरन्त दे दिया जाना चाहिए और हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि ज्योंही परिस्थितियाँ उपयुक्त तथा अनुकूल हों, त्योंही उन्हें पूरा-पूरा उत्तरदायित्व दे देना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि कानून बनाने, शासन करने और आर्थिक व्यवस्था करने के सम्बन्ध में प्रान्तों को जहाँ तक हो सके, अधिक स्वतन्त्रता दी जाय। भारत सरकार अपने ये अधिकार देते समय केवल इस बात का ध्यान रखे कि अपने उत्तरदायित्व का ठीक-ठीक निर्वाह करने के लिए वह अधिक से अधिक कहाँ तक अधिकार दे सकती है।

३—भारत सरकार को पूर्ण रूप से पार्लिमेंट के सामने उत्तरदायी रहना चाहिए और इस उत्तरदायित्व को छोड़कर प्रधान विषयों में उसका अधिकार तब तक निर्दिष्ट रहना चाहिए जब तक इस बात का अनुभव न हो जाय कि प्रान्तों में इस समय जो परिवर्तन किया जा रहा है, उसका क्या प्रभाव अथवा परिणाम होता है। इसी बीच में भारतीय लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए, उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व देना चाहिए और सरकार पर प्रभाव डालने के उन्हें अधिक अवसर देने चाहिए।

४—ज्यों-ज्यों ऊपर बतलाये हुए परिवर्तन होते जायँ, त्यों-त्यों भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों पर से पार्लिमेंट और भारत-मन्त्री का अधिकार कम होता जाना चाहिए।

इन सिद्धान्तों और भावी लक्ष्य के विचार से भारत सरकार में नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये थे—

परिवर्तन—१—पार्लिमेंट और भारत-मन्त्री का नियन्त्रण तथा हस्तक्षेप अपेक्षाकृत कम हो गया। निश्चय हो गया कि भारत-मन्त्री का वेतन ब्रिटिश पार्लिमेंट दिया करे। यह प्रस्ताव किया गया कि इंग्लैंड में भारत का एक हाई कमिश्नर रहा करे।

२—निश्चय हो गया कि शान्ति, व्यवस्था और उत्तम शासन के विचार से अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए भारत सरकार जिन विषयों को वचित समझे, वे निर्विवाद रूप से उसी के अधिकार में रहें।

३—गवर्नर-जनरल की एक्ज़िक्यूटिव काउंसिल में भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई।

४—केन्द्रीय सरकार में दो सभाएँ रखी गईं—एक तो काउंसिल ऑफ़ स्टेट जिसके मतदाता कुछ ऊँचे दर्जे के और थोड़े होते हैं और जिनके लिए कुछ विशेष बाधक नियम थे, पर फिर भी जिनके निर्वाचन-क्षेत्र, धर्म या सम्प्रदाय के विचार से अलग-अलग थे। इसमें गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया। और दूसरी असेम्बली बनाई गई जिसमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता है। लेजिस्लेटिव असेम्बली का सभापति भी उसी के द्वारा निर्वाचित होता है।

५—गवर्नर-जनरल को यह अधिकार मिला कि कानूनों आदि के सम्बन्ध में वह अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति दे सके अथवा अपने विशेष अधिकारों से उन्हें रोक दे या जारी करे।

६—जो प्रस्ताव स्वीकृत हों, वे केवल सिफारिश के रूप में समझे जायें।

७—भारतीय लेजिस्लेटिव काउंसिलों के ऊपर गवर्नर-जनरल को आर्डिनेन्स बनाने और गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल को रेगुलेशन बनाने का अधिकार दिया गया।

८—बजट के दो विभाग किये गये जिनमें से एक विभाग की मदों पर लेजिस्लेटिव काउंसिल अपना मत दे सकती थी और दूसरे विभाग की मदों पर नहीं दे सकती थी। जिन मदों पर मत नहीं दे सकती, वे इस प्रकार हैं—कुर्जों का सुद, सार्वजनिक पदाधिकारियों के वेतन और पेंशन, ईसाई

धर्म-प्रचारकों को दी जानेवाली सहायता, राजनीतिक और देश की सैनिक रक्षा की मदद। यह भी निश्चित हुआ कि गवर्नर-जनरल को यह अधिकार है कि वह किसी मद में खर्च करने की आज्ञा दे सकता है।

६—प्रान्तों में केवल एक लेजिस्लेटिव काउंसिल रखी गई जिसके सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से परन्तु धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर सुसल-मानों के लिए अलग होता है और उसमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता है। उनमें सरकारी और सरकार द्वारा नामाङ्कित सदस्य भी पूर्ववत् रहते हैं। उनके सभापति उन्हीं के द्वारा निर्वाचित होते हैं।

१०—एक्जिक्यूटिव के भी दो विभाग हैं—रक्षित और हस्तान्तरित। रक्षित विभाग के काउंसिलर लेजिस्लेटिव काउंसिल के सामने उत्तरदायी नहीं होते, पर हस्तान्तरित विषयों के काउंसिलर उत्तरदायी होते हैं। निर्वाचित सदस्यों में से ही मिनिस्टर चुने जाते हैं। थोड़े से विषय हस्तान्तरित कर दिये गये हैं और बाकी सब रक्षित हैं। सरकार ही उन सबका परिचालन करती है।

११—गवर्नर की एक्जिक्यूटिव काउंसिल में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ी है।

१२—उन काउंसिलों में बजट-सम्बन्धी प्रस्तावों को छोड़कर जो प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं, वे सिफारिश के तौर पर होते हैं।

१३—गवर्नर को पूर्ववत् यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी विषय की मंजूरी या नामंजूरी दे अथवा उसे अपने अधिकार से स्वीकृत या प्रचलित करे या रोक दे। रक्षित विषयों के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए और प्रान्त में शान्ति बनाये रखने के लिए उसे इतना अधिकार और दिया गया है कि वह काउंसिल द्वारा किसी अस्वीकृत विषय को भी कार्य-रूप में परिणत कर सके।

१४—प्रान्तीय काउंसिलों के बजट में भी कुछ ऐसी मदें होती हैं जिन पर वोट दिया जाता है; और कुछ ऐसी होती हैं जिन पर वोट नहीं दिया जा सकता। जिन मदों के सम्बन्ध में वोट नहीं दिया जा सकता, वे इस प्रकार

हैं—वह धन जो प्रान्तों की ओर से केन्द्रीय सरकार को दिया जाता है, कर्जों का सूद और अफसरों के वेतन तथा पेंशन ।

१५—केन्द्रीय और प्रान्तीय आय-व्यय तथा कर्तव्यों आदि का पूरा-पूरा पृथक्करण कर दिया गया है और प्रान्तों को इस बात का अधिकार मिल गया है कि वे अपने यहाँ नये कर लगा सकें अथवा श्रृण ले सकें ।

१६—यह निश्चय हुआ है कि प्रति दस वर्ष पर एक कमीशन बैठे करेगा जो यह देखकर रिपोर्ट करेगा कि शासन-कार्य किस ढंग से चल रहा है, शिक्षा का प्रचार कितना बढ़ा है और प्रतिनिधि-प्रधान संस्थाओं का कितना विकास हुआ है । यदि कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी, तो वह कमीशन उसके लिए भी प्रस्ताव कर सकेगा ।

१७—एक पब्लिक सर्विस कमीशन बनाया गया है जो भारत में सरकारी नौकरी के लिए लोगों को भरती करेगा और उन नौकरियों पर नियन्त्रण रखेगा ।

१८—निश्चय हुआ है कि जहाँ तक हो सके, स्थानिक संस्थाओं पर जनता का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहे ।

दो नियामक तत्त्व—अंगरेजों के दो विचार ऐसे हैं जो भारत में पूरी-पूरी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली प्रचलित करने में बाधक होते हैं । पहली बात तो यह है कि भारत को सदा ब्रिटिश साम्राज्य का एक भीतरी अङ्ग बना रहना चाहिए । दूसरी बात यह है कि उसे न तो अभी तक इतना अनुभव प्राप्त हुआ है और न वह अभी इस योग्य हुआ है कि बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा कर सके और अपना शासन स्वयं कर सके । इसका अनिवार्य निष्कर्ष यही निकलता है कि भारत की सेना और शासन का सारा अधिकार ब्रिटिश पार्लिमेंट के हाथ में ही रहना चाहिए । यह ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न है । इसलिए यहाँ का उत्तरदायित्वपूर्ण शासन या स्वभाग्य-निर्णय परिमित और नियन्त्रित रहना चाहिए । भारतवासी इन दोनों ही सिद्धान्तों का विरोध करते हैं और इन्हें नहीं मानते । न तो वे ग्रेट ब्रिटेन की इस साम्राज्य-सम्बन्धी आकांक्षा को ही मानते हैं और न उसके

शासन करने के अधिकार को ही। भारत के भविष्य के सम्बन्ध में मांट-फ़ोर्ड रिपोर्ट में कहा गया है—

भारत का भविष्य—“भारत के भविष्य के सम्बन्ध में हम लोगों का यह विचार है कि इसमें अनेक अलग-अलग राष्ट्र या प्रदेश हों जो सब प्रकार से बिल्कुल बराबर हों और शुद्ध स्थानीय या प्रान्तीय विषयों में अपना शासन और व्यवस्था आप करें। कुछ अवस्थाओं में तो उनका यह कार्य वर्तमान प्रान्तों के अनुसार रहे और कुछ अवस्थाओं में जनता के स्वरूप तथा आर्थिक हितों के विचार से उनके क्षेत्र और सीमा आदि में कुछ परिवर्तन हो। इन सब राष्ट्रों या राज्यों का प्रधान अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हो जो धीरे-धीरे सब राष्ट्रों की जनता के प्रति उत्तरदायी होती जाय और उनकी प्रतिनिधि बनती जाय। समस्त भारत के आन्तरिक तथा बाह्य सार्वजनिक विषयों की वह व्यवस्था करे, राष्ट्रों या राज्यों के पारस्परिक झगड़ों में वह पक्ष का काम करे, समस्त भारत के हितों का प्रतिनिधित्व करे और इस विषय में वह साम्राज्य के स्वराज्य-भोगी अङ्गों के बिल्कुल समान रहे। इस चित्र में देशी रियासतों के लिए भी स्थान है। राष्ट्रों के ब्रिटिश समूह में स्वराज्यभोगी संघात्मक भारत के जिस रूप का अनुमान किया जाता है, वह यही है।

वे समस्याएँ जिनका निराकरण नहीं हुआ है—ये सुधार हो जाने पर भी कुछ समस्याएँ ऐसी बच रही हैं जिनका या तो कोई निराकरण ही नहीं हुआ है और या जिनका केवल आंशिक निराकरण हुआ है। वे समस्याएँ इस प्रकार हैं—ब्रिटिश भारत के संघटन में देशी रियासतों का स्थान, सेना-विभाग का भारतीय-करण, न्याय और शासन-विभागों का पृथक्करण, ब्रिटिश उपनिवेशों के साथ सम्बन्ध, सार्वजनिक नौकरियों पर से युरोपियनों का हटाया जाना, आर्थिक स्वतन्त्रता, भारत-मन्त्री की काउंसिल, भारत में न्याय-कार्य के लिए सुप्रीम कोर्ट की स्थापना और लेजिस्लेटिव काउंसिलों में से गैर-सरकारी युरोपियनों का हटाया जाना। ये सब तो महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं। और इनके अतिरिक्त सबसे बड़ी समस्या उस राई के सम्बन्ध में है जो भारत-

वासी पूर्ण स्वराज्य, औपनिवेशिक स्थिति या स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उपस्थित करते हैं।

(५) साम्प्रदायिक आन्दोलन

मुसलमानों का साम्प्रदायिक आन्दोलन—भारतीय मुसलमानों के साम्प्रदायिक आन्दोलन का आरम्भ सर सैयद अहमद से होता है। उनका यह मत था कि मुसलमानों को कांग्रेस की राजनीतिक बातों से बिल्कुल अलग रहकर अपने सम्प्रदाय के हितों की रक्षा करनी चाहिए; और अपने सम्प्रदाय में शिक्षा का प्रचार तथा दूसरे सुधार करके अपना हित साधन करना चाहिए। उन्होंने १८७६ में अलीगढ़ कालेज की स्थापना की। यद्यपि वे हिन्दुओं और मुसलमानों का महत्त्व भारतवर्ष की दो आँखों के समान मानते थे, तो भी वे केवल मुसलमानों के हितों की ओर ही ध्यान रखते थे और नैशनल कांग्रेस की बढ़ी हुई राजनीतिक बातों से बराबर बचते थे। आरम्भ में कुछ ऐसे मुसलमान थे जो कांग्रेस के अधिवेशनों में उपस्थित हुआ करते थे, पर बाद में साम्प्रदायिक भाव बढ़ाया जाने लगा और मुसलमान लोग सारे देश के हितों का विचार छोड़कर केवल अपने ही हितों तथा सुभीतों का ध्यान रखने लगे। केवल थोड़े से मुसलमान राष्ट्रीय विचारों के थे। सर सैयद अहमद की नीति इस रूप में फलवती हुई कि मुसलमान लोग अपने आपको हिन्दुओं से बिल्कुल अलग समझने लगे और अपने लिए अलग सुभीते प्राप्त करने के उद्देश्य से उधर सरकार के साथ अलग और इधर हिन्दुओं के साथ अलग बात-चीत करने लगे। कांग्रेस जिस प्रकार का प्रतिनिधिसत्तात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करना चाहती थी, उससे मुसलमान लोग अपने साम्प्रदायिक भावों के कारण इसलिफ डरते थे कि उसमें हिन्दुओं का बहुमत होगा। इसलिफ वे इस बात पर ज़ोर देते थे कि हमारे सम्प्रदाय का एक अलग अल्पमत मान लिया जाय और हमें विशेष अधिकार दिये जायें। वे १ अक्टूबर १९०६ को आगाख़ाँ के नेतृत्व में एक डेपुटेशन लेकर वाइसराय लार्ड मिंटो के पास गये और उनसे उन्होंने प्रार्थना की कि तब तक प्रतिनिधित्व की

कोई प्रणाली प्रचलित न की जाय, जब तक प्रत्येक निर्वाचित संस्था में हमारी संख्या और राजनीतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व के अनुसार हमारे लिए कुछ निश्चित स्थान नियत और रक्षित न हों और जब तक हमारे उतने सदस्यों का निर्वाचन करने के लिए निर्वाचन-क्षेत्र नियत न हों। लार्ड मिंटो ने उनकी इन बातों पर विचार करने का वचन दिया और भारत सरकार ने इन माँगों को मान्य करके उनका समर्थन किया; और १९०६ वाले इंडियन काउंसिल ऐक्ट के अनुसार जो रेगुलेशन बने, उनमें भारत-मन्त्री ने यह स्वीकृति दे दी कि मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि चुनने का विशेष रूप से अलग अधिकार दिया जाय, सदस्यता के लिए उनमें अपेक्षाकृत कम गुण देखे जायँ और उनका अलग प्रतिनिधित्व हो। अपने विशिष्ट निर्वाचन-क्षेत्रों के अतिरिक्त उन्हें सार्वजनिक निर्वाचन-क्षेत्रों में भी मत देने का अधिकार दिया गया; पर जिन स्थानों में हिन्दुओं की संख्या कम थी, उन स्थानों में उनके लिए इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र नहीं नियत हुए। महमूदाबाद के स्वर्गीय राजा साहब ने, जो एक प्रमुख मुसलमान थे, कहा था कि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र नियत करने का विचार मुसलमानों से भिन्न कुछ और लोगों में उत्पन्न हुआ था और उन्हीं लोगों ने इस भाव को प्रोत्साहित किया था। यह हानिकारक विचार चाहे जिसके मन में उत्पन्न हुआ हो और चाहे जिसने उसे परित्रित किया हो, पर मुसलमानों ने इसे दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लिया और कुछ मुसलमान इसके लिए अब तक ज़ोर देते हैं। (अब तो इसके लिए बहुत अधिक ज़ोरों से प्रयत्न किया जाने लगा है।) इस राजनीतिक और सामाजिक पृथक्ता तथा एकान्तता के भाव से प्रेरित होकर मुसलमानों ने कांग्रेस का विरोध करने और उसकी बराबरी की एक संस्था खड़ी करने के विचार से १९०६ में मुस्लिम लीग नाम की एक अखिल भारतीय राजनीतिक मुस्लिम संस्था स्थापित की। अपने आरम्भिक काल में इसने अफसरों और सरकार से बहुत कुछ सहायता पाई थी और उन्होंने इसका बहुत समर्थन किया था। पर बाद में देश-हितैषी मुसलमानों के प्रभाव में पड़कर यह कांग्रेस की ओर प्रवृत्त हुई और १९१३ में इसने अपना उद्देश्य उपनिवेशों के ढंग पर भारत के

लिए उपयुक्त स्वराज्य प्राप्त करना स्थिर किया। जब १९१२ में अलीगढ़ कालेज को मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाने का विचार आरम्भ हुआ, तब सरकार और मुस्लिम लीग में मतभेद आरम्भ होने लगे। १९०८ में मुस्लिम लीग ने लार्ड मारले के प्रस्तावों का यह कहकर स्वागत किया था कि यह सुधारों की बहुत बड़ी और उदारतापूर्ण किस्त है। पर जब टर्की और फारस में राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए (१९११), तब मुसलमान उनसे बहुत प्रभावान्वित हुए। १९१५ से यह होने लगा कि कांग्रेस तथा लीग के अधिवेशन बराबर साथ-साथ और एक ही जगह होने लगे और दोनों में सहयोग तथा आतुभाव स्थापित होने लगा। १९१६ में लखनऊ की कांग्रेस में लीग और कांग्रेस में इस सम्बन्ध में एक समझौता हो गया कि प्रत्येक प्रान्त में और केन्द्रीय सरकार में भी जितनी निर्वाचित संस्थाएँ हैं, उन सबमें मुसलमान प्रतिनिधियों का कितना अनुपात रहेगा। १९१७ में कांग्रेस और लीग की एक सम्मिलित योजना तैयार हुई जिसमें दोनों की सम्मिलित माँग थी और वह योजना मि० माटेगू के सामने विचारार्थ तथा भारत के भावी संघटन में सम्मिलित करने के लिए उपस्थित की गई। यद्यपि नये सुधारों (१९१८) में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की निन्दा की गई थी, पर फिर भी उस समय असन्तोष उत्पन्न होने से रोकने के लिए (१९१६ में) लखनऊ का समझौता और साम्प्रदायिक निर्वाचन मान्य कर लिया गया। १९१६-१९२२ में मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन ज़ोरों से चलाया, सरकार के सामने अपनी माँगें पेश कीं और महात्मा गान्धी के नेतृत्व में खिलाफत के पक्ष में हिन्दुओं का सहयोग और सहायता प्राप्त की। पर १९२२ के बाद और विशेषतः १९२५ से सरकारी नौकरियों में और स्थानिक संस्थाओं में मुसलमानों के अनुपातिक अंश तथा बाजे और गौ के प्रश्नों और इसी प्रकार के कई दूसरे प्रश्नों पर हिन्दुओं और मुसलमानों में खिंचाव पैदा होने और बढ़ने लगा। खिलाफत टूट गई और उसके विभाग हो गये। सफल तुर्कों ने स्वयं ही खिलाफा को पदच्युत कर दिया और राष्ट्र को धर्म से अलग कर लिया। इसलिये खिलाफत के प्रश्न का महत्त्व जाता रहा। पहले जिस मुस्लिम

लीग पर ख़िलाफ़त आन्दोलन की बहुत अधिक छाया पड़ी थी, वही अब फिर मुसलमान नेताओं के आन्तरिक राजनीति के उन प्रश्नों के विचार के लिए एकत्र करने लगी जिनसे मुसलमानों का सम्बन्ध था। वह असहयोग के पक्ष में नहीं थी, इसलिए काङ्ग्रेस में प्रवेश करने और भारत के संघटन में मुसलमानी हितों की रक्षा का वह समर्थन करने लगी। इस समय उसमें दो दल हैं जो भारत के नये संघटन में मुसलमानों की माँगों के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्तावों का समर्थन करते हैं। एक दल तो सम्मिलित निर्वाचन के पक्ष में है, पर चाहता है कि जिन प्रान्तों में मुसलमान जनसंख्या के विचार से कम हैं, उनमें उनके लिए कुछ स्थान निश्चित रूप से रक्षित रहें। दूसरा दल पृथक् निर्वाचन चाहता है और कहता है कि जिन प्रान्तों में मुसलमानों की संख्या अधिक है, उनमें उनके लिए जन-संख्या के अनुसार स्थान रक्षित रहें और जिनमें उनकी संख्या कम है, उनमें भी उनकी जगहें इतनी हों कि वे अपना यथेष्ट प्रभाव डाल सकें। इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े से मुसलमान ऐसे भी हैं जो बिल्कुल सार्वजनिक निर्वाचन चाहते हैं और पृथक् तथा सम्मिलित दोनों प्रकार के निर्वाचनों की निन्दा करते हैं, जिनमें कुछ स्थान रक्षित रखे जाने की आवश्यकता होती है; क्योंकि वे कहते हैं कि इस प्रकार के निर्वाचन प्रजासत्तात्मक और राष्ट्रीय विचारों के प्रसार में बाधक होते हैं। देशभक्त मुसलमानों के एक बहुत बड़े अंश ने नेहरू कमेटी (१९२८) के प्रस्तावों को स्वीकृत कर लिया है जिनमें इस शर्त पर सम्मिलित निर्वाचन का समर्थन किया गया है कि सिन्ध, जो मुख्यतः मुसलमानी प्रान्त है, बम्बई प्रेसिडेंसी से अलग कर दिया जाय। साथ ही जन-संख्या के विचार से मुसलमानों के लिए थोड़े से स्थान रक्षित रखे जायँ और उन्हें सार्वजनिक निर्वाचन में भी खड़े होने दिया जाय। सरकार की ओर से साइमन कमीशन साम्प्रदायिक निर्वाचन की समस्या पर विचार कर रहा है। मांटेगू रिपोर्ट में इस प्रकार के निर्वाचन की यह कहकर निन्दा की गई थी कि यह प्रजातन्त्र, राष्ट्रीयता और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उस रिपोर्ट में बतलाया गया है कि इतिहास से यही सिद्ध होता है कि साम्प्र-

सांप्रदायिक निर्वाचन अनिवार्य या सर्वश्रेष्ठ नहीं है; उसके कारण लोगों में अपनी रक्षा के सम्बन्ध में एक ऐसी मिथ्या भावना उत्पन्न हो जाती है जो साम्प्रदायिक या वर्गीय भेदों को स्थायी बना देती है और शिक्षा या उन्नति को प्रोत्साहित नहीं करती। राजनीतिक जीवन में इससे पारस्परिक आदान-प्रदान का कोई भाव नहीं रह जाता। साम्प्रदायिक निर्वाचन वर्तमान सम्बन्धों को स्थायी स्वरूप देता है और साम्प्रदायिक भावों की वृद्धि करता है; तथा वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, एकता एवं स्वराज्य में बाधक होता है। मुसलमानों की दृष्टि प्रायः भारत के बाहर के मुसलमानी देशों पर रहती है और वे समस्त एशिया के मुसलमानी राज्यों का एक संघ स्थापित करना चाहते हैं जिसके कारण सरकार को, और उससे भी बढ़कर हिन्दुओं को, अनेक बार चिन्तित होना और कष्ट उठाना पड़ा है। स्वराज्य-भोगी भारत में, जिसमें सात करोड़ मुसलमान हैं और जो मुख्यतः भारत के सीमा प्रान्तों (यथा सिन्ध, पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और काश्मीर) में निवास करते हैं, यह प्रश्न उस दशा में बहुत भयानक और आशङ्काजनक हो जाता है जब कि उसके आस-पास के राष्ट्र मुसलमान हैं। प्राचीन काल में इतिहास ने उनके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर दिये हैं। उन्हीं प्रान्तों से कुछ राजवंशों ने आकर भारत पर शासन किया था। इसलिए स्वतन्त्र भारत को अपना दृष्टिकोण ऐसा रखने की आवश्यकता है जो पूर्ण रूप से राष्ट्रीय हो और जिसमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की बहुत बलवती कामना हो। मुसलमानों की मनोवृत्ति की यह एक और ऐसी बात है जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर बहुत बड़ा अविश्वास उत्पन्न कर दिया है और जिसके कारण वह अविश्वास अभी तक बना हुआ है।

अब्राह्मण साम्प्रदायिक आन्दोलन—अब्राह्मण आन्दोलन एक ऐसा दूसरा साम्प्रदायिक आन्दोलन है जो १६१६ से दक्षिण भारत में उत्पन्न हुआ है और जो अब प्रबल हो गया है। धर्म, समाज और राजनीति में ब्राह्मणों की प्रमुखता देखकर डा० टी० एम० नायर और राव बहादुर पी० थियागरैया चेटी आदि कुछ अब्राह्मणों के मन में क्रोध उत्पन्न कर दिया और

उन लोगों ने ब्राह्मणों से भिन्न जातियों को इसलिये मिलाकर एक करने और उनका राजनीतिक संघ या समिति स्थापित करने का प्रयत्न किया जिसमें वे काउंसिलों, मन्त्रि-मण्डलों और सरकारी नौकरियों में अपने वर्गों के लिए राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर सकें। इनमें ज़मींदार, व्यापारी और बहुत से शिल्पी तथा कमेरे आदि हैं। उन लोगों ने अपना एक दल बनाया जो जस्टिस या अब्राहमण दल कहलाता है और जो “जस्टिस” नाम का एक अपना मुखपत्र भी निकालता है। ये वर्ग अछूतों को अपनी सभा में सम्मिलित नहीं करते। उन्होंने ब्राह्मण वर्गों की कठोर आलोचना की है और उन्हें दुर्बचन तक कहे हैं। यद्यपि उनके मतदाताओं का बहुमत है, तो भी वे अपने लिए प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व या काउंसिलों में रचित स्थान चाहते हैं और कहते हैं कि बिना योग्यता आदि का विचार किये ही सरकारी नौकरियों में हमें आनुपातिक अंश मिले। वे ब्राह्मणों का आवश्यकता से अधिक प्रतिनिधित्व और अंश कम करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि भारतीय लोकतन्त्र के संघटन में योग्यता का नहीं, बल्कि संख्या का और खुली प्रतिद्वन्द्विता का नहीं, बल्कि रक्षा का विचार किया जाय। इनमें से पहली बात का आधार तो समानता का सिद्धान्त है और दूसरी बात का आधार असमानता, अल्प मत के हित और पिछड़े हुए हित आदि हैं। इसमें धनवानों या विदेशियों का कोई विरोध नहीं है, बल्कि एक ऐसे वर्ग का विरोध है जिसमें शिक्षा, ज्ञान और योग्यता अपेक्षाकृत अधिक है।

इस दल ने घोषणा कर दी कि हम होम रूल के विरुद्ध हैं और सरकार की नीति का समर्थन किया। १९१७ में साउथ इंडियन पीपुल्स एसोसिएशन नाम की एक संस्था स्थापित की गई। उसके एक सदस्य ने कहा था—“न्याय आप लोग एक पक्के अँगरेज़ के द्वारा शासित होना चाहते हैं या एक पक्के ब्राह्मण के द्वारा? अँगरेज़ स्वार्थी होते हैं। वे व्यापारी हैं; पर साथ ही स्वतन्त्रता, न्याय और उचित व्यवहार उनके आदर्श हैं। हम तो अपने आपको स्वतन्त्रता-प्रेमी अँगरेज़ों की दया पर छोड़ देना पसन्द करेंगे, पर एक ऐसे कुलतन्त्र की दया पर न रहेंगे जो जनता पर आक्रमण करता है और उसकी

दुर्बलता से जाग उठाता है। उनके होम रूल का यही मतलब है कि यहाँ से विदेशियों का शासन उठ जाय। मैं कभी यह नहीं सोच सकता कि अँगरेज़ हम सब लोगों के समान रूप से शत्रु हैं। वे ब्राह्मणों के शत्रु हो सकते हैं, पर अब्राह्मणों के शत्रु नहीं हैं। अब्राह्मण लोग सरकार या अँगरेज़ों को अपना शत्रु नहीं समझते। बड़े-बड़े सरकारी अफसर अब्राह्मणों के साथ मिलते और उनका संरक्षण करते हैं। यह आन्दोलन दक्षिण में बहुत शीघ्रता से फैल गया है। अब्राह्मण समझते हैं कि राजनीति, समाज-सुधार और यहाँ तक कि धर्म में भी अप्रसर होने के लिए जितने आन्दोलन हुए हैं, वे सब ब्राह्मणों के ही कारण हुए हैं; और इसलिए अब्राह्मण उनके उद्देश्यों में सन्देह करते हैं और उनसे बचते हैं। ब्राह्मणातङ्क के कारण इस प्रयत्न में कुछ अब्राह्मण लोग राष्ट्रीयता के विरोधी भावों तक का प्रचार करने लग गये हैं। पर फिर भी अब्राह्मणों का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसका दृष्टिकोण कुछ और ही है और जो अपने सारे समाज के कल्याण का प्रयत्न करता है।

अछूतों का आन्दोलन—एक और आन्दोलन अछूतों का है जो ऊँची जाति के ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों के विरुद्ध है और जो सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार प्राप्त करना चाहता है। धीरे-धीरे इस आन्दोलन के समर्थक भी यही कहने लगे हैं कि जिस प्रकार मुसलमानों को जन-संख्या के आधार पर पृथक् निर्वाचन करने का अधिकार मिला, उसी प्रकार दलित जातियों को भी साम्प्रदायिक तथा पृथक् निर्वाचन का अधिकार प्राप्त हो। पर न तो इन अछूतों का अच्छा संघटन है और न इतिहास में ये कभी प्रभावशाली रहे हैं; इसलिए ये लोग अभी तक विशेष अधिकार नहीं प्राप्त कर सके हैं। उनमें से कुछ थोड़े से लोग ऐसे हैं जिन्हें सरकार ने अपनी ओर से लेजिस्लेटिव काउंसिलों, स्थानिक बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों आदि में नामाङ्कित करके भेजा है। वे कहते हैं कि भारत को तब तक होम रूल या स्वराज्य न दिया जाय, जब तक यह निश्चय न हो जाय कि हमारी जन-संख्या के अनुसार हमें भी स्वराज्य से होनेवाले लाभ प्राप्त होंगे।

साम्प्रदायिक आन्दोलन राष्ट्रीयता के विरोधी और भयानक हैं—यही वे मुख्य साम्प्रदायिक आन्दोलन हैं जो भारत की राजनीतिक उन्नति में बाधक और विरोधी पड़ते हैं। जब तक उनकी बहुत सी माँगें स्वीकृत न हो जायँ या उनकी आकांक्षाएँ पूरी न हो जायँ या उन्हें इस बात का विश्वास न हो जाय कि उनके साथ उचित और समानता का व्यवहार होगा, तब तक वे बराबर भारत की राजनीतिक उन्नति में बाधक होते रहेंगे। अग्राहणों में कुछ दूसरे छोटे-छोटे ऐसे आन्दोलन भी हैं जिनमें अनेक जातियाँ अपने लिए विशिष्ट प्रतिनिधित्व चाहती हैं। इस दुष्ट उपद्रव को दूर करने का केवल एक ही उपाय है; और वह यह कि देश के समस्त वयस्क पुरुषों को मत देने का समान रूप से अधिकार दिया जाय जिसमें प्रत्येक वर्ग या जाति को इस सम्बन्ध में शिक्षा प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिले और उनमें के लोग अपनी संख्या तथा व्यक्तिगत योग्यताओं के अनुसार निर्वाचित संस्थाओं में अपना उचित स्थान या राजनीतिक अधिकारों में अपना अंश प्राप्त कर सकें। हाँ, सरकारी नौकरियों का प्रश्न फिर भी रह ही जाता है। पर वह प्रश्न साम्प्रदायिक नहीं बनाया जा सकता। यदि हम लोग अपने राष्ट्र को बलवान् बनाना और बराबर बलवान् बनाये रखना चाहते हों तो केवल योग्यता और गुण का ही ध्यान रखना आवश्यक है। मॉटेगू रिपोर्ट में कहा गया है—“यदि इस साम्प्रदायिक प्रथा का और भी विस्तार किया जायगा तो सम्प्रदायों की माँगें और भी बढ़ जायँगी; और इस सम्बन्ध में हमारा यह विचारपूर्ण तथा निश्चित मत है कि यह बात उस प्रतिनिधित्व के विकास के लिए घातक होगी जिसका आधार केवल राष्ट्रीय होना चाहिए; और केवल राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व प्रणाली से ही उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली की जड़ जमना सम्भव है।” आगे चलकर उसमें यह भी कहा गया है—“यदि सम्प्रदायों और वर्गों के विचार से विभाग किये जायँगे तो उनसे ऐसे राजनीतिक दलों की सृष्टि होगी जो सदा एक दूसरे के विरोधी बने रहेंगे और इससे लोगों को ऐसी शिक्षा मिलेगी जिससे वे अपने आपको नागरिक नहीं बल्कि हिस्सेदार समझने लगेंगे। उच्च कोटि का नागरिक और राष्ट्रीय जीवन उत्पन्न करने

के लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि जातियों की एकान्तता और धार्मिक असहनशीलता या अविश्वास का अस्तित्व ही न रह जाय । जब हम लोग आपस में एक दूसरे के सुखों, दुःखों, आकांक्षाओं और बुद्धिमत्ताओं में सम्मिलित होने लगेंगे, तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों से भरे हुए संसार में आगे चलकर एकता से युक्त और विशाल भारत अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सकेगा । हम सब लोगों को इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए और इस काम में परस्पर सहयोग करना चाहिए ।

परिच्छेद ६

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(६) राष्ट्र-संघटन सम्बन्धी समस्याएँ

राष्ट्र-संघटन के सम्बन्ध में कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनके सम्बन्ध में २० अगस्त १९१७ वाली घोषणा हो चुकने के उपरान्त भी अभी तक बहुत अधिक मत-भेद चल रहा है। वे समस्याएँ इस प्रकार हैं—

१—क्या सारे भारत का एक राष्ट्र होगा या वह अनेक राष्ट्रों के योग से बना हुआ एक संघात्मक राष्ट्र होगा ?

२—स्वराज्य-भोगी भारत के साथ देशी रियासतों का सम्बन्ध और उनका भविष्य ।

३—भारत पूर्ण स्वतन्त्र होगा या साम्राज्य में ही रहकर औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करेगा ?

४—भारतीय राष्ट्र-संघटन में सुधार और परिवर्धन करने का वास्तव में भी और कानून के अनुसार भी अधिकारी कौन है ?

१—संघ सम्बन्धी समस्या

भारत के मानचित्र का स्वरूप—भारत का भौगोलिक विस्तार बहुत अधिक है; ऐतिहासिक काल से वह अनेक ऐसे प्रान्तों में विभक्त है जिनके अलग-अलग विशिष्ट रूप और भाषाएँ हैं; वास्तविक लोकतन्त्र और भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के विचार से शक्तियों और कर्तव्यों को बहुत से लोगों के हाथ में देने की आवश्यकता है; अपनी संस्कृति और जातीय एकता

के विचार से इन प्रान्तों की अलग-अलग आकांक्षाएँ हैं और बहुत सी देशी रियासते वर्तमान हैं। इन सब बातों को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि भारत को एकात्मक शासन-प्रणाली की नहीं बल्कि संघात्मक शासन-प्रणाली की आवश्यकता है। पर वह संघात्मक रूप भी केन्द्राभिमुखी होना चाहिए और केन्द्रीय सरकार के हाथ में फिर भी कुछ विशेष तथा अवशिष्ट अधिकार होने चाहिए और प्रान्तीय या रियासती सरकारों को केवल कुछ विशिष्ट अधिकार और विषय दे दिये जाने चाहिए। इस बात की बहुत बड़ी ज़रूरत है कि कुछ ऐसी आवश्यक बातें, जो सब सरकारों के लिए समान हों, केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहनी चाहिए जिसमें प्रान्त और रियासते एक दूसरी से अलग होकर केन्द्र के विरुद्ध न जा सकें; सब पर एक समान नियन्त्रण रहे और केन्द्रीय सरकार के हाथ में ऐसा अधिकार हो जिससे वह सबको एक साथ मिलाये रखे। १९११ में श्रीमान् सम्राट् ने जो घोषणा की थी और मांट-फ़ोर्ड रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से जो बातें कही गई हैं, उनमें संघात्मक भारत की ठीक यही स्थिति पूर्ण रूप से ग्रहण की गई है।

१८३३ का ऐक्ट—१८३३ से लेकर १९१९ तक प्रान्तों और केन्द्रीय सरकार के सम्बन्धों का जो ऐतिहासिक विकास हुआ है, वह ठीक संघात्मक राष्ट्र-संघटन के ढंग पर ही हुआ है। इतिहास में बराबर प्रान्तों के हाथ में अधिकाधिक अधिकार दिये जाते रहे हैं और प्रान्तीय कर्तव्यों तथा आय-व्यय आदि का बराबर पृथक्करण होता आ रहा है। यद्यपि १८३३ में प्रेसिडेंसियों से क़ानून या रेगुलेशन बनाने का अधिकार छीन लिया गया था और क़ानून बनाने का सारा अधिकार भारत सरकार के हाथ में केन्द्रीभूत कर दिया गया था, पर फिर भी पहले की ही तरह डाइरेक्टरों के कोर्ट के साथ प्रान्तीय सरकारों का पत्र-व्यवहार करने का अधिकार बना रहा। भविष्य में सारे भारत की समान रूप से उन्नति करने के लिए यह आवश्यक था कि उस समय अधिकारों और शक्तियों को एक केन्द्र में स्थापित किया जाय। जितने स्थानिक विरोध, परस्पर विरुद्ध पड़नेवाले अधिकार-क्षेत्र और स्वतन्त्रता की मांगें थीं, वे सब उसी में विनष्ट या विलीन हो गई थीं। उस समय यह एक

बहुत ही महत्वपूर्ण काम किया गया था कि सारे भारत के लिए एक गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया था जिसे इस बात का पूरा-पूरा अधिकार दिया गया था कि वह नागरिक तथा सैनिक शासन-सम्बन्धी समस्त बातों में प्रेसिडेंसी सरकारों का निरीक्षण, सञ्चालन और नियन्त्रण करे। उस समय भारत के इतिहास में पहले इसी बात की आवश्यकता थी कि सब अधिकार एक केन्द्र में स्थापित किये जायँ और वे एक के अधीन होकर रहें, क्योंकि उस समय की परिस्थितियाँ सबको एक दूसरे से अलग कर रही थीं और एक ऐसे काल में जब कि भारत का राजनीतिक मानचित्र बराबर बदलता जा रहा था, भारत की एकता के विचार से इसी बात की आवश्यकता थी। और तब इसके उपरान्त इस बात की आवश्यकता थी कि स्थानिक आवश्यकताओं, विलक्षणताओं और उत्तरदायित्वों की पूर्ति करने के लिए फिर से उन सबमें अधिकार-विभाग किया जाय। यह निश्चय हुआ था कि युद्ध और शान्ति, देशी रियासतों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध और पत्र-व्यवहार आदि करने का अधिकार प्रधान या भारत सरकार के हाथ में रहे और वही इन सब बातों का परिचालन और निर्णय करे। लॉ कमीशन (Law Commission १८३३) ने कानूनों को सरल बनाकर उन्हें एक निश्चित और लिखित रूप दे दिया। देश की रक्षा और पर-राष्ट्र नीति का ठीक-ठीक नियन्त्रण करने और शासन-प्रणाली को सरल तथा एक समान करने के लिए प्रेसिडेंसियों की स्वतन्त्रता कम कर दी गई थी और सार्वजनिक या राष्ट्र-संघटन-सम्बन्धी बातों में भी उसके अधिकार घटा दिये गये थे।

१८५३ का ऐक्ट—१८५३ के ऐक्ट के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रदेश बंगाल से अलग करके एक लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन कर दिये गये थे। १८५३ के चार्टर ऐक्ट के अनुसार बंगाल को एक पृथक गवर्नर मिला था। १८५४ में अवध, आसाम, मध्य प्रदेश, बरमा, बरार, बलोचिस्तान, कुर्ग आदि सरीखे छोटे और पिछड़े हुए प्रदेशों के लिए चीफ कमिश्नर रखे गये थे। ऐसे कुछ प्रदेशों में लेफ्टिनेंट गवर्नर भी रखे गये थे। १८५३ के ऐक्ट के अनुसार गवर्नर-जनरल की काउंसिल में बंगाल, बम्बई, मदरास और आगरा की

चारों प्रेसिडेंसियों से चार सरकारी प्रतिनिधि लेकर क़ानून बनानेवालों की हैसियत से रखे गये थे जिसमें उक्त स्थानों के स्थानिक ज्ञान का भी क़ानून आदि बनाने में उपयोग हो सके और कलकत्ते के सुप्रीम कोर्ट के दो जज भी रखे गये थे। इस प्रकार मानों यह बात मान ली गई थी कि प्रान्तों के हितों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए और उनके प्रतिनिधि भी रखे जाने चाहिएँ।

१८६१ का ऐक्ट—यहाँ तक हम यही देखते हैं कि अधिकारों को एक केन्द्र में स्थापित करने की प्रवृत्ति रही है। पर १८६१ से यह प्रवृत्ति बदल गई और अधिकारों को भिन्न-भिन्न केन्द्रों या प्रान्तों में विभक्त किया जाने लगा। तब तक भारत के एक बहुत बड़े भाग पर अधिकार हो गया था और १८५७ के बाद से इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी कि स्थानिक बातों के ज्ञान और अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिए और यह जानना चाहिए कि उनकी इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ क्या हैं; इसलिए प्रान्तीय काउंसिलों का आरम्भ हुआ और उन्हें अपने यहाँ के लिए आवश्यक क़ानून बनाने का काम दिया गया। १८६१ के ऐक्ट के अनुसार मद्रास और बम्बई की सरकारों को क़ानून बनाने के वे अधिकार फिर से दे दिये गये जो १८३३ वाले ऐक्ट के अनुसार उनसे छीन लिये गये थे। पर कुछ अवस्थाओं के लिए पहले से गवर्नर-जनरल की स्वीकृति ले लेना आवश्यक कर दिया गया था; और यह भी निश्चय हुआ था कि प्रान्तीय काउंसिलों में जितने ऐक्ट पास हों, उनमें बाद में गवर्नर की स्वीकृति के अतिरिक्त गवर्नर जनरल की स्वीकृति लेना भी आवश्यक होगा। मद्रास और बम्बई की लेजिस्लेटिव काउंसिलें इसी ढंग पर बड़ी की गई थीं। एक लेजिस्लेटिव काउंसिल बंगाल के लिए (१८६१), एक पश्चिमोत्तर प्रदेशों के लिए (१८८६) और एक पंजाब के लिए (१८६७) भी बनाई गई। पर उस समय (१८६१) केन्द्रीय और स्थानिक लेजिस्लेटिव काउंसिलों का उस प्रकार का कोई ठीक और निश्चित कार्य-विभाग अथवा अधिकार-क्षेत्र का विभाग नहीं हुआ था जिस प्रकार का विभाग संघारमक संवदनों में हुआ करता है। गवर्नर-जनरल की काउंसिल सारे भारत के लिए और प्रान्तीय काउंसिल

सारे प्रान्त के लिए गवर्नर-जनरल की स्वीकृति से कानून बना सकती थी। इसमें सन्देह नहीं कि ये लेजिस्लेटिव काउंसिलें कानून बनाने के लिए केवल कमेटियाँ थीं। इनसे एक्जिक्यूटिव को कानून बनाने में परामर्श और सहायता मिलती थी। भारत सरकार ने देश की रक्षा या सेना का विभाग, आस-पास की एशियाई शक्तियों के साथ कूट-नीतिक सम्बन्ध रखने और देशी रियासतों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध रखने का कुल अधिकार अपने हाथ में रखा था। साथ ही उसने आयात और निर्यात आदि पर कर लगाने, सिक्के, विनिमय, सार्वजनिक ऋण, डाकखानों, रेलों, जर्च और हिसाब-किताब रखने के सब कामों को भी अपने ही हाथ में रखा था; क्योंकि इन बातों का सारे देश के साथ सम्बन्ध था। दूसरी बातों में उसने प्रान्तों को भी कहीं थोड़ा और कहीं बहुत अधिकार दे रखा था। इसके बाद केन्द्रीय और प्रान्तीय अधिकारियों के कार्यों आदि का ठीक-ठीक विभाग करने का और कोई विशेष काम नहीं किया गया था। १८३३ वाले ऐक्ट के समय से ही स्थानिक अधिकारी केन्द्रीय शक्ति के केवल गुमाश्ते या एजेंट समझे जाते थे। पर जैसा कि डिसेंट्रलाइजेशन कमीशन (१९१०) ने बतलाया था—‘कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स ने यह मान लिया था कि एक उचित तथा न्यायसङ्गत नियन्त्रण और व्यर्थ के, तुच्छ, दिक् करनेवाले और गड़बड़ी पैदा करनेवाले हस्तक्षेपों के बीच की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना कठिन है। इसलिए यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों के पारस्परिक सम्बन्ध नई और बदलती हुई परिस्थितियों के लिए उपयुक्त बनाये जायँ और उसे कानून या नियम आदि का कोई ऐसा रूप नहीं देना चाहिए जिससे वह एक खास साँचे में ढलकर रह जाय और उसमें कभी कोई परिवर्तन ही न हो सके।

शासनाधिकार का विभाग—यद्यपि १८३३ वाले ऐक्ट के अनुसार भारत सिद्धान्ततः और आवश्यकता के समय बिल्कुल एक राष्ट्र हो गया था, तो भी स्थानिक परिस्थितियों के विभेदों, इच्छाओं, भावों, रुढ़ियों और स्थानिक ज्ञान के अभाव के कारण साधारण अवसरों पर यह आवश्यक होता था कि शासनाधिकार सबमें विभक्त कर दिया जाय। इस प्रकार भारत

सरकार कुछ विषयों को तो पूर्ण रूप से अपने हाथ में रखती थी और बाकी बातों का केवल निरीक्षण करती थी और कोई विवाद उत्पन्न होने पर उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय करती थी। इसी विचार या आवश्यकता के कारण, चाहे सिद्धान्त रूप में न सही, पर कार्य रूप में अवश्य, कार्यों और अधिकारों में विभेद कर दिये गये। उसे सिद्धान्ततः सभी कार्य-क्षेत्रों में प्रवेश करने का अधिकार निर्विवाद रूप से रहा। जेल, पुलिस, डाक्टरी विभाग की सिविल नौकरियाँ, क़ानून और न्याय की अदालतें, ज़मीन की मालगुज़ारी, जङ्गल, कृषि, अकाल, सड़कें और इमारतें आदि, सिंचाई, स्टाम्प, इन्कम टैक्स, व्यापार, कारख़ाने, मछलियाँ आदि पकड़ने का काम, नमक, आवकारी, शिक्षा, स्थानिक स्वराज्य, स्वास्थ्य-रक्षा आदि प्रायः सभी काम मुख्यतः स्थानिक सरकारों के हाथ में रहे। धीरे-धीरे प्रान्तीय सरकारों को काम करने की और भी स्वतन्त्रता मिल गई और केन्द्रीय सरकार केवल मुख्य-मुख्य सिद्धान्त निर्धारित करने लगी और यह देखने लगी कि उन सिद्धान्तों के अनुसार ठीक तरह से काम हो रहा है या नहीं। क़ानून के अनुसार सारी शासन-प्रणाली एक ऐसे पूरे संघटन के रूप में थी जिसका विभाग न हो सकता था और जो पार्लिमेंट के सामने उत्तरदायी थी।

डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन (१९१०)—पर डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन (१९१०) का यह मत था कि अधीनस्थ कर्मचारियों के मन में उत्तरदायित्व का अधिक भाव उत्पन्न किया जाय और स्थानिक भावों तथा रुढ़ियों का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। उसने सिफ़ारिश की थी—“भविष्य में यह नीति होनी चाहिए कि शासन-सम्बन्धी ब्योरे की बातें, प्रान्तीय सरकारों और उनके अधीनस्थ कर्मचारियों को सौंपे हुए कामों का क्षेत्र विस्तृत किया जाय और यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि शासन के साधारण काम भुगताने में उनका अंश बराबर बढ़ता जाय। पर १९१० में लार्ड क्रयूने फिर एकात्मक सिद्धान्त का प्रश्न उठाया और कहा—“भारत के लिए शासन की एक प्रणाली है और केवल एक ही प्रणाली है। गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट (१९१५) की ३३ वीं धारा में कहा गया है—

“भारत के नागरिक और सैनिक शासन का निरीक्षण, सञ्चालन और नियन्त्रण गवर्नर-जनरल इन काउंसिल के हाथ में रखा गया है।”

आर्थिक अधिकार-विभाग—यद्यपि आर्थिक विषयों में भी यही सिद्धान्त माना जाता था कि प्रान्तीय सरकारें जो मालगुजारी इकट्ठा करती हैं, उन पर उनका कोई कानूनी और वास्तविक अधिकार नहीं है और सब मालगुजारियाँ बिल्कुल एक मानी जाती थीं और पहले केन्द्रीय खजाने में जाती थीं, पर फिर भी आर्थिक शासन की आवश्यकताओं के कारण विभक्त शीर्षकों की प्रथा चलानी पड़ी जिसमें कुछ मर्दें केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहें और कुछ प्रान्तीय सरकारों के हाथ में रहें।

लार्ड मेयो की सरकार ने यह व्यवस्था की थी कि कुछ निश्चित विभागों और नौकरियों की ठीक-ठीक व्यवस्था करने के लिए प्रान्तीय सरकारों को एक निश्चित रकम दी जाय करे और स्थानिक आय-व्यय आदि की व्यवस्था के लिए उन्हें उत्तरदायी बनाया जाय। प्रान्तीय आर्थिक क्षेत्र का विस्तार करने और उनकी सीमाओं में एकत्र की हुई मालगुजारी और सरकारी आय बढ़ाने की ओर उन्हें प्रवृत्त किया जाय और उनकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें उचित अंश दिया जाय। इन सब बातों का विचार करके भारत सरकार ने यह समझ लिया कि प्रान्तीय आय-व्यय की ज्योरे की बातों में कम हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है। लार्ड लिटन के समय में प्रान्तीय सरकारों को साधारण प्रान्तीय नौकरियों पर अधिकार प्राप्त हो गया था और निश्चित रकमों के बदले में उन्हें अपना व्यय खजाने के लिए आय की कुछ विशिष्ट मर्दें या उनके कुछ अंश दिये जाने लगे थे। इस प्रकार आय की मर्दों के ये तीन विभाग हो गये थे—(१) भारतीय, (२) प्रान्तीय और (३) विभक्त। जङ्गल, आबकारी, इनकम टैक्स, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन आदि कुछ ऐसी मर्दें थीं जो प्रान्तीय सचेत व्यवस्था में ही बहुत अच्छी तरह विकसित हो सकती थीं और इस प्रकार की सब मर्दें प्रान्तीय कर दी गई थीं। १८८२ से प्रान्तों के आर्थिक प्रबन्ध के लिए उनके साथ पञ्चवार्षिक प्रान्तीय समझौते होने लगे; अर्थात् यह निश्चय होने लगा कि पाँच वर्ष तक इस प्रकार की

व्यवस्था रहेगी। १९०४ में कुछ सदा के लिए निश्चित या स्थायी से सम-
झौते होने लगे। बिलकुल निश्चित हो गया कि असुक्त-असुक्त मदे' प्रान्तों
के हाथ में रहेंगी और उनमें भारत सरकार कोई परिवर्तन न कर सकेगी।
इसका उद्देश्य यह बतलाया गया था—“प्रान्तीय सरकारों की स्थिति अधिक
स्वतन्त्र बना दी जाय; और पहले जितना सम्भव था, उसकी अपेक्षा उनकी
आय के साधनों की व्यवस्था में वे बहुत ज्यादा दिलचस्पी लिया करें।”
अब प्रान्तीय सरकार आय-व्यय के सम्बन्ध में अपनी एक स्वतन्त्र नीति निर्धा-
रित करके उसे बराबर चलाये चलने के योग्य हो गई थी।

डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन (१९१०) ने कोई परिवर्तन नहीं सुझाया।
१९१२ में लार्ड हार्डिज की सरकार ने यह निश्चय स्थायी कर दिया। इसका
मुख्य आधार यह सिद्धान्त था कि इसका निश्चय प्रान्तों की आवश्यकताओं
को देखकर होना चाहिए; केवल उनकी आय के विचार से नहीं। अखिल
भारतीय आय की मदे' अखिल भारतीय आवश्यकताओं के लिए थीं। बिना
केन्द्रीय सरकार से पूछे प्रान्तों को नये कर लगाने या ऋण लेने का
अधिकार नहीं था।

क़ानून बनाने के अधिकारों का विभाग—मॉटेगू सुधारों से
पहले क़ानून बनाने के सम्बन्ध में प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउंसिलों को प्रान्त
की शान्ति-रक्षा और उत्तम शासन के लिए कुछ खास शक्तों के साथ क़ानून
बनाने का अधिकार था। केन्द्रीय सरकार को यह भी अधिकार था कि किसी
क़ानून को वह स्वीकृत या अस्वीकृत कर दे, किसी अस्वीकृत क़ानून को
स्वयं अपने अधिकार से स्वीकृत करे और कोई क़ानून बनाने के पहले उससे
परामर्श ले लिया जाय। प्रान्तों को क़ानून बनाने का अधिकार मिलने से
पहले ही प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयों के और शान्ति-रक्षा तथा उत्तम
शासन के लिए आवश्यक बहुत से क़ानून केन्द्रीय सरकार बना चुकी थी।

इसी प्रकार एक्ज़िक्यूटिव या शासन-सम्बन्धी विषयों में भी प्रान्तीय
सरकारों पर नियन्त्रण था। पर डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन ने इस बात पर
ज़ोर दिया था कि इस सम्बन्ध में भी उनको कुछ अधिकार दे दिये जायँ।

इस प्रकार भारत में जो एकात्मक शासन का भाव उत्पन्न हुआ था, उसका कारण यह था कि ब्रिटिश पार्लिमेंट ही भारत का नियन्त्रण करने-वाली और उस पर सब प्रकार का अधिकार रखनेवाली मानी जाती थी; और वह इंग्लैंड में भारत मन्त्री के द्वारा तथा भारत में गवर्नर-जनरल इन-काउंसिल के द्वारा ऊपर से शासन और नियन्त्रण करती थी।

अधिकार-विभाग के मुख्य कारण—पर स्थानिक विभेदों, आवश्यकताओं और पेचीदगियों ने सरकार को इस बात के लिए विवश किया था कि आया-व्यय, शासन और कानून बनाने आदि के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों को भी कुछ अधिकार तथा कार्य दिये जायँ, यद्यपि केन्द्रीय सरकार के प्रभुत्व के एकात्मक सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया था। पर जब नीचे से लोकमत का दबाव पड़ने लगा, तब यह एकात्मक स्थिति बहुत समय तक नहीं बनी रह सकती थी। एक ओर तो यह सिद्धान्त माना जाता था कि भारत पर ब्रिटिश पार्लिमेंट का ही पूरा-पूरा अधिकार तथा नियन्त्रण है; और दूसरी ओर स्थानिक आवश्यकताओं और लोकमत का दबाव पड़ता था; इसलिए बराबर इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि भारत में संवात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित हो। एक ओर तो शासकों के पूर्णाधिकार थे और दूसरी ओर जनता की न्यायसङ्गत आकांक्षाएँ थीं; और इन्हीं दोनों शक्तियों को समान रखने के लिए धीरे-धीरे कार्य और उत्तरदायित्व के अलग-अलग क्षेत्र निश्चित होने लगे। इस प्रकार जिन बातों के कारण कार्यो और अधिकारों का प्रान्तीय सरकारों में विभाग किया गया था, वे इस प्रकार थीं—

१—स्थानिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के विभेद।

२—स्थानिक भावों, रुढ़ियों और कष्टों के विभेद।

३—देश का बहुत अधिक विस्तार।

४—ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विभेद।

५—जनता की कामनाएँ, एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक अनुराग और इनकी पारस्परिक समानता।

६—ऐसी शासन-प्रणाली की आवश्यकताएँ जो उत्तरदायी और प्रतिनिधि-स्वरूप हो ।

७—देशी रियासतों की समस्या ।

पर २० अगस्त १९१७ वाली घोषणा के उपरान्त अन्तिम दो कारण विशेष प्रमुख हो गये हैं; क्योंकि इस घोषणा में सरकार पर पड़नेवाले लोक-मत के प्रभाव के कारण यह मान लिया गया था कि एक्ज़िक्यूटिव पर जनता के प्रतिनिधियों की लेजिस्लेटिव काउंसिलों का आंशिक नियन्त्रण होना चाहिए; और यह वचन दिया गया था कि भविष्य में यहाँ पूर्ण उत्तरदायित्व-युक्त शासन-प्रणाली स्थापित की जायगी । इसी से कार्यों का विभाग करके रचित और हस्तान्तरित विषय निर्धारित किये गये थे, प्रान्तीय और केन्द्रीय मदे' बनाई गई थीं और साथ ही आय की सब मदों का पूरा-पूरा विभाग कर दिया गया था । पहले ऐसा होता था कि प्रान्तों के लिए आय की जो मदे' स्थिर रहती थीं, उनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार उन्हें और भी कुछ रकम दिया करती थी । पर अब प्रत्येक प्रान्त को केन्द्रीय सरकार के पास कुछ रकम भेजनी पड़ती है; और अब रकम का यह भेजना भी बिलकुल बन्द होनेवाला है ।

संघात्मक संघटन—मांटैगू-रिपोट^१ कहती है—“२० अगस्तवाली घोषणा को मानते हुए भी इस समय हम उसका पूरा-पूरा पालन केवल इस एक रूप में कर सकते हैं कि स्वराज्य-भोगी भारतीय प्रान्त कुछ निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए आपस में मिलकर एक उत्तरदायित्वपूर्ण भारत सरकार के अधीन रहें । और सम्भव है कि इस समय भारत में जो देशी रियासते^२ हैं, वे भी आगे चलकर मिल जायँ और सबका एक संघ हो जाय । पर हाँ, हम अभी यह नहीं बतला सकते कि उन देशी रियासतों का भारत सरकार के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहेगा । ऐसे संघटन के लिए अँग-रेज़ी भाषा में “फेडरल” के सिवा और कोई शब्द नहीं है; और इस “फेडरल” शब्द में आपस के समझौते का भाव है । यद्यपि इस समय प्रान्तों, देशी रियासतों और केन्द्रीय सरकार में किसी प्रकार का समझौता नहीं है और इसलिए इस राष्ट्र-संघटन का मूल किसी रूप में संघात्मक नहीं है, पर भारत

का भावी संघटन ठीक उसी अर्थ या रूप में संघात्मक होगा, जिस अर्थ या रूप में और दूसरे संघात्मक राष्ट्र-संघटन हैं। सम्भव है कि प्रान्तों को स्वतः कोई अधिकार न प्राप्त हो और वे केवल ऊपर से अधिकार प्राप्त करके एजेंसी या साधन के रूप में कार्य करें, पर नया राष्ट्र-संघटन उन्हें ऐसा ही संघात्मक रूप देगा जिसमें आगे चलकर देशी रियासतों भी मिल सकें। कनाडा की भाँति इसी संघ के केन्द्र के अधिकार में विशिष्ट रक्षित अधिकार और सञ्चालक शक्तियाँ होंगी। भविष्य में यहाँ की शासन-प्रणाली को संघात्मक रूप देने के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रान्तों और रियासतों की फिर से व्यवस्था की जाय और प्रान्तों को नये-नये अधिकार तथा कर्तव्य सौंपे जायँ। प्रो० न्यूटन कहते हैं—संघात्मक राज्य उसे कहते हैं जिसमें अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थायी रूप से और सदा के लिए सम्मिलित हों। इनके सम्मिलित होने का पहला आधार तो आपस की एक सन्धि होनी चाहिए अथवा कोई एक ऐसी ऐतिहासिक स्थिति होनी चाहिए जो सबके लिए समान हो; और दूसरा आधार यह है कि उनके सब नागरिक मिलकर संघात्मक राष्ट्र-संघटन स्वीकृत कर लें। केन्द्रीय सरकार केवल सम्मिलित होनेवाले राज्यों पर ही नहीं बल्कि उनके नागरिकों पर भी प्रत्यक्ष रूप से शासन करती है। संघ में सम्मिलित होने-वाले राज्यों की आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की स्वतन्त्रताओं में कुछ कमी हो जाती है; और अधिकांश में यही होता है कि केवल संघ ही और राष्ट्रों के साथ उन सबका सार्वराष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करता है।”

२—भारत की स्वराज्य-भोगी देशी रियासतों की समस्या

देशी रियासतों का संघ में सम्मिलित होना आवश्यक है— यह एक सबसे बड़ी और कठिन समस्या है जिसकी मीमांसा करनी पड़ेगी; पर इस समस्या का सामना करना ही पड़ेगा और इससे पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। नवीन और सम्मिलित भारत के संघटन और राजनीतिक क्षेत्र में देशी रियासतों को अवश्य ही जाना पड़ेगा। हम लोग भारत में जो संघात्मक शासन-प्रणाली स्थापित करना चाहते हैं, उसमें उन्हें भी अवश्य ही

अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करना चाहिए। प्राचीन काल में राजनीतिक दृष्टि से भारत सिद्धान्ततः एक था। मुगल सम्राट् औरङ्गजेब और उसके उत्तराधिकारियों का नाम-मात्र का प्रभुत्व और अधिकार भी भारत के भिन्न-भिन्न भागों में माना ही जाता था। एक मराठे स्वराज्य को छोड़कर अन्यान्य भाग सिद्धान्ततः दिल्ली के तख्त के ही अधीन रहते थे। यद्यपि पहले भी प्रान्तों आदि के स्वतन्त्र स्थायिक अधिकार-क्षेत्र और स्वतन्त्रता मानी जाती थी, तो भी भारत के समस्त इतिहास में यही देखने में आता है कि सदा राजनीतिक दृष्टि से सारे भारत को एक करने का ही प्रयत्न किया जाता था। सब लोग एक ही राज-सिंहासन के अधीन होते थे। अँगरेजों ने सारे भारत में, जिसमें देशी रियासते भी सम्मिलित हैं, क़ानून की दृष्टि से पूरा प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। आजकल की देशी रियासतों में से अधिकांश ऐसी हैं जो विजयों द्वारा स्थापित हुई थीं अथवा मुगलों के पतन के उपरान्त १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में उनके साम्राज्य के अंशों पर अनुचित रूप से अधिकार करके बनी थीं। वास्तव में भी और क़ानून की दृष्टि से भी सारा भारत बिल्कुल एक है।

उनके हित भी शेष भारत के हित के समान ही हैं—ये रियासते सारे भारत में फैली हुई हैं और उसके भिन्न-भिन्न भागों के साथ मिली-जुली हैं। उनका विस्तार और आबादी भी बहुत है। सारे देश के एक तृतीयांश में ये रियासते हैं और सारी आबादी का एक चतुर्थांश (क़रीब सात करोड़) उन रियासतों में बसता है। उनमें बसनेवाले लोग संस्कृति, भाषा, जाति, इतिहास, अर्थ और धर्म के विचार से ब्रिटिश भारत के अपने आस-पास के प्रान्तों में बसनेवाले लोगों के समान ही हैं। कुछ अवस्थाओं में, जैसे हैदराबाद के निज़ाम की तरह, उनके शासक उस वर्ग के नहीं हैं जिस वर्ग के उनके शासित या प्रजागण हैं। यद्यपि उनकी शासन-प्रणालियों में नवीन भारतीय वायुमंडल के अनुकूल रहने के लिए कहीं-कहीं थोड़े-बहुत सुधार हुए हैं, तो भी अब तक उनका शासन व्यक्तिगत, उत्तरदायित्व-रहित और स्वेच्छाचारपूर्ण है। कहीं तो उससे जनता का उपकार होता है और

कहीं अपकार। वहाँ न तो कोई नियमित राष्ट्र-संघटन है और न कानून के रूपों का आदर है। उनमें से बहुत ही थोड़े शासकों को इस बात का ज्ञान है कि किन-किन कामों से प्रजा का हित हो सकता है। पर आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी नवीन शक्तियों ने भारत के भिन्न-भिन्न भागों को नवीन सूत्रों से बाँधकर बिल्कुल एक कर दिया है। लोक-सत्ता, राष्ट्रीयता और सार्वराष्ट्रीयता के नवीन आदर्शों ने नवीन शासन-प्रणालियों के साथ सद्गुणभूति उत्पन्न कर दी है और उनके लिए लोगों में कामना भर दी है। यदि भारत के नवीन संघटन में जनता की इच्छाओं की ही प्रबलता रहेगी तो भारत की देशी रियासतों को भी अवश्य ही भारत के राष्ट्र संघ में सम्मिलित होना पड़ेगा। पर यदि इस समय शासकों की इच्छाएँ ही बलवती रह जायँ तो समस्त भारत को एक करके उसका भावी संघटन प्रस्तुत करने में दृष्टिकोणों का बहुत बड़ा संघर्ष होगा; और विशेषतः यह संघर्ष ब्रिटिश भारत की आकांक्षाओं और देशी रियासतों के शासकों की आकांक्षाओं में होगा, न कि देशी रियासतों की प्रजा में। ब्रिटिश भारत की सरकार स्वेच्छाचारपूर्ण है और गवर्नर-जनरल के हाथ में है; इसलिये देशी रियासतें उन विषयों के नियन्त्रण आदि में सम्मिलित होने का प्रश्न नहीं उठातीं जो सारे देश में समान रूप से व्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त देशी रियासतों के शासक स्वयं भी राजनीतिक दृष्टि से गवर्नर-जनरल द्वारा ही शासित होते हैं। पर अब भारत के संघटन में बहुत कुछ परिवर्तन होनेवाला है और इस बात की सम्भावना है कि इन विषयों का नियन्त्रण जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में चला जायगा; इसलिये देशी रियासतों ने ब्रिटिश भारत के साथ अपने सम्बन्धों के विषय में कई माँगें और प्रश्न उपस्थित किये हैं जो समस्त भारत के भावी संघटन के सम्बन्ध में राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

देशी रियासतें और ब्रिटिश सम्राट्—ब्रिटिश सम्राट् के साथ देशी रियासतों का जो सम्बन्ध है, उसका ठीक-ठीक विवरण देना बहुत ही कठिन है। उनमें माण्डलिक, साम्राज्यभुक्त और रक्षित आदि अनेक प्रकार

की रियासतें' हैं। कार्यतः ब्रिटिश सम्राट् उन सब पर प्रभुत्व का अधिकार रखते हैं। साधारणतः यही कहा और माना जाता है कि सम्राट् को उन सब पर असीम अधिकार प्राप्त हैं और वे सभी देशी रियासतों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकते हैं। न तो रियासतों को कोई ऐसा समानता का अधिकार प्राप्त है जिससे वे जब चाहें, तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जायें; और न संवत्समक शासन-प्रणाली के ऐसे अङ्गों का सा अधिकार प्राप्त है कि यदि अधिकार-क्षेत्रों या हस्तक्षेप आदि के सम्बन्ध में कभी कोई झगड़ा खड़ा हो तो वे किसी स्वतन्त्र न्यायालय या सुप्रीम कोर्ट में अपील कर सकें। ये देशी रियासतें माण्डलिक भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि उनमें से बहुत सी ऐसी हैं जो ब्रिटिश शासन स्थापित होने से बहुत पहले से वर्तमान थीं और जिन्होंने केवल समानता के आधार पर अँगरेजों के साथ सन्धि या मित्रता की थी, पर साथ ही अपनी रक्षा का भार उनके हाथ में सौंप दिया था। पर जब ब्रिटिश सरकार का सैनिक बल बढ़ गया और सब जगह उसे सफलता होने लगी, तब उन बाकी रियासतों के सम्बन्ध में उसके मन में अविश्वास उत्पन्न हुआ जो जीती नहीं गई थीं और उसे भारत में अपना साम्राज्य राजनीतिक दृष्टि से दृढ़ रखने की कामना उत्पन्न हुई। तब उसने किसी न किसी बहाने से देशी रियासतों के अधिकारों पर अनुचित रूप से आक्रमण करके उन्हें अपने हाथ में लेना आरम्भ किया और नये-नये समझौतों के आधार पर उनमें नये-नये परिवर्तन करने आरम्भ किये और उनके साथ नई-नई रियासतें भी होने लगीं। इस समय उनके सम्बन्ध किसी अंश में साम्राज्यात्मक कहे जा सकते हैं। इस समय उन सबका नियन्त्रण केवल एक ही विचार से होता है और वह विचार उन पर पूर्ण ब्रिटिश प्रभुत्व और अधिकार का है। बाद में ब्रिटिश सरकार के साथ उनके सम्बन्धों में नई-नई प्रथाएँ और नये-नये नियन्त्रण सम्मिलित होने लगे जिसके कारण उनके साथ की हुई पुरानी सन्धियों का बहुत सा अंश रद्द हो गया। रियासतों को जितने अधिकार और सुभीते प्राप्त थे, वे आरम्भ में उन्हें प्रत्यक्ष रूप से स्वयं ब्रिटिश राज्य से नहीं प्राप्त हुए थे। मांटफोर्ड रिपोर्ट में कहा गया है—

“देशी रियासतों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति बराबर बदलती रही है।

पहले तो यह निश्चय था कि अपने सम्बन्ध की बातों को छोड़कर और किसी विषय में उनके कामों में कोई हस्तक्षेप न किया जायगा; और अन्त में लार्ड हेस्टिंग्स ने वह नीति चलाई जिसे “अधीनस्थ एकान्तता” कहते हैं। पर फिर यह नीति भी आप से आप रद्द हो गई और अब आजकल यह माना जाता है कि देशी रियासतें और भारत सरकार दोनों परस्पर एकता और सहयोग का भाव रखती हैं और दोनों समान रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न देशी रियासतों के साथ अनेक प्रकार की सन्धियाँ और निश्चय हुए हैं और उन्हें अनेक प्रकार की सनदें मिली हैं, तो भी उनके अधिकार और योग्यताएँ संक्षेपतः थोड़े से शब्दों में बतलाई जा सकती हैं। रियासतों की रक्षा का ज़िम्मा सरकार के हाथ में होता है; ब्रिटिश सरकार उनकी ओर से विदेशी शक्तियों तथा दूसरी रियासतों के साथ व्यवहार करती है; और जब किसी देशी रियासत की सीमा में अन्तरिक शान्ति में विघ्न पड़ने की बहुत अधिक सम्भावना होती है, तब वह हस्तक्षेप करती है। दूसरी ओर विदेशी शक्तियों के साथ देशी रियासतों का वही सम्बन्ध होता है जो स्वयं ब्रिटिश सरकार का है; सबकी रक्षा की जो ज़िम्मेदारी है, वह उन पर भी आ पड़ती है; और साथ ही उन पर इस बात का भी उत्तरदायित्व होता है कि वे अपनी-अपनी सीमाओं में उत्तम शासन करेंगी और अपनी प्रजा का कल्याण करेंगी।”

१८५८ की घोषणा—देशी रियासतों को हज़म करने और उन्हें ब्रिटिश राज्य में मिलाने की नीति १८५८ के बाद छोड़ दी गई, जब महारानी विक्टोरिया की घोषणा में यह कहा गया था—“इस समय हमारे अधिकार में जितना क्षेत्र है, उसका हम और अधिक विस्तार नहीं करना चाहते।..... देशी राजाओं और महाराजाओं के अधिकारों, शान और प्रतिष्ठा की हम लोग वैसी ही रक्षा और आदर करेंगे जैसी अपने अधिकारों, शान या प्रतिष्ठा की।”

भारत की देशी रियासतें अग्र-लिखित भागों में बाँटी जा

देशी रियासतों का वर्गीकरण—(१) ऐसी रियासतें जो सहायक बन्धुत्व की नीति और सन्धिपत्रों के अनुसार अपने राज्य की सीमा में पूर्ण और नितान्त स्वामित्व का अधिकार रखती हैं। उनकी सन्धियाँ पारस्परिक मित्रता और जिम्मेदारी के आधार पर हुई हैं।

(२) ऐसी रियासतें जहाँ के दीवानी और फौजदारी मामलों पर सरकार अपना निरीक्षण रखती है और सन्धियों के अनुसार क़ानून बनाने के अधिकार का भोग करती है। सरकार को उनके कामों में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार है। उनकी सन्धियाँ अधीनस्थ सहयोग की सन्धियाँ हैं।

(३) ऐसी रियासतें जिन्हें शाही स्वीकृति-पत्रों और सनदों के द्वारा अधिकार और सुभीते प्राप्त हैं।

(४) इन सब रियासतों को निजी रूप से युद्ध छेड़ने और पर-राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध रखने की, क़ानून के अनुसार, मनाही है और वे एक निश्चित युद्ध-सामग्री से अधिक अपने यहाँ नहीं रख सकतीं। लार्ड रेडिंग ने १९२६ में कहा था—“सर्वप्रधान शक्ति या ब्रिटिश सरकार को इस बात का अधिकार प्राप्त है कि यदि रियासतों में आपस में या स्वयं उसके साथ किसी रियासत का कोई झगड़ा खड़ा हो, तो उसका अन्तिम निर्णय वह स्वयं ही कर सकती है; और साथ ही वह उनके आन्तरिक विषयों, साम्राज्य के हितों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों और जन-साधारण के कल्याण की बातों में हस्तक्षेप कर सकती है और उन दोषों को दूर करने के उपाय कर सकती है।”

इन रियासतों का अस्तित्व बनाये रखने के पक्ष में प्रायः कुछ खास बातें कही जाती हैं जो इस प्रकार हैं—

१—भारत के यही थोड़े से स्वराज्य-भोगी अंश हैं जिनके पास थोड़ी-बहुत सैनिक शक्ति है; और अनेक ऐसे अच्छे शासक हो गये हैं जिन्हें यह दिखलाने के कई अच्छे अवसर मिले हैं कि वे राजनीतिक शक्तियों में अपनी अधिक से अधिक योग्यता दिखला सकते हैं।

२—इन्होंने भारत के शिक्षा, संस्कृति और कला-सम्बन्धी हितों की रक्षा और वृद्धि की है।

३—इन्होंने स्थानिक स्वराज्य और शासन के पुराने ढंगों की रक्षा की है।

पर ये बातें वास्तव में उतनी अच्छी और मानने के योग्य नहीं हैं जितनी ये ऊपर से देखने में मालूम होती हैं। अधिकांश रियासतों में न तो कोई राजनीतिक संघटन है और न उस ढंग का शासन है। दीवानी या फौजदारी किसी तरह का कोई निश्चित नियम या कानून नहीं है। केवल शासक की इच्छा से ही सारा काम होता है; इसलिए वहाँ न तो कोई दृढ़ सार्वजनिक कानून है और न लोकमत का ही कुछ आदर है। मांटफोर्ड रिपोर्ट में कहा है—“विकास की पितृ-प्रधान माण्डलिक या अधिक उन्नत जितनी अवस्थाएँ हो सकती हैं, ये रियासतें उन सभी अवस्थाओं में हैं। हाँ, थोड़ी सी रियासतों में प्रतिनिधित्व-युक्त संस्थाओं का आरम्भ मात्र पाया जाता है।”

उनका वास्तविक स्वरूप—साधारण रियासतों में भी और अधिक से अधिक उन्नत रियासतों में भी मुख्य विशेषताएँ यही हैं कि उनमें राजा का ही व्यक्तिगत शासन होता है; वही कानून बनाता है और वही न्याय करता है। एक्जिक्यूटिव पर जनता का नियन्त्रण होना तो दूर की बात है, वहाँ की सरकार में भी जनता के प्रतिनिधित्व का कदाचित् ही कोई ग्रंथ हो। बहुत थोड़े से राजाओं ने अपने यहाँ ऐसी लेजिस्लेटिव काउंसिलें स्थापित की हैं जो केवल परामर्श दे सकती हैं; पर वहाँ भी इस बात का कोई निश्चय नहीं है कि वे काउंसिलें आगे बराबर चली चलेगी। शासक जितना धन चाहते हैं, उतना व्यय करते हैं और उनमें सुधार की कोई भावना नहीं है। स्थानिक स्वराज्य के जो रूप हैं, वे नाम-मात्र के हैं। एक्जिक्यूटिव की इच्छा से ही सारा नियन्त्रण होता है और सब जगह उसका हस्तक्षेप होता रहता है। उनके बहुत से प्रसिद्ध प्रधान मन्त्री और दूसरे अधिकारी ब्रिटिश भारत से ही गये हैं। न तो अच्छे शासन के विचार से और न भारतीय संस्कृति तथा कला की उन्नति या वृद्धि के विचार से ही इन देशी रियासतों ने आजकल आदर्श का काम दिया है।

इसके विपरीत सारा वातावरण अधिकांश में बिल्कुल निष्क्रिय और अकर्मण्य सा हो रहा है। बड़ी-बड़ी रियासतों के पुराने और आजकल के

शासकों को देखकर यही कहना पड़ता है कि राजा-महाराज चरम सीमा के ऐसे भोग-विलास में कैसे रहते हैं जो किसी प्रकार नीतियुक्त नहीं हो सकता; और वे राज्य की सारी सार्वजनिक सम्पत्ति तथा शक्ति अपनी व्यक्तिगत मनमानी और दूषित वासनाओं की पूर्ति में लगाते हैं, प्रजा के हितों की वृद्धि या कल्याण में नहीं लगाते।

शासक और शासित—ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इस बात का आश्वासन दे रखा है कि तुम्हारी आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की रक्षा हम करेंगे; इसलिए वह पुराना बन्धन नष्ट हो गया है जिससे प्रजा और राजा दोनों परस्पर राजभक्ति और रक्षा के विचार से एक दूसरे पर निर्भर रहते थे। किसी तुष्ट शासक को अब इस बात का भय नहीं रहता कि हमारी प्रजा हमारे विरुद्ध बिगड़ खड़ी होगी और हमें राज्यच्युत होना पड़ेगा। यदि वह ब्रिटिश रेसीडेंट या सरकारी पोलिटिकल विभाग को प्रसन्न रखता है, तो वह कभी राज्यच्युत नहीं हो सकता। उसके मन में प्रजा का कोई भय नहीं रहता। वह अपनी प्रजा को तब तक पीड़ित कर सकता है, जब तक प्रधान शक्ति (भारत सरकार) शासितों के हित के विचार से हस्तक्षेप करना आवश्यक न समझे। वह अपनी रियासत को अपनी निजी ज़मींदारी के समान समझता है। शासितों को न तो शासक की ओर से ही और न सर्वप्रधान शक्ति (सरकार) की ओर से ही कोई निश्चित अधिकार प्राप्त हैं। नागरिकों को कोई ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं है जो कानून के द्वारा मान्य हो और जिसका पालन न्यायालयों के द्वारा कराया जा सके। पर देशी रियासतों के विरुद्ध जो बहुत बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ हैं, उनमें से पहली आपत्ति यह है कि वे लोकतन्त्र और पार्लियमेंटरी शासन-प्रणाली के भावों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखतीं; और दूसरी आपत्ति यह है कि वे भारत के उस मार्ग में बाधक हैं जिससे चलकर वह पूर्ण रूप से एक हो सकता है, स्वराज्य का भोग कर सकता है और संघात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित कर सकता है। उन पर भारतीय राष्ट्रीयता और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली के विचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; उन्हें वे

विचार अच्छे नहीं जँचते। पर संसार के प्रभाव और शक्तियाँ उनके विरुद्ध हैं। स्वयं उनकी प्रजा में भी राजनीतिक जाग्रति होने लगी है और वह प्रति-निधित्वयुक्त तथा उत्तरदायित्वपूर्ण संस्थाओं की माँग पेश करने लगी है; और उनके आस-पास के विभाग इस प्रकार के आंशिक तथा उन्नत प्रयोगों से भरे हुए हैं। जनता के पारस्परिक बन्धन और समान संस्कृति तथा आकांक्षाओं को और भी अधिक बल इसलिए प्राप्त हो गया है कि गमनागमन और पारस्परिक व्यवहार के साधन बढ़ गये हैं और सब जगह एक ही तरह की शिक्षा-प्रणाली प्रचलित हो रही है।

ब्रिटिश भारत और ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उनका घनिष्ठ

सम्बन्ध—युरोपीय महायुद्ध (१९१४) से भारत की देशी रियासतों का ब्रिटिश भारत तथा ब्रिटिश साम्राज्य के साथ पहले की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध और साथ होने लगा है। सभी लोगों को इस बात की समान रूप से आवश्यकता प्रतीत होती थी कि हम लोग मिलकर काम करें; इसलिए उनकी पुरानी राजनीतिक एकान्तता भङ्ग हो गई। उन्होंने युद्ध के लिए हथियार, गोला-बारूद, सैनिक और दूसरी आवश्यक सामग्री दी। पहले भी इतना तो अवश्य होता था कि वे ब्रिटिश भारत से बहुत से विचार, क़ानून, अफ़सर, प्रणालियाँ और अर्थ-विभाग, शिक्षा तथा कला-कौशल आदि के सम्बन्ध में परामर्श लिया करते थे। आयात तथा निर्यात-सम्बन्धी कर, डाकख़ाने, रेल और व्यापार आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ बातें ऐसी थीं जिनकी व्यवस्था दोनों मिलकर करते थे। पर पहले भारत की ओर से कोई ऐसा राजनीतिक प्रयत्न नहीं होता था कि सब मिलकर समान रूप से एक ही नीति का अवलम्बन करें। इससे उनमें यह कामना उत्पन्न हुई कि शत्रुओं से रक्षा, आयात और निर्यात-सम्बन्धी कर, विनिमय, अफ़ीम, नमक, रेल, डाक, तार आदि जिन विषयों से देशी रियासतों का भी सम्बन्ध है, उनमें एक समान नीति का अवलम्बन किया जाय। शान्ति, व्यवस्था और शत्रुओं से देश की रक्षा के सम्बन्ध में दोनों के हित समान हैं और यह बात राजा-महाराजाओं ने भी मान ली है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मांटफ़ोर्ड रिपोर्ट की योजना के अनुसार

राजा-महाराजाओं का एक चेम्बर या नरेन्द्र-मंडल स्थापित हुआ है जो इन तथा दूसरे विषयों पर विचार करने के लिए समय-समय पर एकत्र हुआ करता है। १९१७ में उन्होंने यह माँग पेश की थी कि साम्राज्य महासभा (Imperial Conference) और युद्ध-सम्बन्धी मन्त्रि-मंडल (War Cabinet) में उनके भी प्रतिनिधि रखे जायँ, पर वे प्रतिनिधि केवल अपने विचार प्रकट कर सकें, किसी विषय पर मत न दे सकें; और उनकी यह माँग स्वीकृत हो गई। पर यह माँग केवल उनके सम्बन्ध में नहीं बल्कि समस्त भारत के सम्बन्ध में स्वीकृत हुई थी।

पुरानी सन्धियों का स्वरूप—१८१३ से पहले देशी रियासतों के साथ जो सन्धियाँ हुई थीं, वे शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए मित्र भाव से की गई थीं; जैसी सन्धि हैदराबाद से हुई थी। १८१३ में जो सन्धियाँ हुई थीं, उनका रूप माण्डलिक था; अर्थात् उनके द्वारा रियासते ब्रिटिश सरकार के अधीन हो गई थीं और उनमें परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध न रह गया था और शासकों के अधिकार बहुत कुछ कम कर दिये गये थे। १८५७ के बाद यह घोषणा कर दी गई कि सब देशी रियासते ईंगलैंड के सम्राट् द्वारा रक्षित माण्डलिक हैं; और यह भी घोषित हुआ कि सारे भारत में सर्व-प्रधान अधिकार ईंगलैंड के सम्राट् का ही है। यह तो निश्चित हो गया था कि अब कोई देशी रियासत ब्रिटिश भारत की सीमा में नहीं मिलाई जायगी; पर हाँ, उत्तम शासन के विचार से उनके कामों में केवल हस्तक्षेप किया जा सकेगा। लार्ड मेयो ने कहा था—“यदि हम आपकी शक्ति का समर्थन करते हैं, तो उसके बदले में हम आपसे अच्छे शासन, न्याय, व्यवस्था और प्रजा के व्यक्तित्व तथा सम्पत्ति की रक्षा की भी आशा करते हैं और समझते हैं कि आपके यहाँ बराबर अच्छे-अच्छे काम होते रहेंगे।” कानून के अनुसार ब्रिटिश सम्राट् को पहले तो वे अधिकार प्राप्त हुए हैं जो किसी समय ईस्ट इंडिया कम्पनी को प्राप्त थे और जो वास्तव में उसके निजी अधिकार थे और १८५७ के बाद मुगल सम्राट् के भी अधिकार प्राप्त हुए। १८७६ में महारानी विक्टोरिया ने कैसरे-हिन्द की उपाधि धारण की और १८७७ के दरबार में

निज़ाम तथा दूसरे नरेशों के विरोध करने पर भी उन्हें इस बात को मान्य करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार सन्धिवाली रियासतों को भी ब्रिटिश सम्राट् के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं हैं। वही उनके अधिकार छीन सकता है और उन्हें नये अधिकार दे सकता है। इस प्रकार वे भारत का एक भीतरी अङ्ग हो गई हैं; न तो उन्हें स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है, न अलग होने का और न एकान्तता के भोग करने का। नेपाल और अफ़ग़ानिस्तान ने १८७७ वाले दरबार में आने से इन्कार कर दिया था और अब दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्र उन्हें स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में ही मानते हैं। अफ़ग़ानिस्तान की अपनी निजी पर-राष्ट्र नीति और राजदूत आदि हैं।

देशी राजाओं की बेचैनी—भारत के देशी राजाओं में जो बेचैनी है वह इसलिए है कि उनकी स्थिति बिल्कुल अनिश्चित है। यह बात दो कारणों से है। पहली बात तो यह है कि ब्रिटिश सरकार कहती है कि हम तुम्हारे ट्रस्टी या संरक्षक हैं और तुम्हारे कामों में हस्तक्षेप कर सकते हैं; और इसी के अनुसार वह आचरण भी करती है जिससे कुछ राजा-महाराजा यह समझते हैं कि सन्धियों के अनुसार हमें जो पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी, वह अब निश्चित नहीं रह गई। पर बाद की और भिन्न परिस्थितियों के कारण सन्धियों का अर्थ ही बदल दिया गया है; और नई शक्तियों तथा नये अर्थों ने उन सन्धियों को एक ऐसा क़ानूनी रूप दे दिया है जिससे उनके लिए नये-नये बन्धन उत्पन्न हो गये हैं और जिनके अनुसार नये-नये हस्तक्षेप किये जाते हैं और नई-नई प्रथाएँ स्थापित की जाती हैं। राजा-महाराजाओं को इस बात का भय है कि इन नई प्रथाओं, रूढ़ियों और नज़ीरों से अन्त में हमारे अधिकार बहुत ही कम हो जायेंगे; और फिर उन्हें इस बात का भी ठीक-ठीक पता नहीं है कि इस समय हमारी वास्तविक स्थिति क्या है। सरकार ने उनकी बेचैनी कम करने और उनके भय दूर करने के लिए नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना की जिसमें देशी नरेशों से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातों पर विचार किया जाता है; और इस प्रकार उनकी व्यवस्था की जाती है कि अब उन्हें इस बात का विश्वास होने लगा है कि भविष्य में हमारे हितों और अधिकारों से सम्बन्ध रखनेवाली

बातों में हमसे भी परामर्श लिया जाया करेगा। दूसरी बात यह है कि भारतवासियों की स्वराज्य-सम्बन्धी राजनीतिक आकांक्षा बराबर बढ़ती जाती है; वे उत्तरदायित्वपूर्ण या पार्लिमेंटरी शासन-प्रणाली के सिद्धान्त ग्रहण कर रहे हैं; उसके लिए आन्दोलन करते हैं और दृढ़तापूर्वक कष्ट सहन करते हैं; साइमन कमीशन (१९२८) की जाँच हुई है और औपनिवेशिक स्वराज्य के रूप में सुधारों की और किस्त मिलनेवाली है जिसके परिणाम-स्वरूप राजा-महाराजाओं को इस बात का भय हो रहा है कि हमारे अधिकार आदि घट जायँगे; और स्वयं उनके राज्यों में भी और उनके बाहर ब्रिटिश भारत में भी बहुत कुछ जाग्रति हुई है जिससे उन्हें स्वयं अपने राज्य के अन्दर ही अपना भविष्य अनिश्चित सा जान पड़ता है; उनके सम्बन्ध में जाँच हो रही है और यह देखा जा रहा है कि ब्रिटिश साम्राज्य में भी और स्वयं भारत में भी उनकी क्या स्थिति है और केन्द्रीय सरकार के साथ उनका क्या सम्बन्ध है। बटलर कमेटी (१९२७) के सामने बहुत से राजाओं ने अपने पक्ष की सब बातें उपस्थित की हैं और वह कमेटी उनकी माँगों और दावों की जाँच कर रही है और इस बात का पता लगा रही है कि भारत सरकार के साथ उनका किस प्रकार का सम्बन्ध है और उसमें किस प्रकार के परिवर्तनों की आवश्यकता है।

उनकी कामनाएँ—भारतीय नरेश यह चाहते हैं कि पुरानी सन्धियाँ फिर से कायम हों और हमें फिर से हमारे पूरे-पूरे अधिकार मिलें। वे चाहते हैं कि आजकल जो उन सन्धियों के नये-नये अर्थ लगाये जाते हैं, वे न लगाये जायँ और ज़बरदस्ती हमारे अधिकारों में हस्तक्षेप न किया जाय। वे यह नहीं चाहते कि स्वराज्य होने पर ब्रिटिश भारत हमारे कामों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सके। जिन बातों के साथ उनका और ब्रिटिश भारत का समान रूप से सम्बन्ध है, उनमें वे उसके साथ सम्मिलित होने के लिए ज़रूर तैयार हैं। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि हम ब्रिटिश भारत की बराबरी के हैं और हमें उसके समान ही स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। भारत के अख़बारवाले और कांग्रेस के उत्तरदायी राजनीतिज्ञ अभी तक इस सम्बन्ध में

बिल्कुल चुप हैं और इस विषय में उन्होंने कोई मत नहीं दिया है कि भारत की स्वराज्य-योजना में देशी रियासतों की क्या स्थिति होगी। अभी तक इस समस्या का निराकरण उतना अधिक आवश्यक नहीं था; इसलिए इस विषय में चुप रहना ही समझदारी का काम था। पर अब समय भी बदल गया है और नीतियाँ भी बदल गई हैं। देशी नरेश, भारत सरकार और भारतवासी सभी इस बात के लिए उत्सुक हैं कि कुछ निश्चय और समझौता हो जाय और इनमें से प्रत्येक अपने-अपने आदर्श के अनुसार अपनी-अपनी स्थिति जाँच और बतला रहा है। नरेशों का मुख्य उद्देश्य अपनी रक्षा और स्वतन्त्रता है; ब्रिटिश सरकार अपनी साम्राज्यवादिनी नीति के अनुसार भारत में अपने भावी अधिकारों और आवश्यक कार्यों का ध्यान रखती है; और जनता संघात्मक ढंग का ऐसा स्वराज्य प्राप्त करना चाहती है जो भारत की परिस्थितियों के अनुकूल और उपनिवेशों के ढंग का हो; सारे भारत में एक ही शासन-प्रणाली हो; कुछ निश्चित शर्तों के साथ सब प्रान्तों और राज्यों को और दूसरे प्रान्तों के साथ मिलकर स्वतन्त्रता प्राप्त हो जिसमें कुछ संघात्मक अधिकार भी हों।

कुछ ऐसे अंगरेज़ वाइसराय भी हो गये हैं और कुछ भारतवासी भी जो यह कहते हैं कि माण्डलिक प्रथा के इन अवशिष्टों से पीछा छुड़ाने के लिए सब देशी रियासतों को ब्रिटिश भारत में मिलाकर हज़म कर लेना चाहिए। संसार में और जहाँ-जहाँ इस प्रकार के मध्ययुगीन राजा या सरदार आदि थे, वे सब क्रान्तियों में पड़कर या और किसी प्रकार नष्ट हो गये हैं। पर इधर कुछ नरेशों की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो गये हैं और वे भी उन्नति करने के लिए तैयार होने लगे हैं; इसलिए उत्तरदायी वर्ग अब इस प्रकार के चरम सीमा के उपायों का प्रतिपादन नहीं करते। इस समय यह देखा जा रहा है कि वास्तव में ऐसे कौन से स्वराज्य-भोगी नरेश हैं जिनकी स्थिति उच्च मानी जानी चाहिए; और ऐसे कौन से माण्डलिक सरदार हैं जिनकी स्थिति और अधिकारों का विवेचन अलग होना चाहिए और विचारपूर्वक जिनकी स्थिति फिर से उपयुक्त की जानी चाहिए। मांटफ़ोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था कि

इस प्रकार के भेद कर दिये जायें; और इसी आधार पर उसने यह भी प्रस्ताव किया था कि नरेशों की एक स्थायी काउंसिल बना दी जाय ।

नरेन्द्र-मण्डल—कहा गया था कि इनसे उन विषयों में परामर्श लिया जाय जो (१) साधारणतः सभी देशी रियासतों से सम्बन्ध रखते हों; (२) जिनका सम्बन्ध सारे साम्राज्य से हो अथवा ब्रिटिश भारत और रियासतों के साथ हो; और (३) जिनका सम्बन्ध परवर्ती रीतियों और प्रथाओं से हो । यह भी कहा गया था कि जब दो या अधिक राज्यों में कोई झगड़ा हो अथवा किसी एक राज्य और प्रान्तीय सरकार या भारत सरकार के साथ झगड़ा हो या किसी नरेश का आचरण आपत्तिजनक हो तो यही मण्डल उसकी जाँच भी किया करे ।

कहा गया था कि यह काउंसिल या मण्डल नियमित रूप से अपने अधिवेशन किया करे और साधारणतः वाइसराय इसके सभापति हुआ करे' । इसी के अनुसार वर्तमान नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना हुई है जो आरम्भ काल से इस ढंग पर काम कर रहा है । किसी राज्य की आन्तरिक स्वतन्त्रता में अथवा भारत सरकार के साथ उसके प्रत्यक्ष सम्बन्धों में यह मण्डल हस्तक्षेप नहीं करता । मांटफोर्ड रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि सभी महत्त्वपूर्ण देशी राज्यों का केन्द्रीय सरकार के साथ प्रत्यक्ष राजनीतिक सम्बन्ध हो; और जिन बातों का भारत सरकार और देशी नरेशों का समान रूप से सम्बन्ध हो, उन पर दोनों मिलकर साथ-साथ विचार करे' । उसने यह भी कहा था कि भविष्य में देशी रियासतें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत संघारमक भारत में रहेंगी । १९२० में भारत सरकार और देशी नरेशों ने नरेन्द्र-मण्डल की योजना स्वीकृत की थी तथा १९२१ में ल्यूक कनाट ने उसका उद्घाटन किया था । इस मण्डल का मुख्य काम यह बतलाया गया था कि यह ऐसे विषयों पर वाद-विवाद करे जिनका सब रियासतों के साथ समान रूप से सम्बन्ध हो अथवा रियासतों और ब्रिटिश भारतीय सरकार के साथ सम्बन्ध हो । किसी रियासत की आन्तरिक बातों या किसी नरेश के कार्यों के सम्बन्ध में इसमें वाद-विवाद नहीं हो सकता था । इस मण्डल का चांसलर नरेश

लोग स्वयं ही चुनते हैं। सब कामों की व्यवस्था करने के लिए छः सदस्यों की एक स्थायी समिति है।

भारतीय दृष्टिकोण—अब भारतीय जनता न तो यही कहती है कि देशी रियासतों के कामों में कोई हस्तक्षेप हो और न यही कहती है कि इन्हें ब्रिटिश भारत में मिला लिया जाय। अब उसका यही मत है और इसी पर वह जोर भी देती है कि अब समस्त भारत औपनिवेशिक स्वराज्य के योग्य हो गया है; इसलिए देशी रियासतों को भी उसी की योजना में सम्मिलित हो जाना चाहिए और उसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अब वह यह बात नहीं सुनना या मानना चाहती कि रियासतों का ब्रिटिश सरकार के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहे और वे ब्रिटिश भारत से अलग रहकर ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में रहे। वह इस बात पर जोर देती है कि केन्द्रीय संघात्मक सरकार को ही इन सब बातों पर विचार करने का अधिकार होना चाहिए; और कहती है कि एक ऐसा सुप्रीम कोर्ट होना चाहिए जो झगड़े या मत-भेद की बातों का विचार और निर्णय करे। जनता का यह विचार सामूहिक कल्याण की कामना के आधार पर है और वह उन विभेदों को नहीं मानती जो उनके वर्तमान कृत्रिम रूपों के कारण अथवा इतिहास की आकस्मिक घटनाओं के कारण उत्पन्न हुए हैं। वह भारत सरकार की ऐतिहासिक स्थिति के आधार पर भारत के हितों पर अपना नियन्त्रण रखना चाहती है; और जैसा कि लार्ड रेडिंग ने कहा था, समस्त भारत में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना चाहती है। वह यह नहीं मानती कि ब्रिटिश सम्राट् को यह अधिकार प्राप्त है कि भारत में उपनिवेशों के ढङ्ग की शासन-प्रणाली स्थापित हो जाने पर भारत सरकार से यह नियन्त्रण या कर्तव्य छीन ले और भारत में एक नया साधन या शक्ति खड़ी करके जिस प्रकार चाहे, उसका उपयोग कर सके। जब भारत सरकार औपनिवेशिक ढङ्ग की सरकार हो जायगी, तब वह अपना सम्राट् की सरकारवाला रूप खो नहीं देगी; और जो काम वह अपने संघटन के आरम्भिक काल से कर रही है, वह काम उसकी कानूनी उत्तराधिकारी औपनिवेशिक ढङ्ग की सरकार से छीना नहीं जा सकता। अतः इस

बात का विचार रखते हुए कि देशी रियासतें और विशेषतः बड़ी-बड़ी रियासतें अधिक समय तक बनी रहेंगी, क्योंकि उन्हें ज़बरदस्ती अपने अधिकार छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और न वे अपने अधिकार छोड़ने के लिए तैयार हैं, और यह आवश्यक है कि वे भी संघात्मक भारत का एक अङ्ग हों, इस बात पर जोर देना आवश्यक हो जाता है कि वे अपनी-अपनी रियासत में प्रतिनिधि-सत्तात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली प्रचलित करें। कुछ रियासतों ने अभी से इस सिद्धान्त के अनुसार काम करना आरम्भ कर दिया है; पर हैदराबाद सरीखी कुछ रियासतें ऐसी हैं जिनकी शासन-प्रणाली बहुत ही मध्ययुगीन तथा स्वेच्छाचारपूर्ण है; और जितनी जल्दी उन्हें यह परामर्श दिया जाय अथवा लोकमत के द्वारा और सर्वप्रधान शक्ति के द्वारा उन पर यह जोर डाला जाय कि वे आधुनिक लोक-सत्तात्मक ढङ्ग ग्रहण करें, उतना ही उनके और भारत के भविष्य के लिए अच्छा है।

छोटे-छोटे राजा—लेकिन बहुत बड़ी संख्या ऐसे छोटे-छोटे राजाओं या सरदारों की है जो एक मामूली ज़मींदार से बढ़कर नहीं हैं, पर जिन्होंने स्वतन्त्र राजाओं का पद और कुछ अधिकार प्राप्त कर लिये हैं। उनका और देश का भला इसी में है कि वे पेंशन लेकर अलग हो जायँ और जहाँ तक शीघ्र हो सके, अपने शासन-सम्बन्धी अधिकारों या अधिकार-क्षेत्रों से वञ्चित कर दिये जायँ। आजकल के नये विचारों, आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं और शासन-प्रणाली के सामने वे अलग-अलग अपना निर्वाह नहीं कर सकते। यदि अँगरेज़ लोग उन्हें जीतने के उपरान्त उनकी स्थिति और अधिकारों को साँचे में ढालकर एक समान न करते जाते तो वे कभी माण्डलिक राजा न हो सकते। इन बहुत छोटे-छोटे पर बहुसंख्यक राजाओं और सर्वोच्च पर थोड़े से महाराजाओं के बीच में ऐसी मध्यवर्ती रियासतों का भी एक वर्ग है जो इतनी बड़ी तो नहीं हैं कि स्वतन्त्रतापूर्वक बनी रह सकें, पर जिनमें से कुछ ने वैध शासन-प्रणाली के उत्तम रूपों का प्रचार करने की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखलाई है। उनकी समस्या अधिक कठिन है; पर उनका विचार भावुकता से नहीं, बल्कि सारे देश और सारी जनता को एक समझकर करना होगा।

जब तक उनके स्वामी अपने अधिकार आपसे आप न छोड़ देंगे, तब तक उनके लिए और कोई उपाय ही नहीं है। जब जापान और जरमनी ऐसा कर चुके हैं, तब वह भारत ऐसा क्यों नहीं कर सकता, जहाँ हरिश्चन्द्र और शिवाजी सरीखे ऐसे राजपुरुष हो गये हैं जिन्होंने स्वयं ही अपना सिंहासन छोड़ दिया है या राज्य दे दिया है। मध्य युग के इन सब अशिश्टों को धो बहाने के लिए हम किसी क्रान्ति की प्रतीक्षा नहीं कर सकते। या तो वे अपना सुधार करें और या अपने अधिकारों का परित्याग करें। अब तो यही समझ में आता है कि भारत में भी सांसारिक शक्तियों के विरुद्ध वे छोटे-छोटे और मध्य युग के ढंग के स्वेच्छाचारी राजा लोग नहीं टिक सकते। उनका जमाना बीत गया।

उनकी स्थिति—जब उनका कोई उत्तराधिकारी न रह जाय, तब उसी पुराने सिद्धान्त का अवलम्बन करना चाहिए जिसके अनुसार उनकी रियासत का अन्त हो जाता था और वे भारतवर्ष में मिला ली जाती थीं। ब्रिटिश सरकार देशी रियासतों के बहुत से भीतरी मामलों में दखल देती रही है; जैसे उत्तराधिकार का निर्णय, रिजेंसी का संघटन, सिंहासन से च्युत कर दिया जाना, दत्तक लेने की अनुमति देना, नाबा-लिग का बली बनना और उसकी ओर से शासन-प्रबन्ध करना और यह निश्चय करना कि उन्हें किस प्रकार की शिक्षा आदि दी जाय, इत्यादि। उनके सैनिक बल का भी वह पूरा-पूरा निरीक्षण तथा नियन्त्रण करती और उसकी सीमा आदि निर्धारित करती है और उनकी ओर से साम्राज्य या सार्वराष्ट्र-सम्बन्धी नीति स्थिर करती और व्यवहार तथा निश्चय आदि करती है। साथ ही देशी रियासतों में युरोपियनों को कुछ विशिष्ट भौमिक अधिकार भी प्राप्त होते हैं।

इस समय भी ब्रिटिश भारत और भारत की देशी रियासतें मिलकर एक भारतीय साम्राज्य के नाम से अभिहित होती हैं जिसमें एक ब्रिटिश सम्राट की आज्ञा ही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है और उसी का सबको समान रूप से पालन करना पड़ता है। सार्वराष्ट्रीय और परराष्ट्रीय व्यवहारों में इन दोनों का एक

ही बल और एक ही प्रधान राष्ट्र माना जाता है। वे साम्राज्य की महासभाओं तथा शान्ति-सभाओं में एक भारत के रूप में सम्मिलित होती हैं। देशी रियासतों को न तो ब्रिटिश भारत से अलग होने का अधिकार प्राप्त है और न बिलकुल स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने का। वे बद्ध हैं। दोनों में एक ऐसा समझौता या सम्बन्ध है जो स्थायी है और कभी टूट नहीं सकता। यह संघात्मक बन्धन भविष्य में इस प्रकार से पूर्ण विकसित होना चाहिए जिसमें संघात्मक शासन-प्रणाली में वह एक पूरे संघ का रूप धारण कर सके; और उसके समस्त संयोजक अङ्गों को अपने-अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखकर केन्द्रीय शक्ति में भागी होना चाहिए और अपने यहाँ का शासन-प्रबन्ध करना चाहिए।

इस प्रकार भारत के सम्मिलित भविष्य के विचार से देशी रियासतों की समस्या का विवेचन किया गया है; अर्थात् यह बतलाया गया है कि स्वराज्य होने पर उनकी क्या स्थिति होगी, स्वयं उनके अधिकार और शक्तियाँ क्या होंगी तथा उनकी प्रजाओं को कहीं तक अधिकार तथा स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होंगी।

साम्राज्य और विदेशी शासन—युद्ध में विजय प्राप्त करके बनाये हुए साम्राज्य की भावना ऐसी है जिसे आजकल का राजनीतिक दर्शन-शास्त्र बहुत ही भीषण समझता है। वास्तव में इसका मतलब यही होता है कि एक जाति के लोग केवल अपने ही स्वार्थों के विचार से स्थायी रूप से दूसरी जाति के लोगों की धन-सम्पत्ति का हरण करते रहें। एक जाति का दूसरी जाति पर शासन करना बिलकुल अनुत्तरदायित्वपूर्ण और मनमाना काम है और वास्तविक शासन का एक बिगड़ा हुआ रूप है। इसमें शासक ज़बरदस्ती अपनी इच्छा, अपनी आदतों और अपनी अर्थनीति को शासितों के ऊपर लादता है। जब शासक और शासित के विचारों में बहुत अधिक अन्तर हो जाता है और इस प्रकार का शासन अधिक दिनों तक चलता रहता है, तब शासितों का नैतिक चरित्र बराबर जल्दी-जल्दी बिगड़ता जाता है और उसे एक में बाँध रखनेवाले बन्धन शिथिल होने लगते हैं। यहाँ हमें यह

ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी शासन और विदेशियों तथा उनकी सभ्यता के साथ होनेवाले संघर्ष में बहुत भेद है। विदेशी शासन पूर्ण रूप से निन्दनीय और त्याज्य है और विदेशियों का सम्पर्क स्वागत करने के योग्य है। जान स्टुअर्ट^१ मिल ने अपनी Representative Government (प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन-प्रणाली) नामक पुस्तक में कहा है कि विदेशी शासन वास्तव में कोई शासन ही नहीं है। वह मानों एक प्रकार की अराजकता है। वह विचारों की अराजकता, स्वार्थों का संघर्ष, महान् व्यक्तियों का दमन और ऐसे चरित्रों का उत्साह-वर्धक है जो नीच, षड्यन्त्रकारी, स्वार्थी और तुच्छ होते हैं। जो शासक जाति शासितों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं मिलती-जुलती, जो पूर्वी देशों और यहाँ की काली, भूरी, पीली आदि जातियों को तुच्छ और छोटी समझती है, जो अपने आपको बहुत ही सच्चरित्र और ईमानदार समझती है और शासितों को तुच्छ, बेईमान और अयोग्य समझती है, वह कभी सम्मिलित शासन-प्रणाली की सृष्टि नहीं कर सकती। शासकों और शासितों की जातियाँ दोनों एक दूसरी से बहुत अलग और दूर रहती हैं और विदेशी शासन के द्वारा कभी पराई संस्कृतियाँ और विदेशी प्रणालियाँ ग्रहण नहीं की जा सकती। इस प्रकार का शासन पूर्ण रूप से बल अथवा उसके भय से ज़बरदस्ती लादा हुआ होता है और शासितों की बुद्धिमत्तापूर्ण सहमति के आधार पर नहीं होता। शासितों के लिए मौलिकता का कोई क्षेत्र नहीं रह जाता और उनकी मौलिकता बहुत बड़े अंश में नष्ट हो जाती है; क्योंकि प्रत्येक बात में—यथा शासन, कानून बनाना, न्याय करना, शिक्षा, जल और स्थल सेना, सार्वजनिक सेवाएँ और जीवन के सभी विभागों में—विदेशियों को ही प्रधानता और नेतृत्व दिया जाता है और इन सब विभागों का नियन्त्रण और सञ्चालन ब्रिटिश सरकार ही करती है। जिस सृजक वास्तविक जीवनी शक्ति के आधार पर कोई राष्ट्र मानसिक, नैतिक तथा आर्थिक उन्नति कर सकता है, उस जीवनी शक्ति के लिए फिर कोई कार्य-क्षेत्र बच ही कहाँ रहता है? इस प्रकार जनता, जो नेतृत्व से वञ्चित कर दी गई है और विदेशी शासन में उसे अनुचित अवस्थाओं में विदेशियों के साथ जो

प्रतियोगिता करनी पड़ती है, वह देश के लिए सबसे बड़ा अनर्थ है। साम्राज्य का विचार या धारणा कभी अभीष्ट तो हो ही नहीं सकती; पर वह शासन-प्रणाली का कोई औसत या माध्यमिक रूप भी नहीं है। हाँ, उस समय साम्राज्य अवश्य अच्छा समझा जा सकता है जब उसमें अनेक राष्ट्र बिल्कुल समानता के भाव से सम्मिलित हों और सबके हितों का समान रूप से ध्यान रखा जाय। डेढ़ सौ वर्षों के विदेशी शासन से मिथ्या साम्राज्यवाद का प्रतिपादन करने के लिए कोई आधार नहीं मिल सकता और उस मिथ्या साम्राज्यवाद की सदा प्रत्येक देश में और समस्त विदेशी शासकों के सम्बन्ध में बराबर घोर निन्दा होनी चाहिए। वह उसी सीमा तक बिन्दा से बच सकता है, जिस सीमा तक वह उत्तरदायित्व-रहित रूप न धारण करे। पर उस दशा में वह विदेशी शासन नहीं रह जाता, बल्कि स्वयं जनता का शासन हो जाता है। प्रायः कहा जाता है कि गोरे लोग भार-स्वरूप नहीं हैं, बल्कि वे पूर्व की जगाने के लिए यहाँ आये हैं; पर ये सब बातें केवल जनता को धोखा देने के लिए और स्वार्थपूर्ण हैं। तात्पर्य यह कि विदेशी शासन-प्रणाली से केवल धन के लाभ से काम करनेवाली विदेशी सेना, कुछ विशिष्ट अधिकार-प्राप्त वर्गों, विशिष्ट स्वार्थों, सार्वजनिक नौकरियों में पक्षपातपूर्ण व्यवहार, ज़मींदारों और विशिष्ट शिल्पियों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार, क़ानून और उसके पालन में असमानता, स्वतन्त्रता की बाधा और विदेशियों के लिए सुभीते के अवसरों आदि की सृष्टि होती है और मौलिक तथा रचनात्मक कार्य-शक्ति तथा कर्म-प्यता का ह्रास होता है; निराशा का भाव बहुत बढ़ जाता है और ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है जो प्रजा को तुच्छ और उपहासास्पद बनानेवाला होता है। संक्षेप यह कि उसमें न तो नागरिकता के लिए और न नागरिक वर्ग के लिए कोई स्थान रह जाता है।

३—औपनिवेशिक स्वराज्य या स्वतन्त्रता की समस्या

औपनिवेशिक स्वराज्य अधिक उत्तम और कार्यरूप में परिणत करने के योग्य है—ऊपर हमने अपनी वर्तमान राजनीतिक स्थिति भिन्न-

भिन्न वर्गों और विदेशियों तथा देशियों के विशिष्ट स्वार्थों, देशी रियासतों और ब्रिटिश सम्राट् के साथ उसके सम्बन्धों, सशस्त्र विद्रोह की असम्भावना और उसकी सफलता, ब्रिटिश साम्राज्य के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध और उसके आदर्शों तथा प्रणाली का जो विवेचन किया है, उससे सिद्ध होता है कि औपनिवेशिक शासन-प्रणाली यहाँ वास्तव में कार्यरूप में परिणत हो सकती है। हमारी कठिनाइयाँ और आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए जो क्रान्ति होगी, उससे वर्तमान व्यवस्था में बहुत बड़ा उलट-फेर हो जायगा; और उससे एक ऐसे नये स्वेच्छाचारपूर्ण शासन की सृष्टि होगी जिसका आधार सैनिक विजय या शक्ति का एक नया प्रमाण होगा, पर उससे स्वतन्त्र या सम्मिश्रित भारत की सृष्टि नहीं होगी। इस समय भारतीय मनोवृत्ति क्रान्ति की ओर नहीं बल्कि विकास की ओर है। वह केवल उन्नति और ठीक व्यवस्था चाहती है, कोई ऐसी व्यवस्था या स्वतन्त्रता नहीं चाहती जिसकी उसने पहले से कोई कल्पना ही न की हो। भारत के जातीय और साम्प्रदायिक आन्दोलनों से यह पता चलता है कि यहाँ की अधिकांश जनता केवल अपनी जातियों और वर्गों की रक्षा और हितों का ही ध्यान रखती है, उसके बाहर उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह कदाचित् ही ब्रिटिश सम्बन्ध का विच्छेद करने का विचार करती हो। भारतवासी अपने हितों की रक्षा के लिए अँगरेजों पर ही निर्भर करते हैं। इसी प्रकार देशी नरेश, ज़मींदार, व्यापारी, उत्तरदायी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और शाही घोषणाएँ आदि भी यही बात कहती हैं; और सभी लोग ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के पक्ष में हैं। इसलिए औपनिवेशिक स्वराज्य का ही एक ऐसा उद्देश्य और कार्य-क्रम हम लोगों के सामने उपस्थित है जो कार्यरूप में परिणत हो सकता है और जो इसी समय तुरन्त हो सकता है। १९२६ की साम्राज्य-महासभा (Imperial Conference) के शब्दों में इसका भाव यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-भोगी उपनिवेश (जिनमें स्वयं ग्रेट ब्रिटेन भी सम्मिश्रित है) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्र और स्वराज्य-भोगी वर्ग हैं जो सब आपस में एक दूसरे के बराबर हैं, जो स्वयं अपने देश

के भीतरी और बाहरी कामों में किसी दृष्टि से किसी दूसरे के अधीन नहीं हैं; हाँ, वे सब मिलकर एक ही सम्राट् के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करते हैं और ब्रिटिश राष्ट्र-समूह में स्वतन्त्रता-पूर्वक सदस्यों की भाँति सम्मिलित होते हैं। यह आदर्श अगस्त १९१७ वाली घोषणा में, १९१९ वाले ऐक्ट में और स्वयं सम्राट् की इन उक्तियों में स्वीकृत किया गया था—“मेरे साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य का आरम्भ या आगे चलकर पूर्ण उत्तरदायित्वयुक्त शासन-प्रणाली होगी और उसकी (भारत की) जनता को यह अधिकार है कि वह अपने कार्यों का स्वयं सञ्चालन करे और अपने हितों की स्वयं रक्षा करे।” प्रोफेसर कीथ का भी ऐसा ही विचार है। उन्होंने (१९२० में) कहा था—“इनसे भारत के उस आनेवाले समय की पूर्व-सूचना मिलती है, जब भारत पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा और ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के सदस्य की भाँति उपनिवेशों तथा स्वयं युनाइटेड किंगडम की बराबरी का दर्जा हासिल करेगा।”

उसके लाभ—यदि भारत को यथा-साध्य शीघ्र ब्रिटिश राष्ट्र-समूह में इस प्रकार सम्मिलित होने दिया जाय तो उससे एक बहुत बड़ा लाभ होगा। उसकी स्थिति में जो क्रान्ति होगी, वह शान्तिपूर्ण होगी और उसे अनुचित रूप से अधिकार चाहनेवाली विदेशी शक्तियों और ऐसे अल्पसंख्यक वर्गों से नहीं लड़ना पड़ेगा जो असन्तुष्ट होंगे या दूसरे देशों से सहायता पाने की आशा रखते होंगे और जो परिवर्तन तथा क्रान्ति के समय में सदा बहुत ही भयानक होते हैं।

आजकल की महाशक्तियों के ज़माने में यदि भारतवर्ष की ग्रेट ब्रिटेन सरीखे बड़े राष्ट्र और साम्राज्य के साथ बराबरी की मित्रता और सङ्ग हो जाय तो भारत की वर्तमान दुर्बलता और असमर्थता का विचार करते हुए कहा जा सकता है कि यह बात राजनीतिक और सार्वराष्ट्रीय दृष्टि से भारत के लिए बहुत अधिक लाभ की होगी। इसका फल यह होगा कि देश में शान्ति बनी रहेगी और बाहरी आक्रमणों का भय न रहेगा। यहाँ तक कि दक्षिण अफ़्रीका के राजनीतिज्ञों ने भी औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कर लेने पर समझ लिया कि राष्ट्र-समूह में सम्मिलित होने से क्या लाभ है। पर

यदि ब्रिटिश सरकार हमें औपनिवेशिक स्वराज्य देने से बराबर इनकार ही करती रहेगी या उसमें अनावश्यक रूप से देर ही लगाती रहेगी, तो फिर हमारा कल्याण इसी में होगा कि हम स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करें। पर इस समय हमें जितना काम, त्याग और तैयारी करनी पड़ती है, उस समय उसकी अपेक्षा हजार गुनी अधिक करनी पड़ेगी। आजकल हम लोग जो स्वार्थ-परता, अकर्मण्यता और सहनशीलता तथा दृढ़ता का अभाव दिखलाते हैं, उसका ऐसे देश में कोई स्थान या महत्त्व नहीं होता जो स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता हो। स्वतन्त्रता के पथ पर आरुढ़ होने से पहले हमें अपनी राजनीति और सांसारिक जीवन की सारी मनोवृत्ति और नीति बिल्कुल बदल देनी होगी। यदि औपनिवेशिक स्वराज्य हो जाय तो हमारी पुरानी मनोवृत्ति या नीति में बहुत ही थोड़ा परिवर्तन होगा। स्वतन्त्रता के लिए नवीन उत्साह तथा बल और नवीन सामाजिक तथा राजनीतिक महत्त्वों और आदर्शों की आवश्यकता होती है।

साम्राज्य की संगति और सहयोग—युरोपीय महायुद्ध के बाद से अँगरेज लोग इस बात का प्रयत्न करते रहे हैं कि साम्राज्य-महासभाओं और साम्राज्य-मन्त्रिमंडल (१९१७) के परामर्शों में भारत भी उसी प्रकार, चाहे बराबरी के दावे से न सही, सम्मिलित हो, जिस प्रकार और स्वराज्य-भोगी उपनिवेश सम्मिलित होते हैं। महायुद्ध से पहले (१८८७ से १९११ तक) साम्राज्य-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए पाँच साम्राज्य-महासभाएँ हुई थीं। उपनिवेशों में इस बात की कामना उत्पन्न हुई थी कि साम्राज्य के जो विषय सबके लिए समान रूप से महत्त्व के हैं, उन पर निरन्तर परामर्श करने के लिए एक संस्था या महासभा होनी चाहिए। वे ग्रेट ब्रिटेन के समान ही अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। यह बात जनरल स्मट्स ने १९१७ में इस प्रकार कही थी—“हम राष्ट्रों की एक प्रणाली हैं; हम अनेक ऐसे राष्ट्र और राज्य हैं जो प्रायः बिल्कुल स्वतन्त्र हैं और अपना शासन आप ही करते हैं और ब्रिटिश राष्ट्र-समूह कहलाते हैं।” महायुद्ध बिल्कुल अचानक छिड़ गया था और उसके कारण राष्ट्रों पर बहुत बड़े

उत्तरदायित्व आ पड़े थे; उन पर बहुत बोझ पड़ गये थे और उन्हें बहुत से आदमी तथा सामग्री देनी पड़ी थी। इससे विवश होकर ब्रिटिश स्वराज्य-भोगी उपनिवेशों ने अपना यह दावा पेश करना आरम्भ किया कि साम्राज्य की पर-राष्ट्र नीति का सञ्चालन और नियन्त्रण करने में भी हमें ग्रेट ब्रिटेन के साथ-साथ बराबरी का हिस्सा मिलना चाहिए। पर-राष्ट्रीय नीति से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न और शान्ति, युद्ध तथा मिश्रता आदि के निर्णयों के प्रश्न प्रत्येक राष्ट्र के लिए बहुत ही महत्त्व के हुआ करते हैं; और यदि इन सब बातों पर किसी राष्ट्र का अधिकार और नियन्त्रण न हो तो उसका मतलब यही निकलता है कि उस राष्ट्र को बहुत ही थोड़ी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त है और उसका दर्जा बहुत छोटा है। अतः उनका कहना था कि ग्रेट ब्रिटेन को उचित है कि इन सब बातों का निर्णय करने में वह हम लोगों को भी अपनी बराबरी का ही अधिकार दे। वे कहते थे कि सारे साम्राज्य की ऐसी एक्जिक्यूटिव और लेजिस्लेटिव काउंसिल हो जो इन विषयों के निर्णय में सब के सामने समान रूप से उत्तरदायी हो। पर बहुत कुछ विचार के उपरान्त यह बात ठीक नहीं जँची। पर फिर भी इसका परिणाम यह हुआ कि पर-राष्ट्रीय नीति से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों में उपनिवेशों को और अधिक स्वतन्त्रता दी गई। यह तत्त्व १९२६ वाली साम्राज्य-महासभा (Imperial Conference) में मान्य किया गया।

१९१९ में भारतवर्ष ने भी दूसरे उपनिवेशों के साथ स्वयं अपनी ओर से वार्सलस की सन्धि पर हस्ताक्षर किये और दूसरे स्वराज्य-भोगी देशों के साथ वह भी राष्ट्र-संघ (League of Nations) का मौलिक सदस्य हुआ।

साम्राज्य में भारत की स्थिति—महायुद्ध के उपरान्त १९२१, १९२३ और १९२६ में साम्राज्य महासभा के तीन अधिवेशन हुए। भारत के प्रतिनिधि भी उसमें नियमित रूप से सम्मिलित हुए। उनमें अनेक ऐसी समस्याओं पर विचार हुआ जिनका सम्बन्ध या तो साम्राज्य के भिन्न-भिन्न अंगों और या संसार भर के राष्ट्रों के साथ था। १९२६ में यह बतलाने का प्रयत्न किया गया कि साम्राज्य में उपनिवेशों का क्या स्थान है। पर भारत अभी

तक उनमें सम्मिलित नहीं किया गया है और न तब तक वह उस व्याख्या के अन्तर्गत आ सकता है, जब तक उसकी शासन-प्रणाली उपनिवेशों की शासन-प्रणाली में परिवर्तित न हो जाय। पर फिर भी यह आशा की जाती है कि ज्यों ही भारत के सम्प्रदायों और देशी रियासतों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का निर्णय हो जायगा, त्यों ही भारत को औपनिवेशिक ढङ्ग का स्वराज्य मिल जायगा। भारत के लिए विलायत में जो हाई कमिश्नर रखा गया है, वह उपनिवेशों के ढङ्ग पर ही है।

औपनिवेशिक शासन-प्रणाली मुख्यतः संघात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण या पार्लिमेंटी ढङ्ग की है। उसमें केवल एक केन्द्रीय संघात्मक सरकार ही नहीं होती, बल्कि स्थानिक राज्य या प्रान्तीय सरकार भी होती है। शासन-कार्य में एक्ज़िक्यूटिव सदा लेजिस्लेटिव काउंसिल के अधीन रहता है और उसे कानून बनाने के पूरे और अपरिमित अधिकार होते हैं। कानून की दृष्टि से ब्रिटिश पार्लिमेंट सबकी मालिक या प्रधान है और उसे हर एक कानून बनाने का अधिकार है; पर उसने कुछ ऐक्ट बनाकर वे सब अधिकार औपनिवेशिक लेजिस्लेटिव काउंसिलों को दे दिये हैं और उन्हीं ऐक्टों में यह भी बतला दिया है कि उनका राष्ट्र-संघटन किस प्रकार का है। इन संघटनों में सुधार करने का अधिकार जनता को अर्थात् औपनिवेशिक लेजिस्लेटिव काउंसिलों को है। वे सुधारों का प्रस्ताव करते हैं जिन्हें अन्त में ब्रिटिश पार्लिमेंट स्वीकृत करती है। गवर्नर-जनरल केवल ब्रिटिश सम्राट् का प्रतिनिधि होता है और उसे यह अधिकार होता है कि लेजिस्लेटिव काउंसिल द्वारा स्वीकृत किसी निश्चय को अस्वीकृत भी कर दे। पर इस अधिकार का कदाचित् ही कभी उपयोग किया जाता है।

राष्ट्र-संघ और उसके उद्देश्य—महायुद्ध के उपरान्त १९२० में आपस के सम्झौते से राष्ट्र-संघ (League of Nations) की सृष्टि हुई और वह सम्झौता वासेरस की सन्धि (१९२०) का एक मुख्य अङ्ग माना गया। यह एक वर्धनशील संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य सार्वराष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना और यह मानते हुए कि हम युद्ध न करेंगे, सार्वराष्ट्रीय शान्ति और

रक्षा का कार्य सम्पादित करना है। इसके अनुसार यह निश्चित हुआ है कि इसमें सम्मिलित होनेवाले राष्ट्र कोई झगड़ा खड़ा होने पर उसे पञ्चायत (Court of Arbitration) में उपस्थित करेंगे; और जब तक वह पञ्चायत अपना निर्णय न दे दे, तब तक और उसके तीन महीने बाद तक कोई राष्ट्र युद्ध न छेड़ेगा। यदि कोई राष्ट्र इस नियम का भङ्ग करे तो संघ के अन्यान्य सदस्य उस पर आर्थिक दबाव डाल सकते हैं या सशस्त्र होकर हस्तक्षेप कर सकते हैं। स्वयं लीग या संघ के हाथ में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वह अपने निर्णयों का किसी से पालन करा सके। यह संघ निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त का समर्थन करता है, पर इस सम्बन्ध में वह अभी तक पूर्ण रूप से कोई बात निश्चित नहीं कर सका है। इसलिए केवल जर्मनी और उन पराजित राष्ट्रों को छोड़कर, जो निःशस्त्र होने के लिए विवश किये गये थे, बाकी राष्ट्रों का बहुत ही थोड़ा निःशस्त्रीकरण हुआ है। युद्ध-काल में जीते हुए प्रान्तों और देशों आदि की व्यवस्था करने के लिए “आज्ञा” का एक नया सिद्धान्त और प्रयाली (Mandate) निकली है जिसके अनुसार वहाँ का नया शासन और सरकार एक ट्रस्ट के रूप में मानी जाती है और उनका सञ्चालन शासितों के हित के विचार से किया जाता है।

“आज्ञा” का सिद्धान्त—इस प्रकार के नये जीते हुए प्रदेश कुछ चुने हुए राष्ट्रों को सौंप दिये गये हैं जो वहाँ की जनता की भौतिक उन्नति तथा नैतिक कल्याण और सामाजिक उन्नति करने के लिए संघ के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

इसके अन्यान्य कार्य—इसके सिवा संघ और भी अनेक बातों की व्यवस्था करता है; यथा बेकारी के समय मजूदरों के साथ उत्तम तथा मानुषिक व्यवहार कराना, यह निश्चित करना कि मजूदरों से कितने घंटों तक नित्य काम लेना चाहिए, बच्चों और स्त्रियों आदि से कितने समय तक और किस प्रकार काम लेना चाहिए, नशे की चीजों और युद्ध-सामग्री आदि के व्यापार का नियन्त्रण कराना, स्त्रियों और बच्चों आदि की बिक्री रोकना, सार्व-

राष्ट्रीय स्वास्थ्य आदि की व्यवस्था कराना, सारे संसार में रोग आदि न फैलने देना और कष्ट आदि कम कराना और व्यापार आदि की व्यवस्था कराना ।

उसके सदस्य और संघटन—इस समय इसमें ब्रिटिश प्रजा-सत्तात्मक राष्ट्र-समूह के सब देश, भारतवर्ष और संसार के प्रायः सभी राष्ट्र सम्मिलित हैं । हाँ, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र, रूस, टर्की और मिस्र इसमें सम्मिलित नहीं हैं; क्योंकि इन्होंने पहले ही इसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था । इसका संघटन इस प्रकार है—

१—इसकी काउंसिल में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, जापान, तथा नौ दूसरे राष्ट्र हैं जो असेम्बली द्वारा चुने जाते हैं । असेम्बली जिन बातों पर विचार करती है, उन सभी बातों पर यह भी विचार कर सकती है ।

२—असेम्बली एक साधारण सभा है जिसमें संघ के सभी सदस्यों के प्रतिनिधि रहते हैं । सभी स्वतन्त्र राष्ट्र और स्वराज्य-भोगी उपनिवेश इसके सदस्य हो सकते हैं । प्रत्येक सदस्य का एक वोट होता है । यह सभा अपने कार्य-क्षेत्र में आनेवाले प्रत्येक विषय का अथवा संसार की शान्ति से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय का विचार कर सकती है ।

इन दोनों ही सभाओं में साधारणतः कोई निश्चय होने के लिए सब सदस्यों के एकमत होने की आवश्यकता होती है ।

३—इसका एक स्थायी सार्वराष्ट्रीय न्यायालय भी है जिसमें ग्यारह जज होते हैं और जिसका स्थान हेग में है । इस न्यायालय के सामने जाकर उपस्थित होना केवल अपनी इच्छा पर है । (अर्थात् यह ज़बरदस्ती किसी को अपने सामने नहीं बुला सकता ।)

४—इसके मन्त्रियों का एक स्थायी कार्यालय या सेक्रेट्रिएट (Secretariate) है जिसका दफ्तर जेनेवा में है और वहीं इस संघ का प्रधान केन्द्र या स्थान है ।

यह संघ इसलिए खुली सन्धियों का समर्थन करता है कि जिसमें गुप्त कूटनीति रहे । संघ के सदस्यों में जितनी सन्धियाँ होती हैं, उन सबकी संघ के कार्यालय में रजिस्टरी करानी पड़ती है; जब तक किसी सन्धि की

इस प्रकार रजिस्टरी न हो जाय, तब तक उसकी शर्तों का पालन आवश्यक नहीं समझा जाता। यह राष्ट्र-संघ इस बात की आशा और सम्भावना उत्पन्न करता है कि आगे चलकर किसी समय सारे संसार में नागरिकता का भाव उत्पन्न हो सकेगा।

भारत और संघ—यद्यपि भारतवर्ष इस संघ का एक आरम्भिक या मौलिक सदस्य है और उसके व्यय आदि के लिए इसे उचित से कहीं अधिक धन देना पड़ता है, पर तो भी सार्वराष्ट्रीय कानून की दृष्टि में इसलिए उसकी कोई खास हैसियत नहीं है कि वह स्वतन्त्र नहीं है; यहाँ तक कि ब्रिटिश प्रजातन्त्री राष्ट्र-समूह के स्वराज्य-भोगी उपनिवेशों के समान भी नहीं है। उसके आन्तरिक शासन की भाँति पर-राष्ट्रीय नीति का नियन्त्रण भी ग्रेट ब्रिटेन के हाथ में है। अतः राष्ट्र-संघ में भारत का प्रतिनिधित्व नियमानुमोदित नहीं है। भारतीय प्रतिनिधि सदा अँगरेज प्रतिनिधियों के अधीन ही रहते हैं। यहाँ भी ग्रेट ब्रिटेन भारत को अपनी स्थिति का ठीक-ठीक सम्मान भोग नहीं करने देता। भारतीय लेजिस्लेटिव काउंसिल ने कहा था कि भारत के प्रतिनिधि केवल भारतवासी ही हुआ करें और उनका नेतृत्व भी भारतवासी ही करें; पर ग्रेट ब्रिटेन ने उसकी यह माँग भी अस्वीकृत कर दी। ग्रेट ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्र नहीं होने देना चाहता और कभी-कभी उसकी इच्छाओं और निर्णयों के विरुद्ध भी बातें कहा करता है।

४—भारतीय राष्ट्र-संघटन में सुधार

१९१९ वाले ऐक्ट की प्रस्तावना—१९१९ वाले ऐक्ट की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से कहा गया है—“चूँकि पार्लिमेंट ही भारतीय जनता की उन्नति तथा कल्याण के लिए उत्तरदायी है, इसलिए वही यह निश्चय कर सकती है कि किस समय और कितने अधिकार उसे दिये जायँ।” इससे इस सम्बन्ध में भारतवासियों की इच्छाओं का बिजकुल तिरस्कार किया गया है और उनकी स्थिति तथा शक्ति इस राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से मान्य नहीं की गई है। १९२७ में जो स्टैच्यूटरी कमीशन (साइमन कमीशन) नियुक्त

किया गया था, उसके सदस्यों में एक भी भारतवासी नहीं था। भारत-वासियों से परामर्श ले लिया जाता है या उनकी सम्मति जान ली जाती है, पर देश के संघटन को दोहराने के सम्बन्ध में भारतीय लेजिस्लेटिव काउंसिलों का राष्ट्र-संघटन की दृष्टि से कोई स्थान नहीं है और न वे किसी प्रकार मान्य की गई हैं। भारतवासियों ने इसका पूरा-पूरा विरोध किया है और पार्लिमेंट की पूर्ण प्रधानतावाला सिद्धान्त मानने से इनकार कर दिया है। राष्ट्र-संघटन का निर्माण करने और उसे दोहराने के सम्बन्ध में वे उपनिवेशों के समान ही अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं।

स्वभाष्य-निर्णय का अधिकार—युद्ध-काल में प्रेसिडेंट विल्सन तथा युरोप के दूसरे राजनीतिज्ञों और नेताओं ने यह मान लिया था कि प्रत्येक राष्ट्र को राजनीतिक विषयों में स्वभाष्य-निर्णय करने का अधिकार है। प्रेसिडेंट विल्सन ने कहा था—“जिन चार उद्देश्यों की सिद्धि के लिए संसार-भर के लोग मिलकर युद्ध कर रहे हैं, उनमें से एक यह भी है कि प्रत्येक प्रश्न का निर्णय करने में, चाहे वह प्रश्न सीमा-सम्बन्धी हो, चाहे प्रभुत्व-सम्बन्धी हो, चाहे आर्थिक-व्यवस्था-सम्बन्धी हो और चाहे राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के विषय में हो, उसका मुख्य आधार यही होगा कि वह निर्णय उन लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक मान्य हो जिनका उस निर्णय के साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष और बहुत ही निकट का सम्बन्ध हो। उस निर्णय का कोई ऐसा आधार न होगा जो किसी ऐसे दूसरे राष्ट्र या जनता के भौतिक स्वार्थ या लाभ से सम्बन्ध रखता हो जो स्वयं अपनी सीमा के बाहर अपना प्रभाव या प्रभुत्व स्थापित करने के लिए भिन्न प्रकार का निर्णय करना चाहता हो।” ग्रेट ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मन्त्री मि० लायड जार्ज ने इस सम्बन्ध में अपनी सरकार का विचार इस रूप में प्रकट किया था—“मुख्य सिद्धान्त यह है कि फिर से व्यवस्था करने में जनता की इच्छाओं का सबसे अधिक ध्यान रखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में जिस सिद्धान्त के अनुसार मित्र-राष्ट्र युरोप में सीमा-सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा करते हैं, उसी सिद्धान्त का गरम देशों में भी प्रयोग किया जायगा।”

भारतीय नैशनल कांग्रेस का निश्चय (१९१८)—इन सब कथनों को उत्तरदायित्वपूर्ण और ठीक मानकर भारतीय नैशनल कांग्रेस ने दिसम्बर १९१८ में दिल्ली में नीचे लिखा निश्चय स्वीकृत किया था—

“यह कांग्रेस अपना यह दावा पेश करती है कि ब्रिटिश पार्लिमेंट तथा शान्ति-महासभा यह बात मान ले कि भारत भी उन्नतिशील राष्ट्रों में से एक है जिसके लिए स्वभाग्य-निर्याय के सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिए।” उसकी यह भी माँग थी कि पर-राष्ट्रीय नीति, साम्राज्य के अन्तर्गत देशों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों और राष्ट्र-संघ के सम्बन्ध में भारत की स्थिति स्वराज्य-भोगी उपनिवेशों के समान मानी जाय। ब्रिटिश सरकार ने यह बात मानने से इनकार कर दिया; और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह प्रतिपादित किया कि पार्लिमेंट ही भारत के कल्याण के लिए उत्तरदायी है और उसी को भारत के भविष्य के सम्बन्ध में निर्याय करने का अधिकार है। यह परले सिरे का दावा केवल शक्ति या विजय के आधार पर ही किया जा सकता है; इसलिए भारतीय नैशनल कांग्रेस ने इसका विरोध किया और उसके बाधक स्वरूप का खंडन किया। यह एकांगी घोषणा है। जब कांग्रेस ने देख लिया कि राष्ट्र-संघटन-सम्बन्धी हमारे उद्देश्य सिद्ध नहीं होते, तब उसने १९२० में यह घोषणा कर दी कि हमारा उद्देश्य स्वराज्य स्थापित करना है; और अन्त में १९२७ में उसने मदरास में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का उद्देश्य निश्चित रूप से सामने रखा।

परिच्छेद ७

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(७) नागरिकों के कानूनी अधिकार और कर्तव्य

सामाजिक नियमों की आवश्यकता—जब तक कुछ बाधक नियम न हों और उनका पालन करानेवाली कोई सबसे बड़ी शक्ति न हो, तब तक लोग एक साथ रहकर जीवन-निर्वाह नहीं कर सकते। समाज का सामञ्जस्य-पूर्ण जीवन उसके सामाजिक नियमों पर ही निर्भर करता है। उन नियमों के द्वारा जो व्यवस्थाएँ, नियन्त्रण और स्वतन्त्रताएँ निर्धारित हो जाती हैं, उन्हीं के अनुसार समाज-रूरी यन्त्र चलता है। मनुष्य के लिए सामाजिक व्यवहार आवश्यक है और सामाजिक व्यवहार के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था भी आवश्यक होती है। अतः इस व्यवस्था को सम्भव करने के लिए आचरण-सम्बन्धी विशिष्ट नियम बन जाते हैं; और कुछ निश्चित सीमाओं के अन्दर तथा विशिष्ट उद्देश्यों की सिद्धि के लिए व्यक्तियों या दलों की स्वतन्त्रता रक्षित रखने के लिए वे नियम बराबर बने रहते हैं और उनका बराबर पालन होता है। सबसे पहले जो नियम गुणों में गिने जाने लगे थे, वे प्राकृतिक थे; जैसे अहिंसा या दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना; जीवन की रक्षा; अस्तेय या दूसरे की चीज़ न चुराना; सम्पत्ति की रक्षा; ब्रह्मचर्य या आचरण की शुद्धता; नैतिक जीवन की रक्षा; आदि-आदि। प्रत्येक प्रकार के सम्मिलन के लिए आचरण-सम्बन्धा ऐसे तथा और दूसरे नियम बहुत ही आवश्यक होते हैं। उनसे सामाजिक व्यवस्था और व्यवहार स्थायी तथा निश्चित होता है। मनुष्य यन्त्र के समान नहीं है। मनुष्य में वृत्तियाँ,

राग, इच्छा और तर्क सभी होते हैं जिनके कारण उसके कार्य विशिष्ट सीमाओं तक ही परिमित नहीं रहते। वह सीमाओं का उल्लंघन करता है और दूसरों के जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति या सुख पर आक्रमण करता है। वह अपने काम के लिए किसी एक ही मार्ग का अवलम्बन नहीं करता, बल्कि जब जो चाहे, वह एक या अनेक मार्ग ग्रहण करता है; और यह एक ऐसी बात है जो उसके जीवन और पशुओं के जीवन में भेद करती है। वह अपने जीवन में भिन्न-भिन्न समयों और अवस्थाओं में अपने आदर्शों या उद्देश्यों के अनुसार काम करने के लिए अलग-अलग मार्गों का अवलम्बन करता है। उसके आचरण और आकांक्षा के अनेक रूप होते हैं जिनका प्रतिबिम्ब उन सामाजिक दलों या सम्मिलनों में व्यक्त होता है जिनका वह संघटन करता है। पर वह मुख्यतः एक सामाजिक जीव है; अतः परिवार या और किसी उच्च समाज के रूप में कोई सम्मिलन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह सबसे पहले सामने आनेवाला यह तत्त्व समझ ले कि जो बात स्वयं मुझे अप्रिय अथवा प्रिय जान पड़ती है, वही बात दूसरों या मेरे पड़ोसियों को भी अप्रिय अथवा प्रिय जान पड़ेगी। सामाजिक व्यवहार के साथ एक सीमा भी लगी होती है; क्योंकि उसे एक उद्देश्य की पूर्ति करनी पड़ती है। अतः ग्रहण किये हुए जीवन के साधन, प्रणालियाँ और रूप उसी उद्देश्य की सिद्धि या अस्तित्व के विचार से नियन्त्रित होने चाहिए। समाज में मनुष्य कभी मनमाने ढङ्ग से नहीं रह सकता, बल्कि उसे आचरण-सम्बन्धी कुछ नियमों और आदर्शों के अनुसार रहना पड़ता है। केवल इसी प्रकार आचरण करने से समाज की भी सृष्टि हो सकती है और सभ्यता की भी। इस प्रकार समाज के दोहरे कर्तव्य होते हैं। एक तो यह कि वह अनेक प्रकार से मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे; और दूसरे मनुष्य के सामाजिक व्यवहार के लिए स्वयं कुछ नियम बनावे अथवा बनाये हुए नियमों को माने। इन नियमों या कानूनों का उद्देश्य यह निश्चित करना होता है कि कौन सा काम करना चाहिए और किससे बचना चाहिए। अर्थात् उसे विधि और निषेध आदि का निश्चय करना पड़ता है।

सामाजिक नियम और राज्य के कानून—कुछ नियम या कानून तो ऐसे होते हैं जो सामाजिक रूढ़ियों, आचार-व्यवहार और रीति-रस्मों आदि के रूप में होते हैं अथवा नीति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के रूप में होते हैं, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका पालन सरकार के द्वारा कराया जाता है और जो सबके लिए समान रूप से मान्य होते हैं। इन दोनों प्रकार के नियमों में जो अन्तर है, वह भूलना न चाहिए। इनके सिवा धर्म और शिक्षा-सम्बन्धी कुछ नियम और सिद्धान्त भी होते हैं; तथा व्यापार-सम्बन्धी समझौते और सार्वराष्ट्रीय नियम या समझौते भी होते हैं जो किसी देश की सरकार के द्वारा मान्य या अमान्य और पालित अथवा अपालित हो सकते हैं। पर जहाँ कहीं कोई राज्य किसी नियम की स्वीकृति, सृष्टि या प्रचलन करता है, वहाँ वह नियम सरकारी कानून या केवल कानून अथवा धर्म कहलाता है। इस प्रकार के कानूनों के अनेक उद्गम होते हैं और उनका स्वरूप तथा विस्तार राज्य की प्रकृति या स्वरूप और उसके उस कार्य-क्षेत्र पर निर्भर करता है जिसे वहाँ की जनता समझती है। सामाजिक, धार्मिक तथा कुछ और ऐसे नियम भी होते हैं जिनका पालन राज्य द्वारा नहीं कराया जाता; पर फिर भी उनके कुछ और आधार होते हैं जो सामाजिक बहिष्कार या धार्मिक भय अथवा प्रायश्चित्त आदि के रूप में होते हैं। वे इहलौकिक अथवा पारलौकिक हो सकते हैं। पर सरकारी कानूनों का एक प्रत्यक्ष आधार दण्ड आदि के रूप में होता है और वह दण्ड शारीरिक शक्ति की सहायता से राज्य द्वारा दिया जाता है। इन कानूनों का आधार नैतिक आचरण, उपयोगिता की दृष्टि से होनेवाली आवश्यकता अथवा इसी प्रकार की और अनेक बातों का विचार हो सकता है। दूसरे सामाजिक अथवा नैतिक नियमों की अपेक्षा ये इसलिए अधिक माननीय और आवश्यक कर्त्तव्य होते हैं कि वे व्यक्तिगत विश्वास या रुचि पर नहीं, बल्कि समाज के संघटित अधिकार की आज्ञा पर निर्भर होते हैं। उनका पालन ऐच्छिक नहीं होता। नैतिक या सामाजिक नियमों और कानूनी नियमों का अन्तर बतलानेवाली यही मुख्य कसौटी है। नैतिक बन्धनों की अपेक्षा कानूनी बन्धन अधिक कठोर होते हैं और उनका पालन भी अपेक्षाकृत अधिक

आवश्यक होता है। प्रत्येक क़ानून साधारणतः न्याय और शक्ति के योग से बनता है। राज्य उसका पालन केवल अपने बल के भय से ही नहीं कराता। जब तक जन-साधारण का अधिकांश उसे मान न ले और उसके सम्बन्ध में सहमत न हो, तब तक वह सबके लिए पालनीय नहीं हो सकता। जनता के लिए क़ानून एक आदत के रूप में हो जाना चाहिए और वह उन सबके द्वारा मान्य भी होना चाहिए। इसका उद्देश्य यह है कि किसी एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समाज के दूसरे सभी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाय; अथवा किसी एक व्यक्ति के स्वार्थ या इच्छा का इस प्रकार नियन्त्रण किया जाय जिसमें उस समय दूसरों के स्वार्थ या इच्छा से उसका संघर्ष न हो, जिस समय वे अपने सामाजिक या व्यक्तिगत उद्देश्यों की सिद्धि में लगे हों। प्रत्येक व्यक्ति के निजी स्वार्थ दूसरों के स्वार्थों के साथ सम्बद्ध होते हैं। अतः क़ानून किसी के काम करने की स्वतन्त्रता इसलिए परिमित करता है कि जिसमें दूसरों की स्वतन्त्रता के साथ उसका संघर्ष न हो। साथ ही वह दो या अधिक व्यक्तियों के सहयोग के लिए ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनमें वे सब प्रकार से मिलकर ऐसे सामाजिक कार्य कर सकें जो सब के लिए हितकर हों। इस प्रकार यह मनुष्य के बाह्य आचरण का सञ्चालन करना चाहता है—उसे यह बतलाना चाहता है कि कौन सा काम अच्छा है और कौन सा बुरा। इस प्रकार यह मनुष्यों के भिन्न-भिन्न सम्बन्धों का नियन्त्रण करके सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करना चाहता है। इस प्रकार यह व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा को सामाजिक इच्छा, उद्देश्य या कार्य का वशवर्ती करता है। क़ानून और नीति में यही भेद है। नीति का साधारण उद्देश्य प्रायः यही होता है कि मनुष्य स्वयं अपने विवेक के आज्ञानुसार अथवा अपने सुभीते की आवश्यकताओं के अनुसार चले। कोई ऐसा बाह्य दृश्य और संचालित अधिकार नहीं होता जो उसका नियन्त्रण कर सके या उसे दण्ड दे सके। वह अपनी नैतिक व्यवस्था या नियम-पालन का आप ही कर्त्ता होता है। क़ानून उन व्यक्तियों के लाभ के लिए बनता है जिनसे समाज बनता है; और उसका

उद्देश्य यह होता है कि वह व्यक्तियों के लिए कुछ विशिष्ट अधिकार, कर्त्तव्य या काम करने के नियम आदि निर्धारित कर दे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता का एक विशिष्ट क्षेत्र होना चाहिए और उसके अस्तित्व तथा कार्यों के लिए स्वतन्त्रता की एक निश्चित सीमा होनी चाहिए; अर्थात् समस्त समाज में उसके कुछ विशिष्ट अधिकार या कर्त्तव्य होने चाहिए।

कानूनी अधिकार—कानूनी अधिकार की व्याख्या इस प्रकार की गई है—“वह कार्य-क्षेत्र जो कानून द्वारा स्थापित सामाजिक व्यवस्था के अन्दर किसी विशिष्ट इच्छा के लिए निर्धारित हो।” समाज में न तो कभी यह सम्भव ही है और न अभीष्ट ही हो सकता है कि किसी को काम करने की असीम स्वतन्त्रता दे दी जाय। उसका विस्तार और दिशा परिमित होनी चाहिए। अधिकार साधारणतः व्यक्तियों और वस्तुओं, उनके कार्यों, रक्षा या स्वामित्व पर होता है। यह अधिकतर किसी व्यक्ति को स्वयं उसके शरीर पर रक्षा तथा स्वतन्त्रता के रूप में और उसकी सम्पत्ति पर उसकी रक्षा, उपयोग या उपभोग के रूप में दिया जाता है। यह अधिकार इसलिए दिया जाता है कि और सब लोगों के रहते हुए भी वह उसे स्थापित कर सके और उसका उपभोग कर सके। इसी प्रकार का अधिकार और सब लोगों को भी उनके व्यक्तित्व या सम्पत्ति, स्वतन्त्रता या सुख-भोग के लिए दिया जाता है। पर एक आदमी के अधिकार के साथ दूसरों के लिए यह कर्त्तव्य भी लगा रहता है कि वे उसके अधिकार पर आक्रमण न करें; क्योंकि वह अधिकार स्वयं उसी का है और सामाजिक व्यवस्था या राज्य के द्वारा मान्य हो चुका है। इस प्रकार ऐसे बहुत से अधिकार हैं जो आधुनिक समाजों द्वारा मान्य हो चुके हैं और जिनका भोग राज्य के द्वारा कराया जाता है। उसकी ओर से राज्य दूसरों से उसकी रक्षा करता है। परंतु अधिकारों और कर्त्तव्यों की यह योजना केवल व्यक्तियों के बीच ही नहीं होती बल्कि सरकार और प्रजा के बीच भी होती है। राज्य की सृष्टि इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए होती है और वह अपने सरकार रूपी यन्त्र के द्वारा अपना कर्त्तव्य करता रहता है। अब यदि यह एंजिंक्व्यूटिव या कार्यकारी अङ्ग स्वयं ही उन अधिकारों पर आक्रमण करता था

उनका भङ्ग करता हो, और व्यक्तियों अथवा उनके स्वेच्छापूर्वक बनाये हुए दलों की रक्षा न करता हो, तो स्वयं राज्य के उद्देश्य का ही खण्डन होता है। साधारणतः राज्य में रक्षा और आज्ञाकारिता दोनों अन्योन्याश्रयी होती हैं। अतः अधिकारों और कर्त्तव्यों की राज्य द्वारा मान्य योजना में केवल यही आवश्यक नहीं होता कि व्यक्तियों और दलों के बीच स्वतन्त्रता और बाधा के क्षेत्र निर्धारित कर दिये जायँ, बल्कि यह भी आवश्यक होता है कि नागरिकों और सरकार के बीच भी ये क्षेत्र निर्धारित हो जायँ। इस प्रकार का प्रत्येक नियम समाज द्वारा इस उद्देश्य से निश्चित की हुई एक सीमा है कि उसके सदस्य अपने-अपने काम करते समय एक दूसरे से लड़-भिड़ न जायँ।

हम यहाँ इस बात का विवेचन नहीं करना चाहते कि आपस में एक दूसरे के मुकाबले में व्यक्तियों के सब मिलाकर कौन-कौन से अधिकार हैं, बल्कि हम मुख्यतः उन मूल अधिकारों का विवेचन करना चाहते हैं जिनका आधार व्यक्तियों और अधिकारियों का सम्बन्ध है और जो अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताओं और सम्पत्तियों के रूप में व्यक्त होता है।

नागरिक प्रजा और परदेशी—नागरिक एक संघटित राजनीतिक समाज का सदस्य होता है। सदस्य-रूप में उसे कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं। जो लोग नागरिक नहीं होते—जैसे परदेशी, दास या प्रजा—उन्हें वे अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होते। कुछ ऐसे नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार होते हैं जो परदेशियों को नहीं प्राप्त होते। दास या गुलाम को तो कदाचित् ही वे नागरिक या राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रजा को नागरिकता के तो बहुत से अधिकार होते हैं, पर राजनीतिक अधिकार यदि होते भी हैं तो बहुत ही थोड़े होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राज्य में पूर्ण नागरिक, आंशिक नागरिक और अनागरिक लोग होते हैं। पर आजकल सारे संसार में स्वराज्य-भोगी देशों में धीरे-धीरे दास और प्रजावर्ग नष्ट होते जा रहे हैं। उनमें केवल नागरिकों और परदेशियों का ही अन्तर रह गया है। पर-देशी उसे कहते हैं जो विदेशा राष्ट्र या राज्य का नागरिक हो। इसलिये वह

उस राज्य का नागरिक नहीं हो सकता जिसमें वह आकर कुछ समय के लिए बस जाता है; क्योंकि वह उस देश का निवासी बनकर न तो नागरिकता के अधिकार प्राप्त ही करता है और न करना ही चाहता है। अर्थात् वह इस बात के लिए तैयार नहीं होता कि स्वयं अपने देश के प्रति निष्ठा का परित्याग करके उस नये देश के प्रति निष्ठा करे जिसमें वह आकर बसता है। अब केवल पराधीन देशों में ही प्रजा और दास होते हैं जिन्हें नागरिकता के पूरे अधिकार प्राप्त नहीं होते।

मुख्यतः अधिकारों का आरम्भ इस विचार से होता है कि एक ओर तो व्यक्तियों को स्वतन्त्रता तथा रक्षा प्राप्त हो और दूसरी ओर राज्याधिकार की स्वतन्त्रता तथा विस्तार हो। ये बातें व्यक्ति की रक्षा और कल्याण के रूप में होती हैं। इस रक्षा और कल्याण के लिए राज्य का अधिकार आवश्यक हो जाता है। अतः इस रक्षा और कल्याण के लिए स्वतन्त्रता और कार्य-क्षेत्र की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एक तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और दूसरे राज्य के अधिकार के विचार से अधिकारों और कर्तव्यों से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं का विवेचन और व्याख्या होती है।

नागरिकों के भिन्न-भिन्न अधिकार—रक्षात्मक—रक्षात्मक अधिकारों का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन, शारीरिक अङ्ग, परिवार, सम्पत्ति, निवास-स्थान, कीर्ति, प्रतिष्ठा, विचार, भाषण और कार्य की स्वतन्त्रता, विवेक, धार्मिक विश्वास, सहयोग और सभाएँ आदि करने कहीं आने-जाने या बसने की स्वतन्त्रता, मनमानी गिरफ्तारी और कैद से बचत, क़ानून की दृष्टि में समान व्यवहार और राजनीतिक अधिकार में अंश, टीके और व्यापार आदि की स्वतन्त्रता और मनमाने करों आदि से बचत के साथ होता है।

रक्षात्मक—आजकल इस बात पर जोर दिया जाता है कि सभ्य मनुष्य की परम आवश्यकताओं के विचार से प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व के लिए कम से कम जिन बातों का होना ज़रूरी माना गया है और सम्पत्ति, गुण, विद्या या

शक्ति प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक जितनी बातों की आवश्यकता होती है, वे सब बातें राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होनी चाहिएँ। इन्हें हम उसके कल्याणात्मक अधिकार कह सकते हैं। ये अधिकार नीचे लिखे रूपों में होते हैं—

(क) जीविका-निर्वाह के लिए किसी तरह का काम करने का अधिकार, बेकारी की दशा में राष्ट्र की ओर से आर्थिक सहायता और वृद्ध, रोगी, अङ्ग-हीन या शारीरिक दृष्टि से असमर्थ आदि होने पर बीमे का अधिकार।

(ख) कम से कम जितनी चीजों और मजदूरी से जीवन-निर्वाह हो सकता है, उतनी चीजें और उतनी मजदूरी पाने, दिन भर में कुछ निश्चित और उचित समय तक काम करने, स्वास्थ्य के विचार से अच्छे मकानों और अच्छी जगहों में रहने और स्त्रियों को प्रसव के समय तथा बच्चों को देख-रेख कराने का अधिकार।

(ग) आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार।

(घ) रहने के लिए स्वच्छ घर और स्थान पाने का अधिकार।

(ङ) देश की सम्पत्ति में हिस्सेदार होने का अधिकार।

(च) वयस्क होने पर मत देने का अधिकार।

सभी राष्ट्रों में ये सब या इसी प्रकार के दूसरे कल्याणात्मक अधिकार लोगों को आवश्यक या अनिवार्य रूप से प्राप्त नहीं होते; पर फिर भी उन्नत देशों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कुछ क़ानून आदि बनाकर यह निश्चित कर देते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम इतनी बातों की आवश्यकता होती है; और तब उनके अनुसार मजदूरों तथा दूसरे लोगों के जीवन की अवस्थाएँ उच्च तथा उन्नत करने की निश्चित रूप से व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार के क़ानून शिल्प, शिक्षा, स्वास्थ्य, नीति और सामाजिक बीमे आदि से सम्बन्ध रखते हैं। व्यक्ति के इन अधिकारों की एक ऐसी साधारण सीमा होती है जिसमें वे नैतिक आदर्शों तथा समाज के मूल संघटन के विरुद्ध न हों। यदि वे अधिकार उनके विरुद्ध होते हैं तो उसके क़ल्याणात्मक अधिकार जाते रहते हैं; और यदि वे अपनी सीमा का अतिक्रमण

करते हैं तो राज्य उसे रोकने के लिए अपने अधिकार का प्रयोग करता है । इस प्रकार राज्य को कुछ ऐसे विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा वह अपने अधिकारात्मक तथा रक्षात्मक कार्य करता रहता है ।

राज्य के ये अधिकार इस प्रकार होते हैं—

१—उसे अधिकार होता है कि वह अपने दीवानी और फौजदारी सभी प्रकार के कानून मानने के लिए लोगों को विवश करे ।

२—यह अधिकार होता है कि लोगों को कर देने और माल-सम्बन्धी सब कानूनों को मानने के लिए विवश करे ।

३—उसे अधिकार होता है कि अपने राज्य में वैध आन्दोलन तो होने दे, पर क्रान्तिकारी आन्दोलन न होने दे । जनता यह वैध आन्दोलन भी अपनी साधारण संस्थाओं द्वारा ही कर सकती है; और सरकारी कानूनों पर अपना मत प्रकट कर सकती है, और उन पर नियन्त्रण रख सकती है ।

४—यदि बाहर से किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण का भय हो अथवा देश के अन्दर क्रान्ति होने का भय हो, तो उसे यह अधिकार होता है कि प्रत्येक नागरिक से अनिवार्य रूप से सैनिक सेवा करा सके ।

५—उसे अधिकार होता है कि लोगों की निष्ठा और सेवा प्राप्त करे और किसी को सार्वजनिक शान्ति भङ्ग न करने दे ।

मुख्य अधिकारों की घोषणा—आजकल युरोप और अमेरिका की संस्थाएँ राजकीय संघटन के दूसरे सिद्धान्तों के साथ-साथ मनुष्य के मुख्य तथा आवश्यक अधिकारों की भी घोषणा कर देती हैं । राज्य वास्तव में सारी जनता का एक समाज होता है । इसके सिवा अनेक धार्मिक तथा आर्थिक सभाएँ भी होती हैं । पर राज्य के कार्य का स्वरूप ही ऐसा होता है कि नागरिकों की रक्षा करने और उस समाज की व्यवस्था और शान्ति बनाये रखने के लिए—जो दूसरे सामाजिक कार्यों का आधार और उन्नति का मूल है—व्यवस्था, सामंजस्य और नियन्त्रण करने तथा लोगों को वश में रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति से उसे काम पड़ता है । पर राज्य प्रायः अपना राजनीतिक कार्य करते समय सामाजिक जीवन के दूसरे अङ्गों तथा क्षेत्रों—यथा धार्मिक,

नैतिक, आर्थिक या व्यक्तिगत आदि—में भी अनधिकार प्रवेश करता है और सामाजिक दृष्टि से मान्य अपने राजनीतिक अधिकार का प्रयोग दूसरे वर्गों या जीवन के अराजनीतिक अङ्गों की स्वतन्त्रता भङ्ग या नष्ट करने में भी करता है। जिस उद्देश्य से राज्य की सृष्टि और संघटन हुआ है, उस उद्देश्य की सीमा का भी वह अतिक्रमण करता है। व्यक्तियों की रक्षा करने के बदले में वह साधारण नागरिकों पर अत्याचार भी करता है और उनकी राजनीतिक, नागरिक, सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता का भी हरण करता है। ऐसी दशा में वह वही रूप धारण करता है जिसे अरस्तू ने “विकृत रूप” कहा है। प्राचीन काल में राज्य ने अपने वास्तविक कार्य को दूसरे कार्यों के साथ अनुचित रूप से केवल मिलाया ही नहीं है, बल्कि स्वयं अपने स्वार्थ के लिए अपने उद्देश्यों को भी विकृत कर लिया है। आजकल प्रत्येक राज्य ने अपने वास्तविक और मूल कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण किया है; और या तो दूसरे कार्यों को अपने हाथ में ले लिया है और या उन कार्यों के सञ्चालन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, जो दूसरे दलों के हाथ में हैं। अतः मनुष्य और उसके समाज, उसके अराजनीतिक जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की हित-कामना से किसी देश के राजनीतिक संघटन में ऐसे मुख्य तथा आवश्यक अधिकारों की योजना भी घोषित कर दी जाती है जिसका राज्य द्वारा कभी अतिक्रमण नहीं हो सकता। यह एक प्रकार का ऐसा लिखित धर्म होता है जो कभी भङ्ग नहीं किया जा सकता। वह मनुष्य के सामाजिक जीवन का मूल आधार होता है। वह उन आवश्यकताओं को मान्य करता है जिनसे मनुष्य सामाजिक बनता है और उसे निश्चित रूप से ऐसी स्वतन्त्रताएँ तथा अधिकार देता है जो जीवन के लिए नितान्त आवश्यक होते हैं।

कुछ मूल सिद्धान्त—कुछ ऐसे मूल सिद्धान्त भी हैं जिनके किसी कानून या सरकार द्वारा मान्य होने पर ही सभ्य राष्ट्रों का अस्तित्व निर्भर करता है। चाहे वे किसी रूप में मान्य किये जायँ, पर वे लोकतन्त्र के ही सिद्धान्त हैं। पहला सिद्धान्त तो यह है कि राजनीतिक शक्ति अर्थात्

क़ानून और सरकार की सृष्टि जनता से ही होती है; उसके सब रूप तथा संस्थाएँ एक संघटन में सज्जित होती हैं, जिसे या तो वे मान्य करते हैं और या जिसकी सृष्टि ही वे स्वयं करते हैं; और कार्यकारी मण्डल या एक्ज़िक्यूटिव सदा क़ानून बनानेवाली सभाओं के प्रति उत्तरदायी होता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि सदा सबका क़ानून द्वारा ही शासन होता है और कार्यकारी वर्ग या एक्ज़िक्यूटिव न तो अपने लिए कोई मनमाना और क़ानून या न्याय से अधिक अधिकार माँग ही सकता है और न उसकी सृष्टि ही कर सकता है। तीसरा सिद्धान्त यह है कि क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिक समान हैं। सार्वजनिक विषयों में किसी को केवल जाति, धर्म, जन्म या सम्पत्ति के विचार से ही कभी कोई विशेष सुभीता या अधिकार नहीं मिल सकता। चौथा सिद्धान्त यह है कि राज्य जनता के लिए है, न कि जनता राज्य के लिए। जनता के हितों और वल्याण को छोड़कर राज्य का उससे बढ़ा और कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं हो सकता। वह एक उद्देश्य सिद्ध करने का साधन-मात्र है, फिर चाहे वह साधन कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो। और अन्तिम तथा पाँचवाँ सिद्धान्त यह है कि जिन लोगों के हाथ में राज्य का अधिकार होता है, उन पर साधारण क़ानून की सब बातों का ठीक उसी प्रकार प्रयोग तथा व्यवहार हो सकता है, जिस प्रकार स्वयं साधारण नागरिकों पर होता है। अधिकारियों को न तो कोई खास सुभीता होता है और न वे किसी क़ानून से किसी दशा में बच ही सकते हैं। वे जिस समय अपने पद पर या अधिकारारूढ़ हों, उस समय भी अपने सब कार्यों के जिम्मेदार होते हैं।

इन सब सिद्धान्तों की घोषणा से जनता को अपने अधिकार और स्थिति का ज्ञान हो जाता है। अब हम इस बात का विचार करेंगे कि भारत में ये सब सिद्धान्त कहाँ तक प्रचलित हैं और कहाँ तक माने जाते हैं। पर साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक अधिकार के साथ एक कर्तव्य या बन्धन भी लगा होता है; और वह यह है कि उससे दूसरों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, नीति या सार्वजनिक व्यवस्था-सम्बन्धी मान्य

तत्त्वों का भङ्ग न हो और उसका रूप ऐसा हो कि जिससे कोई अच्छा काम सध सके या कोई अच्छा उद्देश्य सिद्ध हो सके।

भारत में नागरिक अधिकारों का उल्लंघन—नागरिकों के नागरिकता-सम्बन्धी बहुत से अधिकारों का वर्णन यहाँ के दीवानी और फौजदारी कानूनों में दिया हुआ है। भारत में कार्यकारी या एक्ज़िक्यूटिव सरकार ने कुछ ऐसे बन्धन खड़े कर दिये हैं या उन कानूनों के अन्दर अथवा बाहर कानूनी अधिकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त कर लिये हैं जो किसी निश्चित सिद्धान्त या विधि आदि के रूप में नहीं हैं, बल्कि जिनका रूप जातीय और मनमाना है। वे व्यक्ति की सम्पत्ति या स्वतन्त्रता आदि के सम्बन्ध में नागरिकों के कुछ मूल और आवश्यक अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। सरकार नये और पुराने आर्डिनेंसों और रेगुलेशनों का प्रयोग करती है; और यह काम साधारण समयों में भी होता है और असाधारण समयों में भी जब कि उनके द्वारा सरकार को विशिष्ट अधिकार प्राप्त होते हैं। सरकार सर्व-साधारण की और उसके प्रति उत्तरदायी नहीं है और उसकी कानून बनाने की प्रणालियाँ मनमानी और जनता द्वारा अमान्य हैं, इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अच्छी तरह रक्षा नहीं होती। बिना कोई उचित कारण बतलाये ही कोई व्यक्ति गिरफ्तार कर लिया जा सकता है और बिना उचित रूप से न्यायालय में मुकदमा चलाये हुए कहीं रोक रखा या कैद किया जा सकता है। समस्त भारत के लिए कोई हेबियस कार्पस (Habeas-Corpus) या ऐसा कानून नहीं है जिसके द्वारा इस प्रकार गिरफ्तार या कैद किया हुआ आदमी न्यायालय के सामने विचारार्थ बुलवाया जा सके। सरकार ही मुकदमा चलाती है और वही उसका फ़ैसला भी करती है। सन् १८१८ के रेगुलेशनों, बङ्गाल के तीसरे रेगुलेशन, कानून और आर्डिनेंस बनाने के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल के असाधारण अधिकारों, गवर्नमेंट आफ् इंडिया ऐक्ट की ६७, ७१, ७२, १११ और १२६ धाराओं को देखिए। स्वयं ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्दर भी भारतवासियों को सब जगह आने-जाने आदि का अधिकार प्राप्त नहीं है; और कभी-कभी तो स्वयं भारत में ही सिर्फ एक

एक्जिक्यूटिव की आज्ञा से ही उसका कहीं आना-जाना रोका जा सकता है। उसके साम्राज्य में विचरण करने में तो जातीय, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों के कारण बाधा पड़ती है और भारत में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने में केवल राजनीतिक प्रश्न के कारण।

विवेक और आराधना की स्वतन्त्रता—विवेक और आराधना की साधारणतः सबको स्वतन्त्रता है। धर्म-परिवर्तन में पहले जो कठिनाइयाँ आदि थीं, वे १८५६ वाले कानून से दूर हो गई हैं। पर मिशनरी स्कूलों में अब भी उन विद्यार्थियों को, जो ईसाई नहीं हैं, उन दरजों में अवश्य ही हाज़िर होना पड़ता है जिनमें ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती है; और इस प्रकार एक अप्रत्यक्ष दबाव का अनुभव किया जाता है। विवेक-सम्बन्धी कोई ऐसा विधान नहीं है जिससे ये विद्यार्थी इन दरजों में जाने से बच सकें। इन स्कूलों को सरकार से बहुत कुछ आर्थिक सहायता मिलती है।

सरकारी नौकरियों में जातीय पक्षपात—यद्यपि १८३३ वाले चार्टर ऐक्ट में यह बात मान ली गई थी कि किसी व्यक्ति को सरकारी नौकरी देते समय इस बात का कोई विचार न किया जायगा कि वह किस जाति, वंश या वर्ण का है अथवा उसका जन्म कहीं हुआ है, तो भी इसका पूरा-पूरा पालन नहीं किया गया है। ऊँचे-ऊँचे पदों पर प्रायः युरोपियन ही रखे जाते हैं और इस काम में उनके साथ बहुत रिश्तायत की जाती है। वास्तव में केवल योग्यता देखी जानी चाहिए और उन पदों पर भारतवासियों का ही अधिकार माना जाना चाहिए। पर फिर भी नौकरियाँ देते समय सरकार जातीय पक्षपात करती है और यह ध्यान रखती है कि किस धर्म के लोगों को कितने प्रति शत स्थान मिले हैं और उनका अनुपात क्या है।

सार्वजनिक सभा करने का अधिकार—क्रिमिनल प्रोसिड्योर कोड या ज़ाबता फौजदारी (धाराएँ १२७-१३२) में भारत में सार्वजनिक सभाएँ करने के सम्बन्ध में कई बाधक नियम रखे गये हैं। इसके सिवा १९११ वाला सेडिशंस मीटिंग्स ऐक्ट (राजद्रोही सभाओं का कानून)

भी है। एक्जिक्यूटिव शक्ति के हाथ में यह अधिकार है कि वह बिना किसी न्यायालय की बाधा के इन नियमों का उपयोग करके यह घोषणा कर सके कि अमुक सार्वजनिक सभा गैर-कानूनी है; अथवा किसी क्षेत्र में छः महीने तक कोई सभा न करने की मनाही कर दे। ऐसी आज्ञा के लिए वह कोई कारण भी नहीं बतला सकती; और न किसी न्यायालय को यही अधिकार है कि वह इस बात की जाँच कर सके कि यह आज्ञा ठीक है या नहीं।

सम्मेलन का अधिकार—इसी प्रकार क्रिमिनल ला अमेंडमेंट ऐक्ट (१६०८) के दूसरे भाग के अनुसार एक्जिक्यूटिव को यह घोषणा करने का अधिकार है कि अमुक सम्मेलन या संस्था गैर-कानूनी है। इस घोषणा के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इस सम्बन्ध में दण्ड देना भी एक्जिक्यूटिव के ही हाथ में है।

क्रिमिनल प्रोसिड्योर कोड या ज़ाबता फौजदारी की १४४ वीं धारा के अनुसार एक्जिक्यूटिव को इस बात का पूरा-पूरा अधिकार है कि वह कोई ऐसा काम रोक सकता है जो उसकी समझ में सार्वजनिक शान्ति भङ्ग करनेवाला हो।

बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाना—एक्जिक्यूटिव के हाथ में ये और इसी प्रकार के जो दूसरे अधिकार हैं, उनके सम्बन्ध में यही माना जाता है कि उनका प्रयोग भारत की रक्षा, शान्ति और हितों के विचार से ही किया जाता है। उनका उपयोग बिना लेजिस्लेचर की सम्मति के ही कर आदि लगाने में किया जाता है। ज़मीन का लगान केवल एक्जिक्यूटिव ही निश्चित करता है, वही उसे घटाता-बढ़ाता और वही एकत्र करता है। दीवाना अदालतें इस बात का विचार नहीं कर सकती कि इस सम्बन्ध का उनका कोई काम न्यायतः ठीक है या नहीं।

दण्ड-स्वरूप अतिरिक्त पुलिस—एक्जिक्यूटिव को यह भी अधिकार है कि वह जहाँ चाहे, वहाँ दण्ड-स्वरूप अतिरिक्त पुलिस नियुक्त कर दे। इससे जेकसूर भी पिसते हैं। यह काम बहुत ही बर्बरता का है। किसी अन्याय-

पूर्ण आज्ञा के विरुद्ध किसी कानूनी अदालत में कोई चाराजोई नहीं की जा सकती ।

एक्जिक्यूटिव के हस्तक्षेप—शिक्षा और जङ्गलात आदि के विभागों में शासन-सम्बन्धी ऐसे बहुत से नियम बने हुए हैं जो जनता की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं और जिनमें अदालतें हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं । वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय महासभा और जनता बहुत दिनों से यह कहती चली आ रही है कि न्याय और एक्जिक्यूटिव या कार्यकारी विभाग के सब काम अलग-अलग कर दिये जायँ और स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के विषय में एक्जिक्यूटिव पर न्याय-विभाग का नियन्त्रण हो । पर सरकार ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । यहाँ तक कि इन परम महत्त्वपूर्ण संघटनात्मक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में नये सुधारों में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया ।

लेखन तथा भाषण की स्वतन्त्रता—भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता में हतक-दुज्जत या मानहानि के कानूनों, जाबता फौजदारी (धारा ४६६ और ५०२), राजद्रोह (धारा १२४) और प्रेस ऐक्ट बहुत बाधक होते हैं । स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि किसी को उसका दुरुपयोग करने का अधिकार मिल जाय; पर फिर भी उसके लिए जो बाधा रखी जाय, वह युक्ति-सङ्गत होनी चाहिए । उच्च नैतिक विचारों के प्रचार के बहाने से धार्मिक कृत्यों और विवेक की स्वतन्त्रता भी रोकी जाती है । दुराचारपूर्ण और अश्लील कार्य नहीं करने दिये जाते और अन्य धर्मों की निन्दा करने की भी मनाही है । (ताजीरात हिन्द धारा २६८)

सम्मिलन की स्वतन्त्रता—साधारणतः राज्य को स्थायी तथा दृढ़ बनाये रखने के विचार से लोगों को सभा या संस्था आदि स्थापित करने की स्वतन्त्रता भी नहीं दी जाती । इसके लिए राजद्रोह के कानून या सरकार के विरुद्ध किये जानेवाले अपराधों के कानून ताजीरात हिन्द धारा १२१, १३० तथा सार्वजनिक शान्ति के विरुद्ध किये जानेवाले अपराधों के कानून ताजीरात हिन्द (धाराएँ १४१, १६०) का प्रयोग किया जाता है । अन्य

उन्नत देशों में इस सम्बन्ध में जो विधान हैं, उनकी अपेक्षा भारत में ये विधान बहुत कठोर हैं; और इसका कारण यही है कि शासकों और शासितों में परस्पर सन्देह और अविश्वास का भाव है।

व्यक्तिगत रक्षा का अधिकार—भारत में ताजीरात हिन्द (धाराएँ १६-१०६) के अनुसार लोगों को अपनी व्यक्तिगत रक्षा करने का तो अधिकार है, पर उस अधिकार का प्रयोग अच्छी नीयत से गैर-कानूनी आक्रमणों को रोकने के लिए किया जाना चाहिए। यह विधान व्यक्ति के सम्बन्ध में भी है और सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी। इसका उपयोग साधारण और गैर-सरकारी आदमियों के विरुद्ध केवल वन्हीं दशाओं में किया जा सकता है, जब तत्काल ही इस बात का अवसर न मिल सकता हो कि सार्वजनिक अधिकारियों के पास पहुँचकर उसका प्रतिकार कराया जा सके। इस प्रकार यह वस्तुतः ऐसे समय में भय की आशङ्का पर निर्भर करता है, जब उसकी बहुत कुछ और उचित रूप से सम्भावना जान पड़े।

अ-प्रतिकार का सिद्धान्त—पर सार्वजनिक अधिकारियों के विरुद्ध किसी को अपनी रक्षा या विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है। राज्य यह कहता है कि हमारी कानूनी आज्ञाओं का पूरा-पूरा पालन किया जाय और कोई इस बात का विचार न करे कि जिस कानून के अनुसार ये आज्ञाएँ प्रचलित की गई हैं, उनमें क्या तत्त्व है। राज्य यह नहीं मानता कि जिस समय हमारे आदमी किसी पर आक्रमण करें, उस समय भी किसी को आत्म-रक्षा के लिए उसका विरोध करने का अधिकार है। जिन देशों में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली हो और जहाँ सरकारी नीति का सञ्चालन करने और कानून बनाने में लोकमत का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ता हो, उन देशों में यदि यह सिद्धान्त प्रचलित हो कि किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को सरकारी आदमियों का विरोध या प्रतिकार नहीं करना चाहिए, तो वहाँ यह सिद्धान्त इस-लिए टिक सकता है कि वहाँ की जनता ही वह कानून बनाती है। पर ऐसे देशों में भी बराबर यह प्रश्न उठा करता है कि प्रजा में के कुछ लोग अल्प-

संख्यक हैं और उन पर अत्याचार होता है; और जिन लोगों के हाथ में शक्ति है, वे उसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं करते, इत्यादि। धार्मिक या सांस्कृतिक दृष्टि से जो लोग अल्प-संख्यक होते हैं, बहुसंख्यक शासन में उन लोगों के पीड़ित होने की सम्भावना रहती है; और इसी लिए आधुनिक राष्ट्र-संघटनों में कुछ विशिष्ट आवश्यक अधिकारों के रूप में अल्प-संख्यकों की रक्षा के लिए कुछ विधान होते हैं और उनके अधिकार राज्य द्वारा निश्चित हो जाते हैं। जिन देशों में रोमन कैथोलिकों, प्रोटेस्टेंटों, यहूदियों, मुसलमानों और अपर भाषा-भाषी दलों की संख्या कम है, उन देशों में इन लोगों ने अपने दलों के विशिष्ट स्वरूपों आदि की रक्षा के लिए और अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन किये हैं और कानून द्वारा कानूनी रक्षा प्राप्त की है।

साम्यवादियों का क्रान्ति और प्रत्यक्ष आक्रमणवाला

सिद्धान्त—पर इसके सिवा साम्यवादियों द्वारा खड़ा किया हुआ एक और प्रकार का विरोध है। आजकल शासन की जो पार्लिमेंटों प्रणाली प्रचलित है, उस पर साम्यवादियों का विश्वास नहीं है। वे लोग इसे पूँजीदारों का राज्य कहते हैं। वे कहते हैं कि इसका रूप विधि-विहित नहीं है, क्योंकि इसमें यही सिद्धान्त मुख्य है कि धनवानों और बड़े लोगों को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हों और इस प्रणाली का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता है। अतः साम्यवादियों के कुछ विशिष्ट दल, जो सिंडिकलिस्ट और कम्युनिस्ट कहलाते हैं, कहते हैं कि जब तक इसका पूँजीदारीवाला रूप न बदले, तब तक क्रान्ति का प्रयत्न करना चाहिए; वर्तमान राज्य-प्रणाली पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करना चाहिए और उसका हिंसात्मक विरोध करना चाहिए। वे कहते हैं कि यह तो धनवान् लोग समान की सम्पत्ति, शक्ति, उपजों और साधनों पर अनुचित रूप से अधिकार कर रहे हैं। उनका मूल सिद्धान्त ही यह है कि राज्य का विरोध किया जाय, क्योंकि वे लोग समाज तथा सामाजिक संघटन के उच्च सिद्धान्त स्थापित करना चाहते हैं। उनका यह विरोध ठीक उसी तरह का है जिस तरह का विरोध प्राचीन काल में युरोप

में प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों और चर्चों ने राज्य का प्रभुत्व घटाने के लिए किया था और जीवन के उच्च सिद्धान्तों की स्थापना के लिए वस्तुतः विद्रोह खड़ा कर दिया था। इसके अतिरिक्त कुछ शान्तिवादी भी हैं जो युद्ध का विरोध करते हैं। राज्यों में प्रजा को जबरदस्ती सेना में भरती करने के सम्बन्ध में जो कानून होते हैं, उन्हें ये लोग नहीं मानते और उनका विरोध करते हैं।

विरोध का सिद्धान्त—पर जिन देशों में आन्तरिक अत्याचार या विदेशी शासन होता है और सरकार उत्तरदायित्व-रहित तथा स्वेच्छाचारपूर्ण होती है, जहाँ नागरिकों के दूसरे वर्गों के मुकाबले में किसी एक वर्ग के साथ पक्षपात किया जाता है और उसे कुछ विशिष्ट अधिकार दिये जाते हैं, वहाँ विरोध के सिद्धान्त का बहुत बड़ा नैतिक आधार हुआ करता है। अब यह निश्चय करना नीति-शास्त्र और राजनीति के पण्डितों का काम हुआ करता है कि यह विरोध सक्रिय हो या निष्क्रिय। यदि वह सक्रिय हो तो हिंसा या अहिंसा के कुछ सिद्धान्तों पर अवलम्बित होगा; और यदि निष्क्रिय हो तो परिस्थिति की कुछ आवश्यकताओं पर निर्भर होगा। पर विरोध का प्रतिपादन अवश्य होगा। भारत में इन दोनों ही विचारों के समर्थक पाये जाते हैं। यहाँ महात्मा गान्धी भी हैं और क्रान्तिकारी भी हैं, जिनकी कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों के अनुसार अपनी अलग-अलग कार्य-प्रणालियाँ हैं। यहाँ नरम दलवाले भी हैं और राष्ट्रवादी या स्वराज्यवादी भी हैं, जिन्होंने उप-योगिता अथवा परिस्थितियों के विचार से अपनी नीतियों का विकास किया है। महात्मा गान्धी ने दक्षिण अफ्रिका में जो निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन चलाया था और भारत में सविनय आज्ञा-भङ्ग का जो आन्दोलन खड़ा किया है, उसका आधार कई उच्च दृष्टि-कोण हैं। वे चाहते हैं कि सब मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त हों और जनता को अपना शासन आप करने का अधिकार मिले। भारत में राज्य ने इनमें से एक माँग भी मान्य नहीं की है, पर वह लोगों को इस बात के लिए बाध्य करता है कि लोग उसके सभी कानूनों का पालन करें, चाहे वे उन्हें स्वीकृत और मान्य हों और चाहे न

हों। वह अपने विदेशी स्वरूप और उसकी श्रेष्ठता के विचार में ही मग्न रहता है और यह प्रतिपादित करता है कि हमें स्वयं अपनी ही इच्छाओं के अनुसार भारत पर शासन करने का अधिकार प्राप्त है। भारत में राज-नीतिक अवस्थाएँ असाधारण हैं। पर साधारणतः और राज्यों को जो यह अधिकार प्राप्त होता है कि वे लोगों से अपने कानूनों का पालन करावें, उसका आधार सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकताएँ होती हैं। आज्ञा-भङ्ग या विरोध से सार्वजनिक व्यवस्था भङ्ग हो जाती है और आज्ञापालन की वह आदत जाती रहती है जिस पर समाज का ठीक-ठीक निर्वाह और कल्याण निर्भर करता है।

आज्ञापालन की आदत—साधारणतः लोगों में यह आदत सी होनी चाहिए कि वे देश के कानूनों का ठीक तरह से पालन करें। पर कानून सदा वैध आन्दोलन करके और जनता को शिक्षित बनाकर बदले जाने चाहिए। राज्य के लिए क्रान्ति या विरोध चरम औषध है जिसका प्रयोग सबके अन्त में होना चाहिए। ये बातें उसके नित्य के व्यवहार में नहीं आनी चाहिए। जिस राज्य में लोगों को आज्ञा-भङ्ग या विरोध करने की आदत सी पड़ जायगी, उसमें अव्यवस्था और दोषों की मात्रा बहुत बढ़ जायगी। अतः सामाजिक उन्नति तथा व्यवस्था, उच्च और अन्तिम हितों के विचार से क्रान्ति या विरोध का केवल उन्हीं अन्तिम अवस्थाओं में आश्रय लेना चाहिए जब और सभी उपाय काम में लाये जा चुके हों और कोई शान्तिपूर्ण उपाय न बचे रहा हो। विरोध कभी कानून के अनुसार तो ठीक हो ही नहीं सकता; हाँ, केवल नीति-शास्त्र के विचार से वह ठीक होता है। विरोधियों के लिए केवल राज्य ही सारा समाज नहीं होता और न कानून ही सारी नीतिमत्ता का निचोड़ होता है। ये उनके केवल अङ्ग हैं और बहुत सी अवस्थाओं में इस बात की सम्भावना होती है कि ये समाज के हितों और उच्च नीतिमत्ता के विरुद्ध पड़ें। यहाँ आकर राजशक्तियों में परस्पर विरोध उत्पन्न होता है; और विरोध की विशिष्ट परिस्थितियों का विचार छोड़कर किसी एक प्रकार के सिद्धान्तों के पक्ष में निर्णय करना बहुत ही कठिन है।

मताधिकार—इस समय भारत में बहुत ही थोड़े लोगों को वोट या मत देने का अधिकार प्राप्त है। सारे देश में प्रायः पचास से साठ लाख तक मत देनेवाले लोग हैं। १९२० तक केन्द्रीय तथा प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउंसिलों के चुनाव में किसी को प्रत्यक्ष रूप से मत देने का अधिकार नहीं था। १९१६ वाले रिकार्म ऐक्ट में ही यह व्यवस्था की गई थी कि इन सब काउंसिलों के सदस्यों का प्रत्यक्ष रूप से चुनाव हुआ करे। सभी प्रान्तों में केवल कुछ ऐसे लोगों को मत देने का अधिकार है जो कुछ निश्चित रकम कर रूप में देते हैं। नगरों के लोग भी और देहातों के लोग भी मत देते हैं। यह बात नहीं है कि देश के प्रत्येक वयस्क निवासी को मत देने का अधिकार हो। पर साइमन कमीशन की जाँच के समय उसके सामने लोगों ने अपनी गवाहियों में इस बात पर बहुत जोर दिया था कि सभी वयस्क पुरुषों को मत देने का अधिकार हो। भारत के ज़िम्मेदार दलों और उनके प्रतिनिधियों ने भी यही माँग पेश की है। इस समय मुख्यतः मुसलमानों को अपना अलग निर्वाचन करने का अधिकार प्राप्त है। उनमें से बहुत से मुसलमान इस बात के लिए इस शर्त पर पृथक् निर्वाचन छोड़कर सम्मिलित निर्वाचन ग्रहण करने के लिए तैयार हैं कि समस्त वयस्क पुरुषों को मत देने का अधिकार हो और हमारे अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कुछ विशेष व्यवस्था हो। वे चाहते हैं कि उमर की एक सीमा निश्चित कर दी जाय और उस उमर से अधिक के सभी पुरुषों और स्त्रियों को मत देने का अधिकार हो। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि भारत के प्रत्येक अल्प-संख्यक समाज का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व होगा। न तो किसी समाज को उसके सदस्यों की संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए और न विशेष रूप से उनके सदस्यों के अनुपात से अधिक संख्या निश्चित होनी चाहिए। प्रतिनिधित्व केवल जन-संख्या के आधार पर होना चाहिए।

प्रान्तों का पुनर्विभाग और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता—भारत के अल्प-संख्यक समाज कुछ और भी अधिकार तथा नवीन व्यवस्थाएँ चाहते

हैं; और उनमें से एक माँग यह है कि हमें सांस्कृतिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और बोली जाननेवाली भाषाओं के विचार से प्रान्तों का फिर से विभाग होना चाहिए। १९०५ के वङ्ग-विच्छेद के समय से ही साधारणतः यह माँग पेश की जा रही है कि प्रान्तों का फिर से विभाग हो। जिस प्रकार बङ्गाल यह नहीं चाहता था कि हमारी सांस्कृतिक एकता भङ्ग की जाय, उसी प्रकार बिहार और उड़ीसा भी अपना-अपना अलग प्रान्त स्थापित करना चाहते थे। भारतीय जीवन में यह सांस्कृतिक विभेद एक बहुत बड़ी बात है और यह भारत के दस या बारह प्रान्तों में की भाषाओं, साहित्यों, जीवन-प्रणाली और इतिहास के रूप में प्रकट होती है। इसी विचार से प्रेरित होकर उड़ीसा, कर्नाटक, आन्ध्र, महाराष्ट्र, सिन्ध तथा दूसरे प्रदेश भी यह चाहते हैं कि हमारे जो भाग दूसरे प्रान्तों में मिला दिये गये हैं, वे फिर से एक कर दिये जायँ और शासन-कार्य के लिए केवल भाषा के विचार से फिर से प्रान्तों का संघटन हो। सिन्ध को अलग करने का आग्रह अधिकतर मुसलमान करते हैं; अतः इस पर साम्प्रदायिक रङ्ग चढ़ा है; परन्तु पता लगाने पर अन्त में यही सिद्ध होता है कि सब लोग सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं और अपनी-अपनी संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं। गुप्त रूप से या ज़बरदस्ती दूसरे लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनसे होने-वाली हानि को छोड़कर वास्तव में किसी आदमी का धर्म ख़तरे में नहीं है; पर इन दोनों ही बातों की राज्य की ओर से मनाही है। भारत के प्रमुख व्यक्तियों ने निम्न-लिखित सिद्धान्तों पर प्रान्तों के पुनर्विभाग की आवश्यकता स्वीकृत की है। इस सम्बन्ध में मुख्य तर्क ये उपस्थित किये जाते हैं कि लोगों की इच्छाएँ पूरी की जानी चाहिएँ और भाषा के विचार से अलग-अलग क्षेत्र नियत होने चाहिएँ। इस समस्या का निराकरण करने के लिए भौगोलिक तथा आर्थिक आदि बातों का भी विचार करना चाहिए जिसमें सब प्रान्त अपना सारा शासन-व्यय आप ही चला सकें। वर्तमान विभाग किसी सिद्धान्त पर नहीं हुआ है, बल्कि विजय-सम्बन्धी ऐतिहासिक घटनाओं के विचार से हुआ है; और सुभीते के लिए आस-पास के स्थान भी प्रान्तों में

मिला लिये गये हैं। पर शासन के विचार से भी यह विभाग सफल नहीं हुआ है और न इससे ठीक तरह से काम ही चलता है। यदि भाषाओं के विचार से प्रान्तों का फिर से विभाग किया जाय, तो वास्तव में प्रजातन्त्रीय ढङ्ग से और ठीक-ठीक काम होने लगेगा; क्योंकि उस दशा में सर्व-साधारण से सम्बन्ध रखनेवाली सभी कार्यवाहियाँ और उच्च शिक्षा तथा संस्कृति के सब काम लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषाओं में ही होंगे तथा एक ही तरह के समाज की इच्छाओं के अनुसार होंगे। नहीं तो इस दृष्टि से वास्तविक प्रजातन्त्र नहीं होगा कि जनता के वास्तविक और असली भाव व्यक्त न हो सकेंगे; क्योंकि बहुत से लोग अपने प्रान्त के राजनीतिक कार्यों में सम्मिलित न हो सकेंगे। प्रायः आठ वर्ष पहले भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने इसकी आवश्यकता समझ ली थी और कांग्रेस के कार्यों के लिए प्रान्तों का विभाग बोली जानेवाली भाषाओं के विचार से ही हुआ था। ये प्रान्त भी छोटे नहीं हैं। इनमें एक से लेकर पाँच छः करोड़ तक आदमी बसते हैं। इन पर एक नई भाषा लादना अत्याचार करना होगा। ऐसी दशा में वास्तविक प्रजातन्त्र कभी हो ही नहीं सकता। इस समय प्रायः प्रान्तों में अनेक प्रकार की संस्कृतियों के लोग बसते हैं; और इस प्रणाली के लिए जनता उत्तरदायी नहीं है। यदि एक ही प्रान्त में कई भाषाएँ बोली जाती हैं, तो इसका कारण यही है कि प्रान्तों का विभाग ठीक तरह से नहीं हुआ है।

समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता और उसका महत्त्व—आधुनिक राज्यों में समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता एक बहुत महत्त्व की बात है। उनके द्वारा अपने तथा दूसरे देशों की सार्वजनिक बातों का लोगों को बहुत कुछ ज्ञान होता है और उनको पता चलता है कि नागरिकों तथा व्यक्तियों के क्या अधिकार और कर्तव्य हैं; और इस प्रकार समाचार-पत्रों के द्वारा प्रजातन्त्रीय संस्थाओं का कार्य-निर्वाह बहुत अच्छी तरह से होता है। यह ठीक है कि अन्यान्य मानव संस्थाओं के समान इस संस्था का भी दुरुपयोग हो सकता है। पर फिर भी इसके विपक्ष की अपेक्षा पक्ष में ही बहुत सी बातें मिलती हैं। समाचार-पत्रों के द्वारा लोगों में राष्ट्रीयता का ज्ञान और देश-भक्ति का भाव

व्यपन्न होता और बना रहता है; उनकी सहानुभूतियों और दृष्टि-कोण का विस्तार होता है और संसार के दूसरे देशों के साथ उनका परिचय बढ़ता है। भारत में समाचारपत्रों का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि यहाँ जनता की ऐसी लोकतन्त्रीय संस्थाएँ नहीं हैं जो वास्तव में सरकारी नीति और कार्यों का नियन्त्रण कर सकें। अतः समाचारपत्रों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उनकी आलोचना करें और उनके सम्बन्ध में जनता के विचारों और कामनाओं का विस्तार करें। सर्व-साधारण की शिक्षा और मार्ग-प्रदर्शन के विचार से भी समाचारपत्रों की बहुत बड़ी आवश्यकता है। भारत में समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता पर जितना ही अधिक जोर दिया जाय, उतना ही उपयुक्त है। पर इधर बहुत काल तक भारत में समाचारपत्रों की स्थिति तथा शक्ति बहुत ही परिमित थी; पर १९२३ में १९१० वाला प्रेस ऐक्ट रद्द हो गया। उससे पहले समाचारपत्रों को कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं थी। सरकार यहाँ के समाचारपत्रों को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखती थी और उन पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण रखती थी। भारत में समाचारपत्रों ने बहुत कुछ राष्ट्रीय जाग्रति व्यपन्न की है और जनता में राष्ट्रीय भावों का प्रचार किया है। वास्तव में उनकी वृद्धि केवल इसी लिए नहीं हो सकी है कि भारतवासियों की बहुत बड़ी संख्या अशिक्षित है।

प्रेस ऐक्टों का इतिहास—भारत में समाचारपत्रों से सम्बन्ध रखने-वाले कानूनों का इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यहाँ मुख्यतः एंग्लो-इंडियन समाचारपत्र ही निकला करते थे जो गैर-सरकारी अँगरेज़ी समाज का मार्ग-प्रदर्शन करते और उनके हितों का ध्यान रखते थे; इसलिए प्रेस-सम्बन्धी कानून पहले-पहल उन्हीं के विरुद्ध बनाये गये थे। उन समाचारपत्रों का भारत-वासियों या उनके हितों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। उस समय वे समाचारपत्र सरकारी नीति और कार्यों की कठोर आलोचना किया करते थे। पर आजकल उनका रुख बदल गया है। १७६६ में लार्ड वेलेस्ली ने समाचार-पत्रों का नियन्त्रण करने के लिए कुछ रेगुलेशन बनाये थे। यह विरचय

हुआ था कि प्रत्येक समाचारपत्र प्रकाशित होने से पहले सरकारी आदमियों द्वारा जाँचा जाया करे। उन्हें मनाही कर दी गई थी कि भारत-वासियों को 'डरानेवाली बातें' न लिखा करें। बहुत से सम्पादकों ने इस प्रकार की आज्ञाएँ मानने से इनकार कर दिया था और इसलिए वे निर्वासित कर दिये गये थे। सर थामस मनरो ने १८२२ में एक स्मृतिपत्र में यह बतलाया था कि भारत में समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता देने में क्या-क्या खुराबियाँ हो सकती हैं। ब्रिटिश शासन के लिए समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता बहुत भयानक समझी जाती थी।

समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता और विदेशी शासन पर मनरो का मत—मनरो ने कहा था कि यदि समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता दे दी जायगी तो भारत में ब्रिटिश शासन न रह सकेगा, क्योंकि शासित लोग अंगरेजों के सजातीय नहीं हैं। स्वतन्त्र समाचारपत्र और अजनबियों का दूसरे देश में निवास ये दोनों बातें अधिक समय तक साथ-साथ नहीं चल सकतीं। यदि समाचारपत्र स्वतन्त्र रहेंगे तो वे आज अथवा कुछ दिनों के बाद यह प्रतिपादन करने लगेंगे कि भारत को विदेशी शासन से निकल जाना चाहिए। वे जनता में स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों का प्रचार करेंगे। इस प्रकार यदि शासकों की रक्षा अभीष्ट हो तो समाचारपत्रों को कभी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए। यदि समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता मिल जायगी, तो फिर भारतवासी कभी युरोपियनों और उनके अधिकार का आदर-सम्मान न करेंगे। बस मनरो के इसी प्रकार के विचार थे; और उसने यह प्रतिपादन किया था कि 'सेंसर' बैठाकर और पत्र-सम्पादकों को निर्वासित करने का अधिकार अपने हाथ में रखकर समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता बहुत ही परिमित कर देनी चाहिए। डाइरेक्टरों के कोर्ट ने यह कहकर मनरो का मत मान्य किया था कि स्वतन्त्र समाचारपत्र केवल उसी देश में प्रकाशित हो सकते हैं जिसमें प्रतिनिधित्व-मूलक राष्ट्र-संघटन हो। भारत में न तो ऐसा संघटन है और न हो सकता है।

राजा राममोहन राय के मत और सरकार से प्रार्थना—इसके विपरीत राजा राममोहन राय ने यह प्रतिपादित किया था कि यदि समाचार-

पत्रों को स्वतन्त्रता रहेगी, तो वे उत्तरदायित्व-रहित शासन-प्रणाली और उसके नौकरों की भूलों और अन्याय सब पर प्रकट कर सकेंगे और यह बतला सकेंगे कि जनता को किन-किन बातों का कष्ट है; और इससे यह लाभ होगा कि सहसा कोई क्रान्ति खड़ी न हो सकेगी और धीरे-धीरे सुधार हो सकेंगे। उस दशा में असन्तोष की जड़ गहरी न हो सकेगी। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया था कि स्वतन्त्र समाचारपत्र लोगों का ज्ञान बढ़ा सकते और उनका सुधार तथा उन्नति कर सकते हैं। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा था कि समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता का केवल यही अर्थ नहीं है कि लोगों के मन में सरकार के प्रति तिरस्कार और घृणा का भाव उत्पन्न हो। उनसे बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकते हैं; यथा—ज्ञान का प्रचार और उसकी प्राप्ति की कामना, व्यवस्था, शान्ति, सहनशीलता और उत्तम शासन-प्रणाली या सरकार। बिना स्वतन्त्र समाचार-पत्रों के भारतवर्ष न तो सुधर सकता है और न उन्नति कर सकता है। इसलिए समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता बनी रहने देनी चाहिए।

१८२३ में बङ्गाल में इस आशय का एक रेगुलेशन पास किया गया था कि बिना लाइसेंस लिये कोई छापाखाना न करने पावे तथा छपी हुई पुस्तकों और पत्रों का प्रचार कुछ विशिष्ट बाधक या परिमित परिस्थितियों में हो सके। इसके बाद १८२७ में बम्बई में भी इसी तरह का एक रेगुलेशन बना। इसके विरुद्ध राजा राममोहन राय तथा कुछ और लोगों ने १८२४ में दो मेमोरियल तैयार किये। उनमें से एक बङ्गाल के सुप्रीम कोर्ट के पास और दूसरा अपील के रूप में इंग्लैंड के महाराज और उनकी काउंसिल के पास भेजा गया। ये दोनों ही मेमोरियल पढ़ने के योग्य हैं और इनमें बहुत ही योग्यता तथा विद्वत्ता-पूर्वक यह प्रतिपादित किया गया है कि भारतीय समाचारपत्रों को पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। पर इन दोनों ही प्रार्थना-पत्रों का कुछ भी असर न हुआ। एंग्लो-इंडियन समाचारपत्रों के सम्पादकों को सदा इस बात का भय बना रहता था कि कहीं हमारा प्रेस ज़ब्त न हो, हम पर जुरमाना न हो, हम जेल न भेजे जायँ या निर्वासित न कर दिये जायँ। कुछ सम्पादकों ने तो जेल तक में रहकर पत्र-सम्पादन का काम किया था।

१८३५ का ऐक्ट—१८३५ तक यही रेगुलेशन चलते रहे और तब एक नया ऐक्ट बना। सर चार्ल्स मेट्काफ ने पुराने बाधक नियमों को रद्द कर दिया। समाचारपत्र छापने और प्रकाशित करनेवालों के लिए साधारणतः वही कानूनी उत्तरदायित्व रह गये जो देश के और लोगों के लिए थे। उस कानून का मसौदा मेकाले ने बनाया था और उसका प्रयोग सारे भारत के लिए किया गया था। उससे सेंसर और लाइसेंसवाली प्रथाएँ दूट गईं और रजिस्टरी की नई प्रणाली निकली। समाचार-पत्रों की यह स्वतन्त्रता फिर १८५७ वाले ऐक्ट से परिमित कर दी गई। इस बार फिर पहले की तरह लाइसेंसवाली प्रथा चलाई गई। पर हाँ, समाचारपत्रों के लिए कोई सेंसर न रह गया। पर यह नई व्यवस्था अस्थायी थी और केवल ग़दर के समय में एक वर्ष तक प्रचलित रही। १८६७ में १८३५ वाले ऐक्ट में कुछ परिवर्तन किये गये। १८७० में ताजीरात हिन्द में राजद्रोह से सम्बन्ध रखनेवाली १२४ ए धारा बढ़ाई गई। पर १८३५ वाले मेट्काफ के ऐक्ट में वास्तविक परिवर्तन १८७८ में हुआ, जब वर्नाक्वुलर प्रेस ऐक्ट बना। अँगरेजी पत्र उसके कार्य-क्षेत्र से अलग कर दिये गये। यह कृत्य लार्ड लिटन का था जिससे इस देश के निवासियों पर अविश्वास प्रकट होता था।

१८७८ का ऐक्ट—जैसा कि उस समय कहा गया था, इसका उद्देश्य यह था कि देशी भाषाओं के समाचारपत्रों में राजद्रोहात्मक लेखों का प्रकाशन रुके। साथ ही यह भी कहा जाता था कि कुछ देशी सम्प्रादायिक लोगों से जो अनुचित रूप से रुपये वसूल करते हैं, वह भी इससे बन्द हो जाय। पर इस प्रकार के आरोपों का कोई प्रमाण नहीं था। जनता के विरोध करने पर भी यह ऐक्ट पास हो ही गया। इंग्लैंड तक में इस ऐक्ट की निन्दा हुई थी। इसकी धाराएँ आदि बहुत ही कठोर थीं। इसके अनुसार कोई समाचार-पत्र छापने या प्रकाशित करनेवाले को यह शर्तनामा लिख देना पड़ता था कि हम कोई ऐसी बात न छापेंगे या न प्रकाशित करेंगे जिसके कारण लोगों के मन में सरकार के प्रति द्वेष उत्पन्न हो या जिससे भिन्न-भिन्न जातियों, सम्प्र-

दायों, वर्गों या धर्मों आदि में परस्पर वैमनस्य उत्पन्न हो; और न हम अपने पत्र के ज़ोर पर किसी को धमकाकर उससे अनुचित रूप से रुपया वसूल करेंगे। इस शर्तनामे के साथ ज़मानत के तौर पर मजिस्ट्रेट की आज्ञा होने पर कुछ नक़्द रुपये या सरकारी कागज़ भी जमा करने पड़ते थे। एक्ज़िक्यूटिव एक बार ज़मानत देने पर यह रक़म ज़ब्त भी कर सकता था। पर यदि कोई सम्पादक यह मंज़ूर कर लेता था कि हम जो कुछ लिखेंगे, उसे छापने से पहले सरकारी अफ़सरों को दिखला लिया करेंगे, तो उसे यह ज़मानत की रक़म नहीं देनी पड़ती थी। इस ऐक्ट के द्वारा प्रान्तीय सरकार को यह भी अधिकार हो गया था कि वह राजद्रोहारमक पुस्तकों तथा पुस्तिकाओं को ज़ब्त कर सके और उनका प्रचार रोक दे।

१८७८ के ऐक्ट का रद्द होना—इस ऐक्ट के अनुसार सारी कार्रवाई एक्ज़िक्यूटिव के द्वारा ही होती थी और किसी न्यायालय को यह अधिकार नहीं था कि वह इस बात की जाँच कर सके कि एक्ज़िक्यूटिव की अमुक कार्रवाई क़ानून के अनुसार ठीक है या नहीं। पर इस ऐक्ट का घोर विरोध हुआ था, इसलिए इसका बहुत अधिक प्रयोग नहीं किया गया; और १८८१ में लार्ड रिपन ने यह कहकर यह ऐक्ट रद्द कर दिया कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए इस ऐक्ट की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसके विपरीत सर विलियम हंटर ने सरकार की ओर से कहा था—“जो हो, पर यह एक ऐसा मुख्य साधन था जिसके द्वारा भारतवासी अपना मत प्रकट कर सकते थे; और इसके पहले सरकार ने कभी यह कामना इतने उत्कट रूप में प्रकट नहीं की थी कि जनता के भाव प्रकट करनेवाली संस्थाओं को काम कर दिखलाने का उचित अवसर दिया जाय। भारत के समाचार-पत्र एक ऐसी पार्लिमेंट के रूप में थे जिसका अधिवेशन निरन्तर होता रहता था और जिसका सदस्य हर एक ऐसा आदमी हो सकता था जो कोई सुनी जाने के योग्य बात कह सकता था। और अब इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यदि घोर अज्ञानी जनता में समाचार-पत्र पूरी स्वतन्त्रता के साथ प्रकाशित होते रहें तो उनसे कुछ ख़राबी हो सकती

है। पर सर्व-साधारण के अज्ञान से होनेवाली खराबियों को दूर करने का एक मात्र वास्तविक उपाय यही है कि सर्व-साधारण में शिक्षा का प्रचार किया जाय।

नई क़ानूनी बाधाएँ—जब प्लेग के सम्बन्ध में सरकार ने कठोर नीति का अवलंबन किया और पूने में रैंड साहब की हत्या हुई (१८९७), तब १८९८ में सरकार ने समाचारपत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले क़ानून में कुछ और परिवर्तन किये। उसने ताजीरात हिन्द की दफ़ा १२४ ए और दफ़ा १०५ में सुधार किया और ज़ाबता फ़ौजदारी में नई दफ़ा १०२ बढ़ाई। ये सब परिवर्तन राजद्रोह, शत्रुता, द्वेष और व्यक्तिगत ज़मानत की कार्यवाहियों से सम्बन्ध रखते थे। जनता और इंपीरियल या बड़ी काउंसिल में इनका सबसे अधिक विरोध हुआ। पर उस विरोध पर कुछ भी ध्यान न दिया गया। पहले जो अधिकार केवल दौरा अदालतों को प्राप्त थे, अब वही अधिकार ज़िले के मजिस्ट्रेटों और पहले दर्जे के मजिस्ट्रेटों को दे दिये गये। अब मुक़दमा चलानेवाले लोग ही अपने अभियोगों का फ़ैसला करनेवाले वास्तविक न्यायाधीश हो गये। दफ़ा १२४ ए में सुधार करके “क़ानून द्वारा स्थापित भारत सरकार को तिरस्कृत या घृणित बनाना या इसका प्रयत्न करना” अपराध ठहराया गया। यह निश्चय हो गया कि कोई राजद्रोहात्मक लेख अथवा १५३ ए के अनुसार दण्डित हो सकने के योग्य लेख—जो वर्गों या जातियों में परस्पर शत्रुता या घृणा फैलाने के सम्बन्ध में हो अथवा इसी प्रकार के और लेख—प्रकाशित करने पर नेक-चलनी के लिए ज़मानत ली जा सकती है।

१९०८ में अपराधों को उत्तेजना देने के सम्बन्ध में न्यूज़ पेपर्स ऐक्ट प्रचलित हुआ। यह ऐक्ट इसलिए बनाया गया था कि समाचारपत्रों के द्वारा हत्या या इसी प्रकार के दूसरे अपराध करने की उत्तेजना न दी जा सके। इसके अनुसार छापाख़ाना भी ज़ब्त हो सकता था। यदि मजिस्ट्रेट एक बार ज़बती की आज्ञा दे देता तो उस छापाख़ाने का फिर कोई नया डिक्लेरेशन नहीं दिया जा सकता था। मुज़फ़्फ़रपुरवाली हत्या (१९०८) के क्रान्तिकारी

प्रयत्न के ठीक बाद ही यह क़ानून बना था। वज़-विच्छेद के कारण बहुत बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था और लोग अपने राजनीतिक विचार उग्रतापूर्वक प्रकट करने लगे थे। लार्ड मिंटो ने कहा था—“भारत अभी इस योग्य नहीं हुआ है कि यहाँ के समाचारपत्रों को पूरी स्वतन्त्रता दी जा सके।”

१९१० का ऐक्ट—उन्होंने यह भी कहा था कि अब समाचारपत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों के लिए एक बड़ा प्रेस ऐक्ट बन जाना चाहिए; और यह नया प्रेस ऐक्ट मारले-सुधार हो जाने पर नई काउंसिलों में लार्ड हार्डिज के शासन-काल (१९१०) में पास हुआ था। यद्यपि जनता के प्रतिनिधियों ने इसकी धाराओं आदि का बहुत अधिक विरोध किया था, तो भी उन्होंने, केवल दो को छोड़कर, इस बिल के पक्ष में चुपचाप मत दे दिया था। उस समय लार्ड सिनहा सरकार के क़ानूनी सदस्य थे और उन्होंने ने इसे काउंसिल में उपस्थित करके स्वीकृत कराया था। इसके अनुसार यह आवश्यक हो गया था कि छपाख़ाना रखनेवाले हर एक आदमी से ज़मानत की रक़म जमा करा ली जाय करे। प्रेस ऐक्ट की चौथी धारा में बतलाये हुए अपराधों में से कोई एक अपराध होने पर भी ज़मानत की रक़म ज़ब्त हो सकती थी। इस धारा का अर्थ बहुत अधिक विस्तृत हो सकता था और इसके अनुसार सरकारी विषयों पर स्वतन्त्रता और ईमानदारी के साथ युक्ति-सङ्गत सम्मति देना या उस पर टोका-टिप्पणी करना असम्भव हो जाता था। भले और बुरे सभी प्रकार के विषय और लेख इसके अन्तर्गत आ सकते थे और कहा जा सकता था कि अमुक लेख से सरकार और उसके कार्यों तथा नौकरों के प्रति अपराध करने की उत्तेजना का भाव प्रकट होता है। इसी प्रकार के नियम समाचारपत्रों के विरुद्ध भी बनाये गये थे। ज़मानत आदि के एक बार ज़ब्त हो जाने पर नया डिक्लोरेशन और नई ज़मानत मानी जाती थी। यहाँ तक कि छपाख़ाना भी ज़ब्त हो जाता था। कस्टम और डाक-विभाग के अधिकारियों को भी नियन्त्रण के कुछ अधिकार दे दिये गये थे।

इस ऐक्ट के अनुसार दी जानेवाली आज्ञाएँ शुद्ध एक्ज़िक्यूटिव होती थीं। उनके विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती थी। प्रेस ऐक्ट (१९१०) का बहुत अधिक उपयोग किया गया था; पर अन्त में १९२३ में नये सुधार होने पर पहली लेजिस्लेटिव असेम्बली के द्वारा वह रद्द कर दिया गया।

परिच्छेद ८

राजनीतिक जीवन (क्रमागत)

(८) स्थानिक स्वराज्य

स्थानिक स्वराज्य के उद्देश्य—स्थानिक स्वराज्य से नागरिकता-सम्बन्धी भाव और ज्ञान तथा वोट या मत देने की शक्ति उत्पन्न होती है। इसके द्वारा शासन के प्रजातन्त्रीय रूपों की शिक्षा मिलती है। इसी लिए केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों ने गाँवों, कस्बों, नगरों, ज़िलों और उसके उपविभागों आदि को शासन के कुछ अधिकार दिये थे जिसमें उन स्थानों के लोग स्थानिक शासन के कुछ कार्यों का प्रबन्ध और नियन्त्रण करना सीख सकें; और एक परिमित सीमा तक ये उन्हें स्वराज्य की कला का अनुभव प्राप्त कराते थे। भारत में बहुत प्राचीन काल से ही गाँवों और कस्बों में स्थानिक स्वराज्य की यह प्रथा चली आती थी। बिना केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप के लोग अपनी ग्राम-पञ्चायतों और नगर-सभाओं में बहुत से सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था कर लिया करते थे। जब यहाँ ब्रिटिश शासन की स्थापना हुई, तब निर्वाचन सिद्धान्तों के आधार पर नगरों, कस्बों, ज़िलों और उनके उपविभागों में एक नये प्रकार का स्वराज्य स्थापित हुआ; पर गाँवों में ऐसा स्वराज्य प्रचलित नहीं किया गया। कुछ स्थानों में म्युनिसिपैलिटियाँ और लोकल बोर्ड स्थापित किये गये हैं और बाद में ये संस्थाएँ दूसरे कस्बों और स्थानों में भी स्थापित हुई हैं। आरम्भ में जो शासन-प्रणाली प्रचलित हुई थी, उसमें जनता का हाथ बहुत कम और सरकारी अफसरों का हाथ बहुत अधिक था और वह किसी न किसी सीमा तक एक प्रकार से सरकारी विभाग ही था। पर धीरे-धीरे उसके अधिकार जनता के हाथ में सौंपे जा रहे हैं। पहले जो गाँव

स्वराज्य के अधिकारों से वञ्चित कर दिये गये थे, उन्हें अब वे अधिकार मांगें। सुधारों की सिफारिशों के अनुसार नई ग्राम-पञ्चायतों के रूप में फिर से मिला रहे हैं।

लार्ड रिपन का निश्चय—१८८२ में लार्ड रिपन ने अधिकारों को एक केन्द्र से हटाकर मिला-मिला केन्द्रों में बाँटने के उद्देश्य से और सभ्यतापूर्ण शासन के कार्यों और उत्तरदायित्वों में लोगों को और अधिक सम्मिलित करने के विचार से और साथ ही राजनीतिक तथा सार्वजनिक शिक्षा के इस साधन को अधिक विकसित करने के विचार से स्थानिक स्वराज्य के सिद्धान्तों की स्थापना की। इनके द्वारा भारत में स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन का छोटे रूप में आरम्भ होने को था, जिसका अनुभव प्राप्त करके लोग धीरे-धीरे शासन-सम्बन्धी अधिकारों और कार्यों में अधिक दक्ष हो सकते। लार्ड रिपन का निश्चय १८८३-१८८५वाले लोकल सेल्फ गवर्नमेंट ऐक्टों में सम्मिलित किया गया था। परन्तु प्रान्तीय सरकारों ने उनकी धाराएँ आदि बहुत ही संकुचित भाव से और इस प्रकार बनाई थीं जिससे उनका वास्तविक उद्देश्य ही बहुत से अंशों में नष्ट हो गया था। नामाङ्कित या सरकारी सभापतियों और नामाङ्कित सदस्यों की अधिक संख्या के रूप में उन पर पुराना सरकारी नियन्त्रण बना ही रह गया। बहुत से विषयों में कलकटर की मजदूरी लेना आवश्यक था; और बहुत सी बातों में वह हस्तक्षेप कर सकता था। पर हाँ, निर्वाचन का सिद्धान्त प्रचलित कर दिया गया था।

डिसेंट्रलाइजेशन कमीशन—१९१० में डिसेंट्रलाइजेशन कमीशन ने सिफारिश की थी कि निर्वाचित सदस्यों का यथेष्ट बहुमत रखा जाय; सभापति भी निर्वाचित हुआ करे; तथा उन लोगों को अधिक अधिकार तथा स्वतन्त्रता दी जाय। इन सिफारिशों का कारण यही था कि उस समय तक इस सम्बन्ध के सब काम एक सरकारी विभाग के रूप में ही हुआ करते थे। इन संस्थाओं पर सरकारी नियन्त्रण बहुत अधिक था; इसलिए वास्तव में जन-साधारण इनके कामों में बहुत कम दिलचस्पी लेते थे। डिसेंट्रलाइजेशन कमीशन ने इस मत का समर्थन किया था।

लार्ड हार्डिंज का निश्चय—इसके बाद लार्ड हार्डिंज की सरकार ने १९१५ में स्थानिक स्वराज्य के सम्बन्ध में एक निश्चय प्रकाशित किया। उसमें भी यही सिफारिश की गई थी कि निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो, गैर-सरकारी आदमी सभापति हुआ करें और उन्हें कर लगाने, बजट तैयार करने और कर्मचारियों आदि पर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में अधिक स्वतन्त्रता दी जाय। पर यह बात मांटफोर्ड रिपोर्ट के हिस्से में ही आई थी कि साहसपूर्वक इतनी बढ़ी सिफारिश करे कि—“स्थानिक संस्थाओं पर, जहाँ तक सम्भव हो, जन-साधारण का पूरा-पूरा नियन्त्रण स्थापित कराया जाय और बाहरी शासन से उन्हें, जहाँ तक अधिक हो सके, स्वतन्त्र किया जाय।”

१९१८ का निश्चय—१९१८ में सरकार ने स्थानिक स्वराज्य के सम्बन्ध में एक निश्चय प्रकाशित किया जिसमें सिफारिश की गई थी कि जितना अनावश्यक सरकारी नियन्त्रण है, वह सब धीरे-धीरे हटा लिया जाय; निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो; भिन्न-भिन्न तथा अधिक स्थानों में निर्वाचित सभापति हों; मताधिकार की शर्तें कम की जायँ; अधिक लोगों को मताधिकार दिया जाय; और इसी प्रकार के दूसरे परिवर्तन किये जायँ। इधर हाल में म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट तथा लोकल बोर्डों से सम्बन्ध रखनेवाले कई ऐक्ट पास हुए हैं जिनके द्वारा उन बोर्डों के अधिकारों तथा कार्यों का विस्तार हुआ है और उन्हें नये सुभीते प्राप्त हुए हैं। इसी लिये कई ऐसे लोकल सेल्फ गवर्नमेंट ऐक्ट भी पास हुए हैं जिनमें अपेक्षाकृत अधिक लोगों को मताधिकार दिये गये हैं, निर्वाचित सदस्य और सभापति बढ़ाये गये हैं और उन्हें अधिक अधिकार दिये गये हैं। ग्राम-पञ्चायतों के सम्बन्ध में भी कई ऐक्ट बने हैं जिनके द्वारा पुरानी पञ्चायतें फिर से स्थापित होने लगी हैं और उन्हें ऋगड़ों का निपटारा करने, लोगों का स्वास्थ्य सुधारने और सफाई आदि रखने के सम्बन्ध में कुछ निश्चित अधिकार और कार्य सौंपे गये हैं।

उनका विस्तार और शक्ति—१९२५-२६ में ब्रिटिश भारत में ७६७ म्युनिसिपैलिटियाँ थीं जिनमें प्रायः १९०००००० लोग बसते थे, और जिनकी आय १६२ लाख है, यद्यपि सारे भारत में २३१६ कस्बे हैं और उनमें बसनेवालों की संख्या ३२५ लाख है। म्युनिसिपैलिटियों को मुख्यतः सार्वजनिक स्वास्थ्य-रक्षा, सुभीते और शिक्षा आदि के काम करने पड़ते हैं।

जिला बोर्डों, ताल्लुका बोर्डों और यूनियन कमेटियों की, जो ग्राम्य-संस्थाएँ हैं, संख्या १९२५-२६ में १२६९ थी। उनके सब मिलाकर ७३००० सदस्य थे जिनमें से ७३ प्रति शत निर्वाचित थे और २७ प्रति शत सरकारी प्रतिनिधि थे। उनकी कुल आमदनी १४ करोड़ से कुछ अधिक थी। उनके काम मुख्यतः शिक्षा, चिकित्सा और नागरिकता सम्बन्धी हैं। उनमें प्रायः जमींदारों और सम्पन्न लोगों की ही अधिकता है।

इन स्थानिक संस्थाओं के कार्यों में धन की कमी के कारण बहुत बाधा पड़ती है। यह धन की कमी तभी पूरी हो सकती है, जब नये कर लगाये जायँ, उन्नति के बहुत बड़े-बड़े काम हाथ में न लेकर केवल छोटे-छोटे काम लिये जायँ और पूर्ण रूप से मितव्यय का ध्यान रखा जाय।

१९२० में मदरास में लोकल बोर्डों का जो ऐक्ट बना था, उसके द्वारा लोकल बोर्डों के अधिकार में होनेवाले सब रास्ते और बाज़ार सभी जातियों और सभी धर्मों के लोगों के लिए खोल दिये गये थे। कुछ स्थानों में तो सार्वजनिक कूओं से भी सब लोगों को पानी भरने का अधिकार दे दिया गया है।

गाँवों की पञ्चायतों के सम्बन्ध में जो ऐक्ट बने हैं, उनका उद्देश्य यही है कि गाँवों की पुरानी पञ्चायतें पहले जिस प्रकार छोटे-छोटे दीवानी और फौजदारी मुकदमों का फैसला किया करती थीं, उसी प्रकार फिर से किया करें। पर ये ग्राम-पञ्चायतें स्वास्थ्य-सुधार और कोआपरेटिव आदि के कामों में भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

(९) सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण

१८३३ का ऐक्ट और १८५८ वाली घोषणा—भारतवासी बहुत दिनों से यह कहते चले आ रहे हैं कि जिन सरकारी नौकरियों में अपेक्षाकृत अधिक उत्तरदायित्व है और जिनमें अधिक वेतन मिलते हैं, उन पर अधिकाधिक भारतवासी नियुक्त किये जायें। १८३३ वाले ऐक्ट के अनुसार ही यह निश्चय हो गया था कि किसी सरकारी पद पर नियुक्ति करते समय कभी धर्म, जन्म-स्थान, वंश या वर्ण आदि के विचार से पक्षपात न किया जायगा। १८३३ वाले ऐक्ट और १८५८ वाली घोषणा में भी यही कहा गया था कि सभी पदों पर बिना जाति या धर्म का विचार किये सभी ब्रिटिश नागरिक भरती किये जा सकेंगे। परन्तु कुछ बड़े-बड़े सरकारी पदों पर नियुक्त करने से पहले प्रतियोगिता की जो परीक्षा होती थी, वह १८६१ वाले इंडियन सर्विस ऐक्ट के अनुसार इंग्लैंड में ही होती थी। ऐसी नौकरियों के सम्बन्ध में एक सूची या कोष्ठक बन गया था। इसके परिणाम-स्वरूप १८७१ तक केवल एक ही भारतवासी को नौकरी पाने में सफलता हुई थी। उमर और परीक्षास्थान के सम्बन्ध में कठोर शर्तें थीं। इस प्रकार यद्यपि यह निश्चित हो चुका था कि कोई भारतवासी सरकारी नौकरी से वञ्चित न हो सकेगा, तो भी बड़े-बड़े पद केवल उन्हीं लोगों के लिए रक्षित रखे गये थे जो ऊपर लिखी शर्तों के अनुसार प्रतियोगिता में सम्मिलित होते थे; और इस प्रकार—लार्ड लिटन (१८७८) के प्रसिद्ध शब्दों में—“कानों को सुनाया हुआ वचन हृदय के सामने तोड़ा गया था”। १८७० वाले ऐक्ट में यह स्वीकृत कर लिया गया था कि जो भारतवासी अपनी योग्यता और गुण प्रमाणित कर दें, उनकी नियुक्ति के लिए अधिक सुभीते उत्पन्न करने की आवश्यकता है। और यह बात कुछ ऐसे पदों के सम्बन्ध में थी जो ऊँची सरकारी नौकरी (Covenanted Service) के लिए रक्षित थे। परन्तुतः बहुत अधिक दबाव पड़ने पर १८७६ में स्टेट्युटरी सिविल सर्विस रेगुलेशनों के रूप में इस सम्बन्ध में नियम बने थे।

स्टैट्युटरी सिविल सर्विस रेगुलेशन—इस प्रकार की एक-षष्ठांश नियुक्तियाँ दस वर्षों के लिए होने की थीं। यह भी निश्चित हुआ था कि इसके लिए भारत में नामाङ्कनवाली पद्धति के अनुसार उम्मेदवार भरती किये जायेंगे। पर यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। सरकार ने इस और यथेष्ट गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया और न इस पर अपना विशेष विश्वास ही प्रकट किया। १८७६ से लेकर १८८६ तक केवल ६० भारतवासी भरती किये गये। १८८६ में सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में एक पब्लिक सर्विस कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने सिफारिश की कि सरकारी नौकरियों का इंपीरियल, प्रान्तीय और अधीनस्थ (Imperial, Provincial and Subordinate) इन तीन शाखाओं में विभाजित किया जाय। इंडियन सिविल सर्विस में भारत-मन्त्री के द्वारा केवल वही लोग भरती किये जायें जो इंग्लैंड में होनेवाली सिविल सर्विस परीक्षा में उत्तीर्ण हों। कमीशन के सामने यह सूचना उपस्थित की गई थी कि इंग्लैंड और भारत दोनों ही स्थानों में साथ-साथ एक ही समय में परीक्षाएँ हुआ करें; पर कमीशन ने यह सूचना अस्वीकृत कर दी थी। १८७६ वाले नियमों के अनुसार स्टैट्युटरी सिविल सर्विस के लिए जो एक-षष्ठांश पद रक्षित रखे गये थे, उनके सम्बन्ध में कहा गया था कि प्रान्तीय सिविल सर्विस में काम करने-वाले लोगों को नामाङ्कित करके और उनकी तरफ़ी करके उन्हें इन पदों पर नियुक्त करना चाहिए। कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया था कि इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षाएँ इंग्लैंड के साथ-साथ भारत में भी हुआ करें और उम्मेदवार की उमर कुछ और बढ़ा दी जाय। १८८३ में हाउस आफ़ कामन्स ने इस आशय का एक निश्चय किया कि इंग्लैंड और भारत में साथ-साथ ये परीक्षाएँ हों तो अच्छा हो। पर भारत सरकार ने यह निश्चय कार्य-रूप में परित्यक्त नहीं किया। १८८२ में एचिसन कमीशन की सिफारिशों काम में लाई गईं और वे १९१२ तक बराबर जारी रहीं। सर जान स्टैची ने लिखा था—“इमें निश्चल भाव से अपना यह इरादा जाहिर कर देना चाहिए कि वे एक्ज़िक्यूटिव पद, जिनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है और

जिन पर हमारा राजनीतिक तथा सैनिक बल और इस देश पर वास्तविक अधिकार निर्भर करता है, हम स्वयं अपने ही आदमियों के हाथ में रखना चाहते हैं।" साधारणतः सभी ऊँचे और बड़े पदों पर जहाँ दस अँगरेज रखे जाते थे, वहाँ केवल एक भारतवासी रखा जाता था। यह अवस्था बहुत ही असन्तोषजनक थी।

इस्लिंगटन कमीशन—१९१२ में लार्ड इस्लिंगटन की अध्यक्षता में पब्लिक सर्विस कमीशन की नियुक्ति हुई थी जिसके एक सदस्य स्व० गोपाल कृष्ण गोखले भी थे। उसने अपनी सिफारिशों तो १९१५ में ही कर दी थीं, पर १९१४ में ही महायुद्ध छिड़ गया था; इसलिए उसकी रिपोर्ट १९१७ में प्रकाशित हुई। उस समय तक उन सिफारिशों का महत्त्व नष्ट हो गया था और वे पुरानी पड़ गई थीं; क्योंकि राजनीतिक आदर्शों और राष्ट्रीय मार्गों का एक नया वातावरण उपस्थित हो गया था। उसने सरकारी नौकरियों के तीन विभाग रखने की सिफारिश की थी और कहा था कि कुछ ऐसे ऊँचे पद, जिनका सम्बन्ध भारत की रक्षा करनेवाले विभागों से है, केवल अँगरेजों के लिए रक्षित रखे जायँ; और बाकी नौकरियों के लिए भारतवासियों का प्रतिशत अनुपात निश्चित कर दिया जाय। उसने माना यह मान लिया था कि भारत के सम्बन्ध में अँगरेजों का जो उत्तरदायित्व है, उसके लिए यह आवश्यक है कि बहुत बड़े और जिम्मेदार पदों पर केवल अँगरेज ही बहुत अधिक संख्या में रखे जायँ। परन्तु अगस्त १९२० वाली घोषणा और मांटफोर्ड सिफारिशों ने सरकारी नौकरियों के भारतीयकरणवाले प्रश्न को एक नया ही रूप दे दिया था। उस समय यह घोषणा की गई थी कि सम्राट की सरकार की यह नीति है और भारत सरकार भी इससे पूर्ण रूप से सहमत है कि शासन की प्रत्येक शाखा में भारतवासियों को उत्तरोत्तर अधिक सम्मिलित किया जाय और भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली स्थापित करने के लिए स्वराज्य-भोगी संस्थाओं का क्रमशः विकास किया जाय।

मांटफोर्ड रिपोर्ट—१९१० वाले मारले सुधारों के बाद से केन्द्रीय सरकार की एक्जिक्यूटिव काउंसिल में एक, और प्रान्तीय सरकारों की एक्जि-

क्यूटिव काउंसिलों में भी एक-एक भारतवासी रहा करता था। इन पदों को छोड़कर भारतवासियों को कोई ऐसा अवसर नहीं दिया जाता था कि वे शासन-सम्बन्धी और नित्य प्रति सामने आनेवाले कठिन काम कर सकें; और जब तक भारतवासियों को बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ न मिलें, तब तक यहाँ उत्तर-दायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली स्थापित होना असम्भव था। इसलिए मांटफोर्ड रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई थी कि पदों पर भारतवासियों का अनुपात बराबर बढ़ता रहे और उनमें मुख्यतः भारतवासी ही रखे जायँ। हाँ, इस बात का प्रयत्न किया जाय कि साहस, नेतृत्व, निर्णय, उद्देश्य की दृढ़ता, निष्पक्ष निर्णय और शुद्धता के गुणों में किसी तरह की कमी न आने पावे; वे ज्यों के त्यों बने रहें। पर इस बात की कोई इच्छा प्रकट नहीं की गई थी कि पदों पर अँगरेजों का रखा जाना बिलकुल बन्द ही कर दिया जाय। कुछ विशिष्ट पदों पर, बल्कि यों कहना चाहिए कि सभी विभागों में, अँगरेजों का रहना आवश्यक और वाञ्छनीय समझा गया था। पर हाँ, नौकरियों के सम्बन्ध में जो नियम आदि थे, उनमें से उन अंशों का निकल जाना निश्चित था जिनके अनुसार नियुक्ति के समय गोरे और काले आदि का भेद किया जाता था। यह भी कहा गया था कि ऊँचे पदों में से ३३ प्रति-शत पर भारतवर्ष में ही नियुक्ति की जायगी और इस अनुपात में तब तक प्रतिशत १३ की वृद्धि की जायगी, जब तक नया कमीशन इस विषय पर फिर से विचार न करेगा। इस सम्बन्ध में भी कुछ सिफारिशों की गई थीं कि युरोपियनों के लिए कुछ अधिक वेतन, अधिक पेंशन और छुट्टियाँ आदि रखी जायँ और इस विचार से उन्हें कुछ अलग भत्ता दिया जाया करे कि उन्हें अपने देश से बहुत दूर आकर रहना पड़ता है। उसमें निश्चित रूप से कहा गया था कि हम लोग एक प्रजा जाति को केवल नौकरियों के द्वारा ही शासित नहीं करना चाहते, हम भारतवासियों को स्वराज्य करने के योग्य भी बनाना चाहते हैं। हमारा यह विश्वास है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अँगरेज अफसरों का बराबर यहाँ बना रहना बहुत आवश्यक है; और इसी विश्वास के अनुसार हम काम करना चाहते हैं। पाँच से अधिक सदस्यों का एक स्थायी पब्लिक सर्विस

कमीशन भारत की सरकारी नौकरियों पर लोगों को भरती करने और उनका नियन्त्रण करने के लिए बनाया गया था। सिविल सर्विस में युरोपियनों के जो स्वार्थ थे, वे नौकरी, वेतन, भत्ते, व्यवस्था और आचरण आदि विषयों में नियमित और रक्षित थे।

ली कमीशन— १९२४ में यह विचार करने के लिए ली कमीशन की नियुक्ति हुई कि सुधारों के बाद भारतीय सिविल सर्विस में काम करने-वालों की क्या स्थिति हुई है और उनकी क्या-क्या शिकायतें हैं। लेजिस्लेटिव असेंबली ने तो उसकी सिफारिशों का विरोध किया था, पर सरकार उन सिफारिशों को काम में लाई। कमीशन ने उनके स्वार्थों की रक्षा करने का प्रयत्न किया था और सिफारिश की थी कि उनके वेतन, भत्ते, पेंशन, यात्रा-व्यय आदि में वृद्धि की जाय और उनकी अवस्था और सुधारी जाय। भारतीय सिविल सर्विस में भारतवासियों और युरोपियनों का अनुपात बराबर बराबर निश्चित किया गया था। वेतन और पेंशन में डेढ़ करोड़ की वृद्धि हुई थी। इस समय नौकरियों के भारतीयकरण की वही अवस्था है जो ली कमीशन ने उत्पन्न की थी। फिर भी उसमें अँगरेजों की ही बहुलता है। भारतवासियों को उनमें और अधिक स्थान देने की कोई उत्कट कामना नहीं दिखलाई देती। भारतीय सिविल सर्विस के कुछ निश्चित पदों पर नियुक्ति करने के लिए विजायत के इम्तहान के साथ-साथ यहाँ भी इम्तहान होने लगा है।

(१०) सेना का भारतीयकरण

सेना का स्वरूप— प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह विदेशियों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करे। उसे इस काम के लिए शिक्षा पानी चाहिए। नहीं तो वह वास्तविक नागरिक नहीं है। यह उसका केवल कर्त्तव्य ही नहीं है, बल्कि यदि वह इस काम से रोका जाय, तो वह इसके लिए अपना अधिकार जतला सकता है। दूसरों की बराबरी का हक रखते हुए हथियार उठाना और सेना में सम्मिलित होना प्रत्येक नागरिक का

एक महत्त्वपूर्ण अधिकार और सौभाग्य है। पर भारतवासियों को उनका यह अधिकार नहीं दिया जाता और उन्हें अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करने दिया जाता। भारत में विदेशी शासन होने के कारण ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। अँगरेज़ शासक यह बात मानते ही नहीं कि अपने देश की रक्षा करना भारतवासियों का अधिकार और कर्त्तव्य है। भारत की रक्षा करने-वाली जल तथा स्थल सेना का मुख्य आधार अँगरेज़ सैनिक और नाविक ही समझे जाते हैं। उसका भारतीय अङ्ग प्रायः सहायक के रूप में रहता है और भारतवासी सेना में देश-सेवा के विचार से नहीं रखे जाते, बल्कि केवल भाड़े के आदमियों के रूप में रखे जाते हैं। सेना के कुछ थोड़े से ही विभाग या अङ्ग ऐसे हैं जिनमें भारतवासी रंगरूट या सिपाही भरती किये जाते हैं; और वे भी नागरिक के रूप में नहीं, बल्कि भाड़े के आदमियों की तरह भरती किये जाते हैं। सरकार जिसे शान्ति और व्यवस्था समझती है, उसकी रक्षा के लिए वह केवल ब्रिटिश सैनिकों पर ही निर्भर करती है। ब्रिटिश भारत की जल तथा स्थल सेना का संघटन उसे इंपीरियल सैनिक संघटन का केवल एक अङ्ग या भाग मानकर किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि वह संघटन पूरा और ठीक काम करनेवाला है, परन्तु स्वराज्य-शासन-प्रणाली में ऐसे संघटन के लिए कोई स्थान नहीं है; क्योंकि इसका अधिकांश स्वरूप शत्रु देश पर घेरा डालकर पड़ी रहनेवाली सेना का सा है। औपनिवेशिक स्वराज्य का मतलब यही है कि देश की सेना पर भी देशवासियों का ही पूरा-पूरा अधिकार हो। इसका मतलब यही है कि भारतवासियों की ही सेना हो, उसके अफ़सर भी भारतवासी ही हों और उस पर भारत की स्वतन्त्र सरकार का नियन्त्रण हो। नहीं तो यहाँ का स्वराज्य अवास्तविक और असम्भव होगा; क्योंकि सेना प्रत्येक राज्य का मुख्य बल होती है; और यदि वह सेना ही बहुत दिनों तक विदेशियों के हाथों में और विदेशियों के शासन में रहे तो फिर वास्तविक स्वराज्य कहाँ हुआ ?

भारतीयों के अधिकार की उपेक्षा—सेना के भारतीयकरणवाले प्रश्न की बहुत अधिक उपेक्षा की गई है; क्योंकि यहाँ यह तत्त्व मान्य ही नहीं

किया गया है कि भारतवासियों को अपने देश पर शासन करने का अधिकार है। पर अब देश स्वराज्य की ओर कुछ अग्रसर होने लगा है; इसलिए हम आशा करते हैं कि शीघ्र ही सेना का भारतीयकरण होगा और वह भारत की स्वराज्य-सरकार के नियन्त्रण में आ जायगी। भारत की सेना में ब्रिटिश और भारतीय दोनों ही अङ्ग हैं और अब भी वह सेना भारतीय सरकार को सौंपी जा सकती है; और भारत की केन्द्रीय सरकार के मन्त्रि-मण्डल का जो सदस्य देश की रक्षा की देख-भाल करता है, उसके साथ विशेषज्ञों की एक ऐसी नई काउंसिल या कमेटी लगा दी जा सकती है जो उसे परामर्श दे और मार्ग-प्रदर्शन करे। पर इस समय अवस्था ऐसी है कि इस प्रश्न पर बहुत ही पचपात की दृष्टि से विचार किया जाता है। देश-रक्षा-सम्बन्धी व्यय, नीति या संघटन के सम्बन्ध में भारतीय लेजिस्लेचर को कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं है। सरकार ने बहुत कुछ आगा-पोछा करके “आठ यूनिट” वाली योजना स्वीकृत की है। सर एंड्रयू स्क्रीन की कमेटी (१९२७) ने सेना का शीघ्रतापूर्वक भारतीयकरण करने के सम्बन्ध में जो अच्छे और अग्रसर करनेवाले प्रस्ताव उपस्थित किये थे, उन्हें सरकार ने अस्वीकृत कर दिया है। जान पड़ता है कि सरकार भारतीयकरण के लिए कुछ विशेष उत्सुक नहीं है; और इसके विपरीत हम लोग यह चाहते हैं कि सैनिक विषयों में हमें दूसरों का मुँह न ताकना पड़े। पर साथ ही हम स्पष्ट रूप से यह भी कह देना चाहते हैं कि उपनिवेशों को जो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-प्रणाली दी गई थी, उसमें पहले कभी इस बात का विचार नहीं किया गया था कि इन उपनिवेशों में अपनी आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने की योग्यता है या नहीं। जो हो, पर भारत को जहाँ तक जल्दी हो सके, अपने देश की रक्षा का भार अपने ऊपर लेने के लिए तैयार रहना चाहिए। भारतवासी बराबर इसमें सुधार कराना चाहते हैं और सदा उसमें सम्मिलित होने के लिए तैयार हैं।

साम्राज्य सरकार का हस्तक्षेप और नियन्त्रण—यहाँ की सैनिक व्यवस्था में प्रायः हूंगलैंड के सैनिक अधिकारी हस्तक्षेप किया करते हैं।

वे भारत सरकार को अधिक स्वतन्त्रता देने से घबराते हैं। १९१६ की इशार कमेटी ने कहा था—“हमें बराबर इस बात का प्रमाण मिलता रहा है कि इंडिया आफिस सेना के शासन-कार्यों में भारत सरकार को अधिक स्वतन्त्रता देने में बहुत आनाकानी करता है। और यह आनाकानी उस अवस्था में भी देखने में आती है जिस अवस्था में इंग्लैंड की सेना की व्यवस्था में भी किसी प्रकार की गड़बड़ी होने की सम्भावना नहीं होती; और न इसी उत्तम सिद्धान्त में बाधा पड़ती है कि सैनिक-नीति सब जगह एक समान होनी चाहिए। हमारा यह पक्का मत है कि भारत की आन्तरिक सैनिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भारत के गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल और कमांडर-इन-चीफ को और अधिक स्वतन्त्रता दी जाय।” १९२२ में भारत का सैनिक व्यय घटाने के लिए लार्ड ईंचकेप की अध्यक्षता में जो कमेटी बनी थी, उसके सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने कहा था—“भारत-मन्त्री का यह हस्तक्षेप केवल साम्राज्य के हितों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों अथवा उच्चतर नीति से सम्बद्ध प्रश्नों के विषय में ही नहीं होता, बल्कि इसका विस्तार व्यवस्था और प्रबन्ध से सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकार की, व्योरे तक की, बातों से होता है कि ब्रिटिश सैनिकों को क्या-क्या आराम होने चाहिए और अफसरों को क्या वेतन मिलना चाहिए।”

सिविल अधिकारियों का सैनिक अधिकारियों के अधीन होना—यहाँ तक कहा जा सकता है कि भारत के सिविल अधिकारी पूरी तरह से सैनिक अधिकारियों के अधीन हैं; और ये दोनों ही प्रकार के अधिकारी इंग्लैंड के वार आफिस और इंपीरियल डिफेंस कमेटी के अधीन हैं। पर इसके विपरीत हम लोग यह चाहते हैं कि भारत के सिविल अधिकारियों का सैनिक अधिकारियों पर प्रभुत्व होना चाहिए। हमारी देश-रक्षा-सम्बन्धी योजना और सैनिक-नीति में बाहर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होना चाहिए। इस विषय में मांटफोर्ड रिपोर्ट में सरकार के विचार इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहे गये हैं—“भारत की रक्षा का सारा उत्तरदायित्व

पूरी तरह से भारत सरकार पर ही होना चाहिए; और यह उत्तरदायित्व कभी ऐसे हाथों में नहीं जाने देना चाहिए जिन्हें अनुभव न हो अथवा जो दृढ़ न हों। जब तक भारतवर्ष अपनी आन्तरिक और बाह्य रक्षा के लिए युनाइटेड किंगडम की जल तथा स्थल सेना पर निर्भर करेगा, तब तक वह स्वभाग्य-निर्याय का अधिकार अनिवार्य रूप से परिमित रहेगा जिसका वह इस समय उपभोग करता है। हम नहीं समझ सकते कि पार्लिमेंट एक ऐसी नीति के समर्थन के लिए अपने सैनिक बल का प्रयोग करने के लिए कहीं तक तैयार होगी, जिस नीति पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है और जिसे वह समय पड़ने पर अग्राह्य कर सकती है। भारत की रक्षा का प्रश्न सारे साम्राज्य से सम्बन्ध रखता है; और इसलिए भारत सरकार पर अपने देश और सारे साम्राज्य की रक्षा के जो उत्तरदायित्व हैं, उनका पालन करने के लिए भारत सरकार के हाथ में शक्ति भी होनी चाहिए और साधन भी।” परन्तु हमारे सैनिक विषयों में अनुभव तथा दृढ़ता प्राप्त करने के मार्ग में कौन बाधक होता है ? अभी बहुत हाल तक यही अवस्था थी कि भारतवासियों को भारतीय सेना के लिए अफसरी की कोई शिक्षा नहीं दी जाती थी; और अब भी इसके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह अच्छी तरह मन लगाकर और भारतवासियों का विश्वास करके नहीं किया जाता; और इसके लिए यह बहाना बतलाया जाता है कि उपयुक्त आदमी नहीं मिलते। १९२७ वाली स्कीन कमेटी ने ऐसी बातों का मिथ्यात्व स्पष्ट कर दिया है; परन्तु उसने अधिक मान में और शीघ्रतापूर्वक सेनाओं के भारतीयकरण के सम्बन्ध में जो अच्छी सिफारिशें की थीं, वे उहण्डता-पूर्वक अस्वीकृत कर दी गई हैं; और जिन बातों की उसने निन्दा की है, वही स्वीकृत की गई हैं और उन्हीं का पालन किया गया है।

कुछ वर्गों और जातियों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार—अब तक हथियारों के सम्बन्धवाले सभी नियमों से बराबर यही सिद्ध होता है कि सम्राट् की प्रत्येक युरोपियन प्रजा या ईस्ट इंडियन प्रजा के साथ पक्षपात और अधिक उत्तम व्यवहार किया जाता है। यह सुभीता बिना लाइसेंस लिये शिकार आदि के लिए गोली बन्दूक आदि रखने के सम्बन्ध में था। इसके

सिवा यद्यपि कानून की ओर से इस बात की कोई मनाही नहीं है कि भारत-वासियों को वालेंटियर सेना में भरती न किया जाय, तो भी उसमें बहुत थोड़े से ईसाई भरती किये गये हैं और दूसरे भारतवासी प्रायः बिलकुल भरती नहीं किये गये हैं। इसके अतिरिक्त भारतवासियों को यह अधिकार भी नहीं दिया गया है कि वे अपने देश में अपनी रक्षा के लिए हथियार आदि रख सकें; और सेना की कमीशनवाली ऊँची श्रेणी में भी वे भरती नहीं किये जाते थे। युद्ध बन्द होने के समय तक भी नागरिकों की कोई सेना नहीं बनाई गई थी। १६२० में जाकर इंडियन टेरिटोरियल ऐक्ट पास हुआ है। इस ऐक्ट के पास होने से पहले भारतवासियों को उस आर्म्स ऐक्ट के अनुसार अपने पास किसी प्रकार का हथियार रखने का कोई अधिकार नहीं था जो १८७८ में, लार्ड लिटन के शासन-काल में, स्वीकृत हुआ था। १६२० में टेरिटोरियल सेना के सम्बन्ध में जो ऐक्ट पास हुआ है, उसका उद्देश्य यह है कि देश की रक्षा के लिए मुख्य सेना के बाद एक दूसरी पंक्ति खड़ी की जाय; नागरिकों की एक सेना बनाई जाय और जनता में देश-रक्षा का तथा सैनिक भाव उत्पन्न किया जाय। अभी तक साधारणतः भारतवासियों को सैनिक शिक्षा देने से इनकार किया गया है। जो लोग नागरिकता के भाव से प्रेरित होकर यह शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे, उन्हें भी यह शिक्षा नहीं दी गई। जैसा कि ऊपर कहा गया है, १८७८ में सारे राष्ट्र के सभी हथियार रखवा लिये गये थे। यह बात उस समय की है जब महारानी विक्टोरिया ने कैसरे-हिन्द (भारत की सम्राज्ञी) का पद ग्रहण किया था। युरोपियन, एंग्लो-इंडियन, युरेशियन और ईसाई आदि गोरे चमड़े के थे, शासकों के धर्म के अनुयायी थे और भारतीय राष्ट्रीयता के विरोधी थे; अतः उन्हें इस विचार से हथियार रखने और काम में लाने के खूब लाइसेंस दिये गये थे कि जिसमें यदि किसी समय इस देश के लोग विद्रोही हो जायँ तो वे आत्म-रक्षा कर सकें। सेना के भारतीय अङ्ग के लिए अधिकतर नेपाल आदि सीमा-प्रान्तीय जातियों के और बहुत ही पिछड़े हुए ऐसे लोग भरती किये जाते हैं जो केवल धन के लोभ में पड़कर सब तरह के काम करने को तैयार हो जाते हैं। सरकार उन्हें “बोझा

जाति" कहती है। इस प्रकार भरती किये हुए भारतीय सैनिकों को भी न तो उच्च सैनिक शिक्षा दी जाती है और न यह सिखलाया जाता है कि युद्ध किस प्रकार होना चाहिए, उसमें क्या-क्या चालें चली जाती हैं और अफसर बनकर किस प्रकार नेतृत्व किया जाता है; और न उनमें देशहित तथा नागरिकता के भावों का ही प्रचार किया जाता है। इस बात का बहुत सतर्क होकर ध्यान रखा जाता है कि उनमें राष्ट्रीय बातों के प्रति सहानुभूति न उत्पन्न हो। युद्ध करने के लिए उसका कोई निजी उद्देश्य नहीं होता। वह केवल ऐसा नौकर होता है जो बिना कुछ समझे-बूझे अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है।

भारतवासियों का अधिकार और भारत का सङ्कट—ऐसी निर्जीव और भाड़े पर काम करनेवाली सेना कभी उस राष्ट्रीय सेना का स्थान नहीं ले सकती जिसकी उत्तरदायित्व-पूर्ण भारत के लिए आवश्यकता है। वह तो राष्ट्रीय सरकार की ऐसी सेना होनी चाहिए जिसे बाहरी आक्रमियों की सहायता की आवश्यकता न हो और जो स्वयं ही सुसंघटित हो। पन्द्रहवीं से लेकर दहाई जहाजों तक और युद्ध करने के ढङ्ग आदि उसके सभी अङ्ग भारतवासियों को ज्ञात होने चाहिए और उन सबमें केवल भारतवासी ही रहने चाहिए। केवल उसी दशा में हमारा स्वराज्य वास्तविक हो सकता है। ब्रिटेन ने हमारा सैनिकतावाला गुण हरण कर लिया है। अब उसे उचित है कि वह हमारी सेनाओं को इस बात की पूरी-पूरी शिक्षा जल्दी से देकर हममें फिर से वह गुण उत्पन्न कर दे। इसके लिए अवश्य ही कुछ समय की आवश्यकता होगी; पर यदि हमारा अविश्वास करके या इस प्रकार का झूठा बहाना करके कि अभी भारतवासी इसके योग्य नहीं हुए हैं, इस काम में बहुत अधिक सुस्ती की जायगी तो हमारी सेना वास्तविक रूप से राष्ट्रीय नहीं हो सकती। इस समय एशिया के सभी देशों में नागरिकता के भाव से युक्त राष्ट्रीय सेनाएँ हैं, उनके पास आधुनिक ढङ्ग के अस्त्र-शस्त्र हैं और वे युद्ध-कला जानते हैं। उनके यहाँ गोले, बारूद आदि के कारखाने हैं और लोगों को सैनिक शिक्षा देने तथा युद्ध-विज्ञान सिखलानेवाले स्कूल

और ऊँचे दर्जे के कालिज आदि भी हैं। सारे एशिया में एक हम्हीं लोग ऐसे हैं जिन्हें ज़बर्दस्ती इन सब बातों से अलग रखा जाता है और नवीन एशिया तथा सैनिक युरोप के वातावरण में इन सब बातों से अनभिज्ञ रखा जाता है। यहाँ तक कि हमारे भीषण पड़ोसियों ने भी, जो बहुत लड़ाके हैं और दूसरों पर आक्रमण करने के लिए सदा तैयार रहते हैं, अपने आपको अस्त्र-शस्त्र से पूर्ण सुसज्जित कर लिया है। कौन कह सकता है कि इस बार आगे चलकर हमारे भाग्य में क्या बदा है? इन सब बातों के लिए हूंगलैंड ही उत्तरदायी है। ये सब कोरी भावुकता के विचार नहीं हैं, बल्कि हमारे आधुनिक राजनीतिक वातावरण से सम्बन्ध रखनेवाले कठोर तथ्य हैं। इस सम्बन्ध में जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, वे राजभक्ति या राजद्रोह के नहीं हैं, बल्कि स्वयं हमारी रक्षा के हैं। पूरी तरह से और अच्छे-अच्छे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित तथा बलवान् एशिया के आक्रमण से ब्रिटेन हमारी रक्षा करने में समर्थ न होगा। पर हमारा कहना है कि उसे ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। हमारे लिए यह सङ्कट की बात है। अब तो एक ऐसा युद्ध होता दिखाई देता है जिसमें एशिया के ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एशियावाले ही खड़े होंगे। इन नई एशियाई सेनाओं को स्वयं युरोपियनों ने ही शिक्षित और सुसज्जित किया है। उनसे भारत तभी अपनी रक्षा कर सकता है जब हमारे सारे राष्ट्र के पास हथियार होंगे और हमें स्वयं अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा होगा। सैनिक जीवन हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक अङ्ग है। हमें सैनिक शिक्षा से अलग नहीं रहना चाहिए और न विदेशियों की मुट्ठी में ही रहना चाहिए। सब लोगों को इसमें समान रूप से सम्मिलित होना चाहिए और इस सम्बन्ध में जातीय या सामाजिक विभागों की दृष्टि से न तो किसी प्रकार का पक्षपात होना चाहिए और न किसी के साथ खास रिश्तायत होनी चाहिए।

वर्तमान बल और संघटन—इस समय भारत का सैनिक बल मोटे हिसाब से इस प्रकार है—अंगरेज सैनिक और योद्धा ६६०००; भारतीय सैनिक और योद्धा १३८००० और देशी रिपास्तों के सैनिक २७००००। एक

भारतीय सैनिक पर जितना खर्च पड़ता है, अँगरेज सैनिक पर उससे चौगुना खर्च पड़ता है। ग़दर के बाद भारत की ब्रिटिश सेना इंपीरियल ब्रिटिश सेना में सम्मिलित कर ली गई थी। सन् १८६७ में रक्षित सेना की प्रणाली (Army Reserve System) प्रचलित की गई। पहले प्रत्येक प्रेसि-डेंसी की अलग-अलग सेना हुआ करती थी; पर सन् १८६५ में यह प्रथा बन्द हो गई और सारे भारत की सेनाओं का एक सेना के रूप में संघटन हुआ। भारतीय सेना एक कमांडर-इन-चीफ़ की अधीनता में चार भागों में विभक्त हुई। सन् १८२१ में सेना का फिर से संघटन हुआ। उसका सैनिक बल बढ़ाया गया; उसमें हवाई जहाज़ सम्मिलित किये गये; सामान आदि ढोने के यान्त्रिक साधन रखे गये और गोले-बारूद आदि के कारख़ाने बनाये गये। भारतवासियों की सबसे बड़ी माँग यह है कि यहाँ की स्थायी सेना में बड़े और ऊँचे पदों का शीघ्रतापूर्वक भारतीयकरण किया जाय। इस समय भारतीय सेना में दो प्रकार के अफ़सर होते हैं। उनमें से एक प्रकार के अफ़-सरों की नियुक्ति वाइसराय के द्वारा और दूसरे प्रकार के अफ़सरों की नियुक्ति सम्राट् के द्वारा होती है। पहले प्रकार के अफ़सरों का पद, मर्यादा और अधिकार परिमित है। वे प्रायः साधारण सैनिकों में से ही भरती किये जाते हैं। इन पदों पर भारतवासी नियुक्त होते हैं। पर महायुद्ध से पहले कोई भारतवासी उन ऊँचे पदों पर नहीं नियुक्त होता था जिनके लिए सम्राट् द्वारा नियुक्ति होती है। पर अब जो भारतवासी इंग्लैंड के सैंडहर्स्ट नामक स्थान में जाकर राजकीय सैनिक कालिज (Royal Military College) में से कैंडेट होकर निकलते हैं, उन्हें वे सम्राट्-वाले उच्च पद मिलते हैं। ब्रिटिश सैनिकों की बराबरी का अधिकार प्राप्त करने और उनके समान सेना-विभाग में पूरी उन्नति करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए भारतवासियों को सैंडहर्स्ट की परीक्षा पास करनी पड़ती है। सैंडहर्स्ट में भारतीय विद्यार्थियों के लिए केवल दस ही स्थान रक्षित रहते हैं। लेजिस्लेटिव असेंबली ने यह माँग पेश की है कि सैंडहर्स्ट के ढ़ङ्ग पर भारत में भी एक कालिज बनना चाहिए। सन् १९२५ में सर पंडितू रकीन की

अध्यक्षता में सरकार ने इस बात की जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी कि ऐसे कौन से सुधार किये जायँ जिनसे सम्राट के कमीशन या नियुक्ति के लिए अधिक भारतीय उम्मेदवार तैयार हों और भारतीय सेना में ऊँचे पदों पर रखने के लिए भारत में ही भारतवासियों को शिक्षा देने के लिए एक सैनिक कालिज खोलना कहाँ तक आवश्यक है; और ऐसा कालिज खोला जा सकता है या नहीं। इसकी रिपोर्ट सन् १९२७ में प्रकाशित हुई थी। पर उसकी सिफारिशों को सरकार ने ना-मंजूर कर दिया है।

सेनाओं का वर्गीकरण—इस समय भारतीय सेना के निम्न-लिखित विभाग या अङ्ग हैं—(१) स्थायी ब्रिटिश सेनाएँ; (२) स्थायी भारतीय सेनाएँ; (३) सहायक सेनाएँ (Auxiliary forces); (४) भारतीय भौमिक या टेरिटोरियल (Indian Territorial forces) सेनाएँ; (५) भारतीय रक्षित सेनाएँ (Indian Army Reserves) और (६) देशी रियासतों की सेनाएँ। सहायक सेना और भौमिक सेना (Auxiliary Territorial forces) का संघटन सन् १९२० में हुआ था। इंडियन टेरिटोरियल 'फोर्स ऐक्ट के अनुसार भारत के भिन्न-भिन्न भागों में विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के ऐसे दल तैयार होने लगे जिन्हें सैनिक सिद्धान्तों और कार्यों की शिक्षा दी जाती है, उन्हें व्यवस्थित रूप से रहकर आज्ञा-पालन करना सिखलाया जाता है और उनकी शारीरिक उन्नति की जाती है। सन् १९२५ वाली शी कमेटी ने कहा था कि यही विश्वविद्यालयोंवाले दल हमारी राष्ट्रीय सेना की नींव समझे जाने चाहिए। इसका मुख्य उद्देश्य यही था कि विद्यार्थियों को सैनिक शिक्षा दी जाय। इसका उद्देश्य केवल यह नहीं था कि थोड़े से लोगों को सेना-सम्बन्धी आरम्भिक विषयों की मोटी-मोटी बातें बतलाकर ही छोड़ दिया जाय, बल्कि उच्च तथा निम्न-सैनिक पदों के लिए अफसर भी उनमें से चुने जायँ और भारतीय भौमिक सेना (Indian Territorial force) के लिए भी इन्हीं में से लोग भरती किये जायँ; और आगे चलकर भारत की स्थायी सेना के लिए इसी के द्वारा अच्छे अच्छे उम्मेदवार अधिक संख्या में मिल सकें।

सेना में पैदल सिपाही, घुड़-सवार, तोपखाना, हवाई जहाज, टैंक-दल तथा दूसरे विभाग होते हैं। देहरादून आदि कुछ स्थानों में थोड़े से ऐसे स्कूज हैं जिनमें अफ़सरी आदि की शिक्षा दी जाती है। राजकीय भारतीय जल-सेना भी राजकीय ब्रिटिश जल-सेना का ही एक अङ्ग है और उस पर भी ब्रिटेन का ही नियन्त्रण है। सन् १९२७ से जल-सेना-सम्बन्धी एक नये ऐक्ट के अनुसार एक स्वतन्त्र भारतीय जल-सेना की भी सृष्टि होने लगी है।

सेना पर मोटे हिसाब से प्रति वर्ष ५० से ६० करोड़ तक रुपये खर्च किये जाते हैं। अर्थात् भारत की केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को सब मिलाकर जितनी आय होती है, उसका तीसरा हिस्सा और केन्द्रीय सरकार की सारी आय का आधा सेना के लिए ही व्यय हो जाता है। एशिया में अँगरेजों और दूसरे राष्ट्रों के बीच कोई बहुत बड़ा युद्ध छिड़ने से पहले दस-पन्द्रह बरस के अन्दर ही भारत की सेना राष्ट्रीय हो जानी चाहिए और उसे पूरी तरह से युद्ध-सम्बन्धी शिक्षा मिल जानी चाहिए। इस समय अन्य राष्ट्रों की जो राजनीतिक प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें देखते हुए इस प्रकार का युद्ध कुछ असम्भव नहीं जान पड़ता।

वर्तमान परिस्थिति में एक और बहुत बड़ा सङ्कट है। हमारे यहाँ कोई ऐसा अच्छा और नाम लेने के योग्य कारखाना नहीं है जिसमें गोले-बारूद, हथियार, युद्ध-सामग्री आदि तैयार होती हो। इनमें की अधिकांश वस्तुएँ इंग्लैंड से ही मँगवाई जाती हैं। अब इन सब चीज़ों का यहीं बनना बहुत आवश्यक है।

(११) विदेशों में भारतीय नागरिक

इस समय १५ लाख ऐसे भारतवासी हैं जो भारत के बाहर जाकर ब्रिटिश-साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में बसे हुए हैं। पहले शत बन्दी की प्रथा के अनुसार भारत के अशिक्षित मजदूर फ़िजी, मारिशस, नेटाल तथा दूसरे देशों में भेजे जाते थे या कुछ खास तौर से भरती करके लङ्का या मलाया भेजे जाते थे। इसके बाद कुछ पेशेवर, व्यापारी और कारीगर आदि स्वयं अपनी इच्छा

से विदेशों में जाकर बसने लगे। आरम्भ में सरकार शर्माबन्दी आदि के अनुसार भारतवासियों को बाहर भेजने को तो प्रोत्साहन देती थी, पर इस बात का बहुत ही कम ध्यान रखती थी कि उपनिवेशों में भारतवासियों के अधिकारों की ठीक तरह से रखा होती है या नहीं। गोरों की अपेक्षा उनके साथ जो अपेक्षाकृत बुरा और अपमानकारक व्यवहार किया जाता था और उनके साथ जो अनेक प्रकार के अन्याय होते थे, भारत के औपनिवेशिक इतिहास में उनका प्रकरण बहुत ही दुःखपूर्ण है। नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों की कौन कहे, उन्हें मामूली तौर पर देश में रहने का भी अधिकार प्राप्त नहीं था। परन्तु उपनिवेशों में रहनेवाले भारतवासियों ने साधारणतः कई बार और विशेषतः महात्मा गान्धी के नेतृत्व में जो आन्दोलन किये थे और इस सम्बन्ध में भारत में भी जो आन्दोलन होता रहता था, उसके कारण भारतीय राजनीति में यह प्रश्न भी सबसे आगे रहा। महायुद्ध और लार्ड हार्डिज के व्याख्यान (सन् १९१४) ने इस सम्बन्ध में साम्राज्य के दृष्टिकोण को एक नया रूप दे दिया। महायुद्ध के बाद से भारत की स्थिति और अच्छी हो गई है। साम्राज्य महासभाओं (Imperial Conferences) के सामने उपनिवेशों में बसनेवाले भारतवासियों की समस्या और उनके सिविल तथा राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न प्रमुख रूप से रखा गया और भारत सरकार को अपनी उदासीनतावाली नीति का परित्याग करना पड़ा। सन् १९२२ में नये लेजिस्लेचर ने एक नया एमिग्रेशन ऐक्ट स्वीकृत किया जिसके द्वारा यह घोषणा कर दी गई कि जो देश गवर्नर-जनरल-इन-काउंसिल की बतलाई और लेजिस्लेचर की मंजूरी की हुई शर्तों के अनुसार चलने को तैयार हों, उन देशों को छोड़कर दूसरे देशों में अशिक्षित मजदूर न भेजे जाया करें। हर साल लेजिस्लेचर के १२ सदस्यों की स्थायी एमिग्रेशन कमेटी बना दी जाती है जो भारतवासियों के विदेश जाकर बसने से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों पर भारत सरकार को परामर्श देती है।

सन् १९२१ के बाद से जो साम्राज्य महासभाएँ हुई हैं, उनमें भी इस सम्बन्ध के प्रश्नों पर विचार हुआ है और उनका स्पष्टीकरण हुआ है; और

कुछ निश्चित सिद्धान्त स्थिर करने और कुछ व्यवस्था आदि करने का प्रयत्न किया गया है ।

जो भारतवासी उपनिवेशों आदि में जाकर बसते हैं, उन्हें न तो मत देने का अधिकार होता है, न वहाँ बसने का, न ज़मीन आदि खरीदने का और न व्यापार करने के सुभीते । साथ ही कुछ ऐसे क़ानून बना दिये जाते हैं जिनके अनुसार उन्हें या तो वहाँ शहर से बाहर और सबसे अलग बसना पड़ता है और या वे ज़बरदस्ती भारत लौटा दिये जाते हैं ।

सन् १९१८ में साम्राज्य महासभा ने “रेसिप्रोसिटी” वाला प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसके अनुसार ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के प्रत्येक समुदाय को यह अधिकार मिल गया कि यदि वह चाहे तो अपने देश की आबादी को नियमित बनाये रखने के लिए ऐसे बाधक नियम बना सके जिसमें दूसरे लोग उस देश में जाकर न बस सकें । पर इस समय तक जो भारतवासी वहाँ जाकर बस गये हैं, उन्हें न तो म्युनिसिपैलिटियों आदि के और न राज्य की काउंसिलों आदि के चुनाव में ही मत आदि देने का अधिकार प्राप्त है । यदि कहीं उन्हें इस प्रकार का अधिकार दिया भी जाता है तो वहाँ प्रतिनिधित्व की प्रथा बहुत ही अनुपयुक्त होती है । पर भारतवासी यह कहते हैं कि इस समय हमारे यहाँ के जो लोग उपनिवेशों में जाकर बस गये हैं, कम से कम उन्हें तो दूसरे नागरिकों के समान ही नागरिकता के सब अधिकार अवश्य मिल जाने चाहिएँ ।

यहाँ तक हमने इस बात का विवेचन किया है कि भारत के राजनीतिक जीवन, राजनीतिक तथा नागरिकता सम्बन्धी समस्या तथा उसकी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के क्या-क्या रूप हैं । नागरिकता से सम्बन्ध रखनेवाले इन प्रश्नों की मीमांसा में सहायता देने के लिए प्रत्येक नागरिक के लिए यह उचित है कि वह अपने देश के जीवन के सभी अङ्गों से सम्बन्ध रखनेवाली इन सब समस्याओं पर भली भाँति विचार करे ।

परिच्छेद ६

स्वास्थ्य

जनता की शारीरिक अवस्था—भारतीयों को शारीरिक अवनति, बुरे स्वास्थ्य, अकाल-मृत्यु, मृत्यु-संख्या की अधिकता और अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। अनेक कारणों से, जिनका सम्बन्ध स्वास्थ्य-विज्ञान से भी है और अर्थ से भी, उनकी शारीरिक शक्ति बहुत घट गई है। न तो वे स्वास्थ्य तथा आरोग्य-विज्ञान के अच्छे सिद्धान्त ही जानते हैं और न उनका ठीक तरह से पालन ही करना चाहते हैं जिससे जनता के अच्छे स्वास्थ्य में बाधा देनेवाले बहुत से दुःखद परिणाम हुए हैं। प्रायः देखा जाता है कि लोगों को स्वास्थ्य-विज्ञान-सम्बन्धी बहुत ही आरम्भिक तथा साधारण बातों का भी कोई ज्ञान नहीं होता। जनता के स्वास्थ्य तथा शरीर को अच्छी दशा में बनाये रखने के लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि उनके शरीर, मकान, कोपड़ियाँ, गाँव और नगर बहुत ही साफ-सुथरे रखे जायँ और उन्हें सदा स्वस्थ रहने के लिए उपयुक्त बनाया जाय।

जनता के स्वास्थात्मक जीवन का स्वरूप—भारत के मकान न तो ठीक तरह से बने होते हैं, न उनमें हवा और रोशनी आदि आती है, न सफ़ाई की जाती है और न उनका गन्दा पानी आदि बहने पाता है, जिससे उनके घरों के भिन्न-भिन्न स्थानों या कोनों में कूड़ा-करकट, धूल और गन्दगी आदि पड़ी रहती है जिससे रोग और सड़ायँध आदि पैदा होती है।

यहाँ के लोगों की रहन-सहन और आदतें भी ऐसी हैं कि वे सफ़ाई का कोई खयाल नहीं करते। वे बराबर घर में इधर-उधर धूकते रहते हैं; जब जहाँ जी में आया, कूड़ा फेंकते और जमा करते हैं; मकान और उसके आस-पास के स्थानों की अच्छी तरह सफ़ाई नहीं करते; पाख़ाने के बाहर ही घर के अन्दर बच्चों को पाख़ाना फिराते हैं; उनके मकानों में न तो ठीक पनाले होते हैं और न उनकी सफ़ाई ही होती है; स्त्रियाँ और पुरुष अपने मकान के आस-पास ही पाख़ाना फिरते हैं, सफ़ाई का कुछ भी ध्यान नहीं रखते, ज़मीन और दीवारों को कई पशुओं के मल से लीपते-पोतते हैं; कीटाणुओं का नाश करने-वाले पदार्थों का व्यवहार नहीं करते; घरों में जगह-जगह बिल आदि होते हैं; गड्ढों में गन्दा पानी जमा रहता है और गोबर आदि के ढेर लगे रहते हैं। ये सभी बातें अच्छे और स्वास्थ्यप्रद निवासस्थान की बड़ी भारी शत्रु हैं।

नगरों की समस्या—नगरों और बड़े-बड़े गाँवों में यह समस्या इसलिए और भी जटिल तथा निकृष्ट हो जाती है कि वहाँ बहुत ही पास-पास मकान बनते हैं, छोटे-छोटे मकानों में बहुत से लोग एक साथ रहते हैं, लोगों को रहने के लिए पूरा-पूरा स्थान नहीं मिलता, न पूरा पानी, अच्छी हवा या रोशनी मिलती है; घरों के कोनों आदि की पूरी सफ़ाई नहीं होती; एक-एक पाख़ाने में बहुत से आदमी जाते हैं और कूड़ेख़ाने में बहुत से लोग कूड़ा फेंकते हैं; नल फँसे रहते हैं; कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर लगे रहते हैं; आदमी और सवारियाँ बराबर आती-जाती रहती हैं और अबाध्य रूप से वेश्याओं आदि की बस्ती रहती है। गाड़ियों आदि के चलने से बहुत अधिक धूल उड़ती है; धूल और कूड़ा-करकट बहुत अधिक जमा हो जाता है; गलियारों, सड़कें और तालाब आदि बहुत बुरी अवस्था में रहते हैं। ये सभी बातें मनुष्य के स्वास्थ्य और निवास-स्थान के लिए बहुत ही हानिकारक हैं। अतः इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि मकानों और उनके आस-पास के स्थानों की दशा सुधारकर स्वास्थ्यप्रद की जाय; और इस बात का दृढ़तापूर्वक प्रयत्न हो कि उनकी स्वास्थ्यप्रद अवस्था बराबर बनी रहे

और जनता का स्वास्थ्य अच्छा रहे। मकानों में रहनेवाले व्यक्तियों तथा गाँवों और म्युनिसिपैलिटियों के अधिकारियों के लिए यह एक बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व होता है कि वे अपने स्थान की सफाई का पूरा-पूरा ध्यान रखें और उसे गन्दा न होने दें। जनता को बराबर इस विषय की शिक्षा दी जानी चाहिए; और इस सम्बन्ध में दण्डात्मक नियम बनाकर तथा सुभीते उत्पन्न करके लोगों को सफाई रखने के लिए विवश करना स्थानिक अधिकारियों का कर्त्तव्य है। बराबर इस विषय के व्याख्यान आदि होने चाहिए और प्रदर्शन होते रहने चाहिए; और देश के जवान तथा बूढ़े सभी लोगों को बराबर यह बतलाते रहना चाहिए कि इस सम्बन्ध में पारचाय देशों ने क्या-क्या किया है। समाज-सेवक संघों तथा इसी प्रकार की स्वेच्छापूर्वक काम करनेवाली ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो लोगों को स्वास्थ्य-सम्बन्धी नये तथा सुन्दरे हुए विचार बतलाने में सहायता करें। डाक्टरों आदि का भी यह कर्त्तव्य है कि जिस समय वे गरत करने या किसी रोगी को देखने के लिए कहीं जायँ, तो लोगों को अच्छी तरह इन सब बातों का महत्त्व बतलावे। पर भारत की वर्त्तमान असन्तोषजनक अवस्थाओं में सुधार करने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं जनता में ही इस प्रकार के भावों का प्रचार हो। इन विषयों में धर्म और रूढ़ि से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। इसके विपरीत ये सब बातें एक बहुत बड़ी सीमा तक इसमें बाधक होती हैं। यहाँ की जन-संख्या और दरिद्रता बराबर बढ़ती जा रही है और लोगों को समाज तथा उसकी सेवा आदि के भावों का ठीक ज्ञान नहीं है जिससे सुधार करना और भी कठिन हो जाता है।

बच्चों की मृत्यु—इन सब बातों की उपेक्षा करने का परिणाम यह हुआ है कि भारत के बड़े-बड़े नगरों में बच्चों की मृत्यु बहुत अधिक संख्या में होने लगी है। भारत में प्रति वर्ष प्रायः २० लाख या प्रति सहस्र १३७.३ बच्चे मरते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में यह संख्या प्रति सहस्र ८३ है। नगरों में

छोटे बच्चों की मृत्यु बहुत अधिक होती है। सन् १९२१ में उनकी मृत्यु-संख्या इस प्रकार थी—

शहर	मृत्यु-संख्या प्रति सहस्र			
बरबई	१५६
कलकत्ता	३८६
कानपुर	१८०
अहमदाबाद	३४८
नागपुर	३५८
बनारस	३१६
लखनऊ	३३१
मद्रास	२८२
कराँची	२४६
लंदन (१९१६)	८६
बोस्टन (१९१५)	१०४
बरमिंघम	१८३
मैनचेस्टर	१११
लिवरपूल	११७
पोर्ट सनलाइट (एक गाँव)	७८

इससे पता चलता है कि आजकल भारत के नगरों की बहुत अधिक दुर्दशा है; यहाँ बहुत सी जानें व्यर्थ जाती हैं और परिणाम-स्वरूप लोगों को बहुत अधिक कष्ट भेलने पड़ते हैं। यहाँ के लोगों में जीवनी-शक्ति बहुत ही कम होती है। इस समय बच्चों के कल्याण के लिए कई संस्थाएँ तथा समितियाँ काम कर रही हैं। इसके लिए शिशु-हितकारी संघ, मातृगृह तथा इसी प्रकार की और संस्थाएँ काम कर रही हैं। बहुत अधिक मृत्यु-संख्या और मानव जीवन का नाश रोकने के लिए जनता को अपनी आर्थिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों के सुधार की ओर ध्यान देना चाहिए। इस बात की आवश्यकता है कि बराबर डाक्टरों आदि के द्वारा जाँच होती रहे, घूमने-फिरने

और सैर करने के लिए खुली ज़मीनें तैयार हों, बच्चों के पालन-पोषण और भोजन आदि का ठीक प्रबन्ध हो, लोग थोड़ा-बहुत व्यायाम करें और ताज़ी हवा में रहें तथा उनके मकान साफ़ हों और उनमें बहुत अधिक भीड़-भाड़ न हो।

स्त्रियों की अवस्था—नगरों में तो स्त्रियों की मृत्यु-संख्या अधिक होती है और प्रान्तों में पुरुषों की। हमारे घरों में परदे की जो प्रथा है, उससे भी स्त्रियों का स्वास्थ्य बहुत ख़राब होता है और उनकी जीवनी शक्ति बहुत घट जाती है। इसी परदा-प्रथा के कारण स्त्रियों को ऐसे मकानों में रहना पड़ता है जिनमें न तो अच्छी तरह हवा ही आती है और न रोशनी ही। इसके सिवा ऊपर जो और ख़राबियाँ बतलाई गई हैं, उनका भी स्त्रियों के स्वास्थ्य और शरीर पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि इसके साथ बाल-विवाह, वयस्क होने से पहले ही प्रसव, ख़राब भोजन, प्रसव-सम्बन्धी असन्तोषजनक प्रणालियाँ और दार्ढ़ के कामों के ज्ञान का अभाव आदि बातें भी जोड़ दी जायँ तो हमें उन कारणों का एक पूरा चित्र मिल जाता है जिनसे इस देश में स्त्रियों की मृत्यु-संख्या बहुत अधिक होती है।

भारतवासी ख़राब पानी पीते हैं, ख़राब हवा में साँस लेते हैं, थोड़ा और ऐसा भोजन करते हैं जिससे शरीर का ठीक पोषण नहीं होता, छोटे-छोटे कमरों और मकानों में बहुत से लोग एक साथ मिलकर रहते हैं और चारों ओर गन्दे मकानों और स्थानों से घिरे रहते हैं; और इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि उनका शरीर बहुत दुर्बल हो जाता है और वे बहुत जल्दी मर जाते हैं। भारतवासियों की औसत उमर २३.५ बरस कही जाती है। जापानवालों की औसत उमर ४४.५ और हँगलैंड-वालों की ५३.५ है।

प्रान्तीय सरकारों के सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी विभागों को इन सब बातों की ओर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए।

१८८५—१९१०	१९११—१९२१
समस्त भारत की जन्म-संख्या ३'६४ प्रतिशत ...	३'६८ प्रति १००
” ” ” मृत्यु-संख्या ३'०८ ” ...	३'४१ ” ”
अवशिष्ट प्राणियों की संख्या '२६ ” ...	'२८ ...

सन् १८८५ से १९२१ तक औसत '४८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

१९२४ में भारतवर्ष में प्रान्तीय जन्म तथा मृत्यु-संख्या

प्रान्त	जन्म-संख्या	मृत्यु-संख्या
दिल्ली	४२'४३	३३'५७
बंगाल	२६'५	२५'६
बिहार और उड़ीसा	३५'७	२६'१
आसाम	३१'०४	२७'३०
संयुक्त प्रदेश	३४'७२	२८'२६
पंजाब	४०'१	४३'४
उत्तर-पश्चिमी सीमान्त देश	२७'०	३१'०
मध्य प्रदेश और बरार	४४'१८	३२'५६
मद्रास	३४'६	२४'५
कुर्ग	२१'२०	४१'०६
बम्बई	३५'६०	२७'६३

रोग—इस समय भारत में कई ऐसे भीषण रोग फैले हुए हैं जिनसे बहुत अधिक लोग मरते हैं; जैसे, प्लेग, हैजा, इन्फ्लुएंजा, च्य आदि। सन् १९१८ में इन्फ्लुएंजा से प्रायः सत्तर लाख आदमी मर गये थे। प्लेग और हैजे से हर साल बहुत अधिक आदमी मरते हैं। जब तक लोगों की जीवनी-शक्ति न बढ़े और उनके स्वास्थ्य का सुधार न हो, तब तक इस प्रकार के घातक रोगों से बहुत अधिक लोगों के मरने का भय बना रहेगा। यह बहुत अधिक आवश्यक हो गया है कि हम लोग सचेत हो जायें और सार्वजनिक स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखनेवाले इस परम आवश्यक विषय में अपना कर्तव्य पालन करें।

सरकार का कर्त्तव्य—आजकल सरकार का ही यह कर्त्तव्य माना जाता है कि भीषण रोगों और मद्य-पान आदि से लोगों की रक्षा करे। शरीर मद्यपान का पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और रोगों का सामना करने की लोगों की प्राकृतिक शक्तियाँ बहुत घट जाती हैं। विशेषतः गरमी के दिनों में यह और भी अधिक हानिकारक होता है। रोगों का निवारण सरकार का पहला कर्त्तव्य होना चाहिए। यदि हम पश्चात्य देशों की सरकारों के साथ मुकाबला करें तो हम देखेंगे कि भारत सरकार ने इन विषयों में बहुत ही कम काम किया है। यहाँ बहुत अधिक संख्या ऐसे गाँवों की है जिनमें अस्पतालों की कौन कहे, न तो कोई छोटा-मोटा दवाखाना है, न कोई डारक्ट है और न दाई है जो रोगियों की सहायता या उन्हें मार्ग-प्रदर्शन करे। हमारे गाँवों में प्रायः छोटे-छोटे कोपड़े ही होते हैं जो भूल, रोग, मृत्यु और गन्दगी से भरे रहते हैं। अपनी इच्छा से स्थापित की हुई निजी संस्थाएँ इस सम्बन्ध में बहुत ही थोड़ा काम कर सकती हैं। सरकार को अपनी उदासीनतावाली नीति छोड़ देनी चाहिए और भारत की इन परम आवश्यक बातों के लिए कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिए। राज्य की ओर से चिकित्सा की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें प्रत्येक गाँव और क़स्बे में डाक्टर, दाइयाँ, दवाखाने, अस्पताल, स्वास्थ्य-गृह और रासायनिक प्रयोगशालाएँ हों; और यह काम तुरन्त होना चाहिए। पर सरकार की नीति प्रायः यही रहती है कि वह धनाभाव का बहाना करके जनता का कल्याण करनेवाली बातों में बिल्कुल चुपचाप बैठी रहती है।

मलेरिया, प्लेग, हैजा, चय, काला आजार तथा इसी प्रकार के कुछ दूसरे रोगों के लिए चिकित्सा-सम्बन्धी अनुसन्धान करने में सरकार सहायता देती है।

नगरों में अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं के द्वारा सरकार क्षिणों की चिकित्सा और शिशुओं तथा बालकों के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ कामों को प्रोत्साहन देती है। 'सेवा-सदन' के ढङ्ग की कुछ ऐसी स्थानिक तथा प्रान्तीय संस्थाएँ हैं जो लोगों ने निजी तौर पर और स्वेच्छापूर्वक स्थापित की हैं। ये सब संस्थाएँ भी इस प्रकार के लोकोपकारी काम करती हैं।

परिच्छेद १०

हमारे जीवन का संक्रमण-काल

प्रत्येक समाज में क्रान्तियाँ होती हैं और उनमें संक्रमण-काल आते हैं। कोई समाज सदा एक ही अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता। हम देखते हैं कि सारे विश्व में सदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है और यही बात हमारे समाजों के सम्बन्ध में भी है। केवल बाह्य परिस्थिति ही नहीं, आन्तरिक शक्तियाँ भी समाजों का रूप बदलती रहती हैं। वास्तव में समाज का सारा जीवन ही संक्रमण-काल है। पर उसके जीवन में कुछ ऐसी बड़ी और महत्वपूर्ण घटनाएँ भी होती हैं जिनमें सहसा बहुत बड़े परिवर्तन हो जाते हैं और जिनके बाद बाह्य सम्बन्ध या संघर्ष और आन्तरिक क्रान्ति होती है। इस समय हमारे समाज की आन्तरिक शक्तियाँ दुर्बल हैं और वे उन बाह्य शक्तियों के प्रभावों में पड़कर दब जाती हैं जो प्रबल होती हैं और जिनका विरोध नहीं हो सकता।

अपनी उन्नति की वर्तमान अवस्था में हम लोग ऐसे समय में होकर चल रहे हैं जिसमें हम पर दबाव और प्रभाव पड़ रहा है। वे शक्तियाँ हममें नये विचार उत्पन्न कर रही हैं, हमें नये साँचे में ढाल रही हैं, पुरानी और नई बातों को इकट्ठा कर रही हैं और हमारी बहुत सी परम्परागत बातों तथा हमारे किये हुए बहुत बड़े-बड़े कामों की रक्षा कर रही हैं। इतिहास हमें बतलाता है कि चाहे किसी विशिष्ट अवसर पर विचार और सभ्यता के बाह्य केन्द्रों से बिल्कुल अलग रहना इस दृष्टि से भले ही उत्तम और लाभदायक हो कि हमारा अलग राष्ट्रीय स्वरूप और सभ्यता सबसे निराले ढङ्ग की बनी रहे, पर प्रायः इस प्रकार अलग रहना बहुत अधिक हानिकारक ही होता है। प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि अनेक ऐसे राष्ट्र थे जिनका वैभव

आदि बहुत बड़ा-चढ़ा था और जिन्होंने अपने समय में अनेक बहुत बड़े-बड़े काम किये थे। पर जब वे राष्ट्र संसार की बाह्य शक्तियों से बिलकुल अलग हो गये, तब उनका अन्त ही हो गया।

हम सैकड़ों बरसों तक बाह्य शक्तियों से बिलकुल अलग थे और किसी के साथ हमारा कोई सम्पर्क नहीं था। इसके उपरान्त पहले तो मुसलमानों के आने पर और फिर युरोपियनों के आने पर हमारी उस एकान्तता पर एक भीषण सैनिक आघात लगा। वास्तव में इधर एक हजार बरस से दो सभ्यताएँ, जिनमें से एक मुसलमानी सभ्यता है और दूसरी युरोपियन सभ्यता, एक दूसरी के बाद हमारे विचारों को अन्धकारमय तथा प्रकाशित करने, हमारे मन में गड़बड़ी उत्पन्न करने और हममें स्फूर्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रही हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में वे जातिर्या मुख्यतः इस बात में हमसे श्रेष्ठ थीं कि उनका सैनिक संघटन, नये कार्य करने का उत्साह और सहयोग हमसे बढ़कर था; वे हमसे अधिक कूटनीतिज्ञ और धूर्त थीं; उनका शारीरिक बल हमसे बड़ा-चढ़ा था और वे हमसे अधिक वीर तथा निर्भीक थीं।

दूसरी और वर्तमान बाह्य शक्ति तथा प्रभाव युरोपियन है। उसने अपनी बहुत ही भीषण शक्ति से हमें पकड़कर कैद कर रखा है और हमारे मन में भय तथा आतङ्क भर दिया है। पहले जिस समय परम शक्तिशाली और उच्च आकांक्षा रखनेवाले सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया था और पञ्जाब में हमारे प्राचीन राजा पुरु के साथ युद्ध किया था, उस समय वह हमारे मन में कोई विशेष भाव अङ्कित नहीं कर सका था। पर वह सम्बन्ध क्षणिक था और केवल एक निश्चित तिथि और उस समय के इतिहास की थोड़ी सी बातों के सिवा यहाँ अपना और कोई चिह्न नहीं छोड़ गया।

तब से पुर्तगालियों के यहाँ आने तक हम लोगों में गोरों की किसी आकांक्षा से कोई जोश नहीं उत्पन्न हुआ था। पहले-पहल पुर्तगालियों ने मुसलमानी संघर्ष और अराजकता में बाधा डाली और साथ ही हिन्दुओं की उदासीनता और अकर्मण्यता भी भङ्ग कर दी; तथा हिन्दुओं और मुसलमानों

में जो प्रतियोगिता चल रही थी, उसमें एक बाधा डाल दी। अपनी यान्त्रिक शक्ति तथा संघटित वीरता से उन्होंने हमारे देश में व्यापार करने और बल-प्रयोग अथवा झुल्ल से अपने धर्म का प्रचार करने और हम लोगों को जबरदस्ती ईसाई बनाने के लिए स्थायी रूप से हमारे देश में पैर रखा। उनके बाद यहाँ जो और युरोपियन जातियाँ आईं, वे भी अपने धर्म का प्रचार करने के लिए प्रायः ऐसे ही भीषण उपाय करती थीं; पर फिर भी वे ऐसे ही उपायों का अवलम्बन करती थीं जो कार्यतः हो सकते थे। वे व्यापार का अधिक और दूसरी बातों का कम ध्यान रखती थीं। उस समय हमारे देश की ऐसी दशा हो रही थी कि यहाँ सभी प्रकार के नये प्रयोग और कार्य सुगमता से किये जा सकते थे; इससे वे जातियाँ विजय प्राप्त करने और यहाँ बसने के लिए विशेष रूप से उत्साहित हुईं। इसके बाद जो झगड़ा हुआ, उसमें अँगरेज़ जाति इसलिए सफल हुई कि वह ऐसे ही उपाय ढूँढ़ती थी जो कार्यतः हो सकते थे। साथ ही वह जल्दी समझौता करने के लिए भी तैयार हो जाती थी और उसका बुद्धि-बल अधिक संघटित था। जब इन युरोपियनों का पहले-पहल हम लोगों के साथ सम्बन्ध हुआ, तब उन्होंने ऐसे कार्य किये जो संसार के दूसरे भागों में किये हुए उनके कार्यों और व्यवहारों के तो अवश्य अनुरूप थे, पर फिर भी जो उनकी कही हुई बातों के अनुरूप नहीं थे। पर अनुभव ने इन विजेताओं को यह बात बतला दी कि स्वेच्छाचार और उद्वेगता के अनुचित मार्ग पर चलना ठीक नहीं है; और कुछ समय तक उन्होंने अपने निश्चयों का परित्याग करके स्वयं अपने ही लाभ तथा दृढ़ता के विचार से कागज़ पर लिखकर यह घोषणा कर दी कि अब शान्ति, समानता और सहनशीलता का युग आ गया है। पर वस्तुतः उन लोगों ने देखा कि इन सब बातों को कार्य-रूप में परिणत करना बहुत ही कठिन है। हाँ, इधर पचास वर्षों से हमें इस बात का कुछ प्रमाण मिला है कि जनता के साथ सहयोग होने लगा है और उसके कल्याण के कुछ उपाय होते हैं। परन्तु ये राजनीतिक तथ्य हैं। यहाँ इन बातों से हमारा उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना दो स्वतन्त्र संस्कृतियों के पारस्परिक संयोग से है। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल की युरोपियन

संस्कृति हमारी संस्कृति से कई बातों में बढ़कर है। जो लोग प्रत्येक विदेशी बात से घृणा करते हैं, वे भी उसके प्रभाव के सामने चुपचाप सिर झुका खेते हैं; और जिस समय वे अधिक सतर्क नहीं होते, उस समय वे इच्छा न होते हुए भी उसकी उन्नतिशील वृत्ति तथा आश्चर्यजनक अनुसन्धानों की प्रशंसा कर ही बैठते हैं।

अब हमें इन विदेशी प्रभावों पर विचार करना चाहिए जो हमारे जीवन और विचारों को नये साँचे में ढाल रहे हैं। अपने स्कूलों और कालिजों में हम लोग युरोपियन साहित्य, विज्ञान, इतिहास और दर्शन-शास्त्र आदि का अध्ययन करते हैं। अपने जीवन के साधारण कार्यों में भी हम लोग युरोपियन चाल-ढाल और रीति-व्यवहार ग्रहण करने लगे हैं। उनका भोजन करने लगे हैं, उनका फैशन ग्रहण कर रहे हैं और एक सीमा तक उनका थोड़ा-बहुत अनुकरण भी करने लगे हैं। पर इन सभी बातों में हम लोग साधारण या तुच्छ और महत्वपूर्ण बातों का अन्तर नहीं समझ सके हैं। हम अभी तक अपने आस-पास की परिस्थितियों को भी अच्छी तरह नहीं समझ सके हैं। विज्ञान में उन्होंने जो उन्नति की है, उससे हम लाभ तो उठाते हैं, पर यह नहीं देखते कि उनमें कितनी गम्भीरता और कितनी सत्यता है। इतिहास पढ़कर हम लोग प्रसन्न तथा आलोकित होते हैं; पर उसके आलोक से हम आगे नहीं बढ़ते और न उससे प्राप्त होनेवाले अनुभव से ही लाभ उठाते हैं। हम एक वयस्क पुरुष की भाँति शान्त होकर उसकी आलोचना या अनुभव नहीं करते, बल्कि बच्चों की तरह चकित होकर उसकी ओर देखते रहते हैं। युरोपीय दर्शन-शास्त्र पढ़कर हमें आनन्द तो आता है, पर न तो हम उसकी सत्यता देखते हैं और न यही बतला सकते हैं कि उसमें क्या मिथ्यात्व है। हममें सन्देह तो उत्पन्न हो जाता है, पर हम अपना समाधान नहीं करते। हमारा ज्ञान निरर्थक होता है और इसी लिए हमारे मन में सन्देह उत्पन्न होता है। हम लोग उसकी मुख्य बातों या मूल सिद्धान्तों की तुलना या विश्लेषण नहीं करते। हमारे जीवन-निर्वाह की प्रणालियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। आचार-विचार, रहन-सहन, भोजन और वस्त्र आदि के अनेक विभेद हैं जो

समाज नीति, धार्मिक विश्वास और विज्ञान के उच्च सिद्धान्तों के अनुसार नहीं, बल्कि केवल अनुकरण और मिथ्या भावों के कारण बराबर बढ़ते रहते हैं; और इन्हीं सब बातों से हमारे मन की अस्थिरता प्रकट होती है। जीवन की एकरूपता हममें घबराहट या थकावट उत्पन्न कर सकती है, हम उससे ऊब सकते हैं; पर यदि वह अनिश्चित या अस्थिर हो तो वह निःसन्देह बहुत घातक है।

जब किसी राष्ट्र या जनता का किसी दूसरे राष्ट्र या जनता के साथ सम्बन्ध होता है, तब उसके जीवन में अवश्य ही संक्रमण-काल आता है। पर जब उस पहले राष्ट्र या जनता की जीवनी-शक्ति नष्ट नहीं हो चुकी होती, तब ऐसे संक्रमण-काल बहुत ही छोटे होते हैं। वह तुरन्त उन नई शक्तियों तथा परिस्थितियों पर ध्यान देने लगती है जो उसके जीवन में मिश्रित होने और उस पर प्रभाव डालने लगती हैं। यदि पहले ही वे शक्तियाँ उसके सामने चकाचौंध पैदा कर देती हैं या वे परिस्थितियाँ उसकी काम करनेवाली शक्तियों को रोक देती हैं, तो उनका प्रभाव केवल क्षणिक होता है। जनता तुरन्त ही अपने मन को सँभाल लेती है और उन शक्तियों तथा परिस्थितियों का विरले-षण करने लगती है। उनमें से जो शक्तियाँ तथा परिस्थितियाँ बहुत प्रबल होती हैं, वे उनके अनुकूल बन जाती हैं; और जो दुर्बल होती हैं, उन्हें दबाकर उनसे ऊपर उठ जाती हैं। पर हम समझते हैं कि हमारी ऐसी दशा नहीं हुई है। हम एक संकुचित क्षेत्र में जङ्गल की भाँति आगे बढ़ते और पीछे हटते रहते हैं। न तो कोई अधिक साहसपूर्ण सूचनाएँ उपस्थित की गई हैं, न वीरतापूर्वक सीमाएँ तोड़ी गई हैं और न पुरानी बातों को नई बातों के साथ मिलाकर नई उपयुक्त बातें तैयार की गई हैं। चारों ओर बहुत बड़ी गड़बड़ी मची हुई दिखाई पड़ती है और लोग चकित होकर देख रहे हैं। न तो कोई वास्तविक कामना है, न अध्यवसाय है और न दूरदर्शिता ही है। सब जगह सभी बातों में गड़बड़ी दिखाई देती है। वास्तविक ज्ञान के कुछ स्फुल्लिङ्ग हमें अवश्य आलोकित करते हैं; पर वे भी ज्ञान-साम्राज्य का विस्तार करने-वाली और जलती रहनेवाली मशाल बिना जलाये हुए ही और बिना अपना

काम पूरा किये ही गायब हो जाते हैं। उन्नति और दृढ़ता की कुछ आशाएँ हममें अवश्य उत्पन्न होती हैं, पर शीघ्र ही अचानक ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं जिनसे वे आशाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। हम व्यर्थ ही टिकने का दृढ़ स्थान ढूँढ़ते फिरते हैं। यहाँ इतनी अधिक विरोधी परिस्थितियाँ हैं, इतने अधिक भ्रम फैले हुए हैं कि हम लोग अपने प्रयत्नों में, बल्कि स्वयं अपने पर ही सन्देह करने लगते हैं। हमारे मन में शान्ति नहीं है, बल्कि हमें चारों ओर से सन्देह और अनिश्चय घेरे हुए है। राष्ट्रीय विचार रखनेवाले और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले बहुत बड़े-बड़े नेता ही इस संघर्ष से हमारी रक्षा कर सकते हैं। यदि इस संक्रमण-काल से हम जल्दी, और सफल होकर, निकल सकें तो हम एक बहुत बड़े राष्ट्र में परिणत होने की आशा कर सकते हैं। तभी हम उन्नति के मार्ग पर आरुढ़ हो सकेंगे। जिन बातों का परम्परागत बातों और ज्ञान से अनुभव नहीं हो सकता, वे बातें भाव तथा जनता की बुद्धि से बहुत सहज में उत्पन्न हो सकती हैं। सारे झगड़े और द्वेष बन्द हो जायँगे और हमारे राष्ट्रीय भावों में एक नया परिवर्तन दिखाई देने लगेगा। तब हमारी आशाएँ बलवती होने लगेंगी, हमारी आकांक्षाएँ बढ़ जायँगी और हमारे प्रयत्न कई गुने हो जायँगे। इस प्रकार एक नये युग का प्रभात होगा और हममें ऐसी एकता तथा शक्ति के उत्पन्न होने की सूचना मिलेगी जिसकी सदा आशा की जानी चाहिए और जिसका सदा उपभोग किया जाना चाहिए।

यह बात बहुत ही निश्चित है और समय के लक्षणों से भी यही सूचित होता है कि हम एक ऐसे स्थान पर खड़े हैं, जहाँ हमारे पुराने विचारों, अभ्यासों और प्रथाओं के पुराने संसार और नई आशाओं, आकांक्षाओं तथा जीवन-प्रणालियों के युग का मेल होता है। इस समय हमारा मन सन्देह और अनिश्चय से भरा हुआ है, हमारे आदर्श निश्चित नहीं हैं और व्यक्तित्व की हम पर कोई छाप नहीं है। हम जो सूचना उपस्थित करते हैं या जो उद्गम प्रवृत्तियाँ करते हैं, उसमें एक तरह की चबराहट होती है। अपनी सभी पुरानी आदतें, जीवन-प्रणालियाँ और विश्वास इस समय हमें बुरे जान पड़ते हैं।

हमारे पुराने आदर्शों या सिद्धान्तों का कोई मूलाधार नहीं रह गया है। हम इस समय पुरानी व्यवस्था की सिसकियों और नई व्यवस्था के सङ्गीत के बीच में पड़े हुए हैं। हममें यह विश्वास उत्पन्न कर दिया गया है कि हमने प्राचीन काल में जो कुछ किया, वह सब गलत था। लोग कहते हैं कि हमारा अस्तित्व और सभ्यता ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत बड़ी विफलता थी। इसी लिए सारे देश में सभी प्रकार के परिवर्तनों के लिए पुकार मची हुई है; और शायद लोग वर्तमान व्यवस्था में सुधार करना चाहते हैं; पर वस्तुतः हम यह नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं और हमें क्या करना चाहिए। उपहास तथा आलोचना करने, दुर्वचन कहने और उत्तेजित करने के और बेचैनी तथा असन्तोष प्रकट करने के पाश्चात्य ढङ्गों ने हमारे मन पर अधिकार कर लिया है। हम समझने लगे हैं कि बँधे हुए पाश्चात्य शब्द और वाक्य, पाश्चात्य व्यवस्था और संघटन, उन्नति और सुधार, उद्योग और भौतिक सुख, स्वतन्त्रता, समानता और आतृ-भाव ही ऐसे मूल साधन हैं जिनसे हम उन्नति कर सकते हैं। हम जो काम उठाते हैं, उसकी सत्यता और सफलता में स्वयं हमारे मन में ही शंका या सन्देह होता है; अतः कभी हमें आशा होने लगती है और कभी हम निराश हो जाते हैं। कभी तो हममें दृढ़ विश्वास और विश्वास उत्पन्न होता है और कभी सन्देह तथा निराशा उत्पन्न होती है। कभी तो हम इस विश्वास तथा दृढ़ विश्वास से उत्साहित होते हैं कि वह राम-राज्य बहुत शीघ्र आनेवाला है जिसका हम स्वप्न देख रहे हैं; और कभी हमारे मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि हम भागकर एकान्त में जा रहें और सन्यासियों का सा जीवन व्यतीत करें। कभी तो हममें उत्साह तथा अध्यवसाय उत्पन्न होता है और कभी हम डरकर सब काम छोड़ बैठते हैं। जब बड़ी और कठिन समस्याएँ उपस्थित होने पर हमारे उत्साह और कार्य-शक्ति में बाधा पड़ती है, तब हममें काम करने और सफलता प्राप्त करने की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। जो काम हम करना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में हम यह नहीं जानते कि उसे कहाँ से आरम्भ और कहाँ समाप्त करना चाहिए। हमारे प्रयत्नों में बड़ी दोष होते हैं जो रूढ़ प्रयोगों में हुआ करते हैं; और

प्रायः हमारे चारों ओर फैले हुए कुछ विचार हमें इतना बहका देते हैं कि हमें यही सन्देह होने लगता है कि क्या हम कभी सफलता प्राप्त कर सकते हैं; अथवा हमें यह भी ज्ञात है कि हम किस दिशा में जा रहे हैं ? हममें आत्म-विश्वास की जगह आत्म-विश्लेषण, आत्म-आलोचन और स्वयं अपने आपको ही बुरा-भला कहने की प्रवृत्ति आ गई है। हममें अपने आप और स्वतन्त्रतापूर्वक उन्नति करने की शक्ति नहीं रह गई है; और हम हर जगह दूसरों की नकल करना चाहते हैं और दूसरों की चीज़ें लेकर अपना काम चलाना चाहते हैं।

अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अङ्ग में हमारे सामने ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं जिनका न तो हम कोई निश्चित मान जानते हैं और न कोई सिद्धान्त। सबसे पहली बात तो यह है कि हमें अपने राष्ट्रीय अस्तित्व में ही प्रायः सन्देह हुआ करता है। हम अभी तक निरुद्देश्य भाव से धधर-उधर राष्ट्रीय आदर्श ढूँढ़ते फिरते हैं। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों में न तो उद्देश्यों की ही और न संघटन की ही एकता है। हममें से कुछ लोग औपनिवेशिक आदर्शों का, कुछ लोग ब्रिटिश आदर्शों का और कुछ लोग स्वित्जरलैंड या अमेरिका के आदर्शों का अनुकरण करना चाहते हैं। कुछ लोग इस समय शासन करनेवाली सरकार को ही राष्ट्रीय सरकार बनाना चाहते हैं। ये सब आदर्श या तो संकुचित हैं और या अनुपयुक्त। हम न तो अभी तक जानते हैं और न हमने अभी कोई ऐसा राजनीतिक आदर्श मान्य ही किया है जो हमारे लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो। जब तक हमारे सामने कोई निश्चित और काम में लाने योग्य योजना न हो, जो हमारी आवश्यकताओं के अनुसार हो, तब तक स्वराज्य या होम रूल आदि का विचार बिल्कुल व्यर्थ है। कांग्रेस और लोगों अभी तक स्वराज्य की कोई ऐसी प्रणाली नहीं निश्चित कर सकी हैं जो वस्तुतः काम में आ सके और सबको मान्य हो। कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि कल हमारे जो आदर्श थे, वे आदर्श आज न रह गये हों या आगे चलकर न रह सकें। हममें निश्चित आदर्शों का ही अभाव है; और यह बात संक्रमण-काल का एक विशिष्ट

लक्ष्य है। और जब कि कुछ लोगों को यही सन्देह हो कि हम अपने देश का शासन स्वयं कर सकेंगे या नहीं, तब कहा जा सकता है कि अभी ऐसे आदर्श निश्चित करने का समय ही नहीं आया है। ऐसी दशा में तो यही कहा जायगा कि अभी निश्चित आदर्श स्थिर करने की बहुत ही थोड़ी आवश्यकता है। कुछ लोग चाहते हैं कि यहाँ सदा विदेशी शासन बना रहे; और कुछ कहते हैं कि वह अनिश्चित काल तक रहे। हमारे कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में अनेक प्रकार के विरोधी विचार और विश्वास उपस्थित हैं। अतः यही जान पड़ता है कि हमारे नेता लोग बिना किसी निश्चित सिद्धान्त के वर्तमान बातों में कुछ परिवर्तन करना चाहते हैं। कोई ऐसा विचार, सिद्धान्त या प्रणाली नहीं है जिसका स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ हो। इस समय जो विदेशी सिद्धान्त प्रचलित हैं, उन्हीं को हम ग्रहण कर लेते हैं और अनुचित रूप से उनका प्रयोग करते हैं।

हमारे शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में भी इसी परिवर्तन या प्रयोगवाली अवस्था के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। अभी तक हम यह नहीं जानते कि हमें किस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए; धार्मिक शिक्षा मिलनी चाहिए या लौकिक अथवा दोनों; शिल्प, उद्योग और कृषि की शिक्षा मिलनी चाहिए या केवल मानसिक। हम अभी इसी विषय में एकमत नहीं हैं कि सरकार हमें आरम्भिक शिक्षा दे, माध्यमिक शिक्षा दे या उच्च शिक्षा दे। इसके साथ ही साथ यह भी पुकार मचती है कि हमें बहुत अधिक शिक्षा मिल चुकी है और सब प्रकार की शिक्षा देने का काम तुरन्त रोक दिया जाना चाहिए। मानों जिस प्रकार औषध की मात्रा बहुत अधिक हो सकती है, उसी प्रकार शिक्षा की मात्रा भी बहुत अधिक हो सकती है। इस प्रकार शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों में भी हमारा कोई मुख्य सिद्धान्त नहीं है। यदि हमारा कोई दृढ़ है तो वह केवल रुढ़ प्रयोग का है। कुछ लोग कहते हैं कि यह शिक्षा जीवन तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं के तथ्यों से बिल्कुल अलग है; और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि इसमें राष्ट्रीयता का तो कोई भाव दिखाई ही नहीं देता। हमारे प्राचीन इतिहास और हमारी परम्परा, बल्कि हमारी सारी पुरानी सभ्यता को

व्यर्थ समझकर उसकी उपेक्षा की गई है। बस यही बात है कि कुछ करना चाहिए था और इसलिए कुछ कर डाला गया। यद्यपि हम अन्धकार में शिन्धा-सम्बन्धी आदर्श ढूँढ़ रहे हैं, पर अभी तक हम उसे प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस समय हम लोग अन्यमनस्क भाव से उन पाश्चात्य प्रणालियों और प्रथाओं का अनुकरण कर रहे हैं जो न तो हमारे विचारों के अनुरूप हैं और न हमारे स्वतन्त्र ऐतिहासिक विकास के ही अनुकूल हैं, पर फिर भी जो हमारे सामने बुरी तरह से रखी जा रही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग उनके भाव या मूल तत्त्वों पर ध्यान नहीं देते और केवल फैशन तथा रूप का ध्यान रखते हैं। हम युरोपीय सभ्यता के बाह्य रूप को ही उसका वास्तविक रूप और सर्वस्व समझते हैं और उन्हीं को ग्रहण करना चाहते हैं।

ठीक यही बात हमारे समाज-सुधार-सम्बन्धी प्रयत्नों पर भी घटती है। यहाँ हम सब मनुष्यों की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-भाव के विचारों को लेकर चलते हैं। पर वास्तविक बात यह है कि सब लोग समान नहीं होते; न वे मनमाने ढङ्ग से स्वतन्त्र हो सकते हैं और न स्वार्थ या अपनी इच्छा की पूर्ति का प्रश्न उपस्थित होने पर वे भ्रातृ-भाव से सहयोग ही कर सकते हैं। हमारे समाज-सुधार-सम्बन्धी कार्य-क्रम में मुख्यतः हमारी जात-पातवाजी प्रथा पर ही आक्रमण किया जाता है। परन्तु इस प्रश्न के एक नहीं अनेक अङ्ग हैं। उसकी कुछ बातें तो ऐसी हैं जो उसे बनाये रखने का जोरों से समर्थन करती हैं; क्योंकि वह प्रथा बहुत पुरानी है और हमारे ऐतिहासिक महत्त्व का मुख्य आधार रही है। कुछ लोग इस विचार से निर्दयतापूर्वक उसका समूल नाश कर डालना चाहते हैं कि वह निकम्मी हो गई है, इस समय के लिए उपयुक्त नहीं रह गई है और हमारी नई पीढ़ी और उसकी कामनाओं की पूर्ति में बाधक हो रही है। कुछ लोग उसे आजकल की बढ़ती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए उसमें कुछ सुधार करना चाहते हैं; और कुछ लोगों का यह विचार है कि इसी वर्ण-व्यवस्था की सहायता से हम अपनी सभ्यता का विकास कर सके हैं और बहुत से बोधे और नासमझ लोगों के मध्य

अपना बौद्धिक या मानसिक महत्त्व स्थापित कर सके हैं। कुछ नये विचारों के लोग यह भी कहते हैं कि इसी वर्ण-व्यवस्था के कारण हमारी सर्वांगीय उन्नति छिन्न-भिन्न हो गई है और महत्त्व प्राप्त करने की दौड़ में इसी के कारण हम लोग बहुत पिछड़ गये हैं। समाज-सुधार-सम्बन्धी इस प्रश्न के और भी अनेक अङ्ग हो सकते हैं। जो हो, पर इन सभी अङ्गों का प्रति-पादन और समर्थन करनेवाले बहुत बड़े-बड़े लोग हो गये हैं। इस प्रकार के परस्पर विरोधी विचारों और आचार्यों के झगड़े में पड़कर हम यही नहीं समझ सकते कि हमें क्या करना चाहिए। इसके अतिरिक्त खान-पान, वस्त्र, विवाह और सत्य तथा मिथ्या विश्वासों से सम्बन्ध रखनेवाले और भी अनेक प्रश्न हैं। उन सब में परिवर्तन हो रहे हैं और उन्हें सुधारकर ठिकाने खाने की आवश्यकता है। यह जानना या समझना कठिन हो रहा है कि कौन सी बात अच्छी है और कौन सी बुरी; कौन सी बात ठीक है और कौन सी ग़लत। हर एक अपने अनुयायी तैयार करने का प्रयत्न कर रहा है और उनके निश्चय तथा उत्साह के अभाव से ही हम समझ सकते हैं कि उनके विचारों का क्या मूल्य अथवा महत्त्व है।

कोई यह नहीं समझता कि किन सिद्धान्तों के अनुसार किसी समाज अथवा समाज-समूह की ऐतिहासिक रचना होती है और उसके भावी स्वतन्त्र विकास के लिए किन बातों की आवश्यकता होती है; और जिसे देखो, वही आगे बढ़कर समाचार-पत्रों और मञ्चों से समाज-सुधार के कुछ न कुछ उपाय बतला चला है। यह बहुत ही दुःखद दृश्य है और इससे सूचित होता है कि जिस समय हमारे यहाँ बहुत महत्त्व के राष्ट्रीय परिवर्तन होनेवाले हैं, उस समय हमारे यहाँ के लोग दिमाग़ ठिकाने रखकर किसी बात पर विचार ही नहीं कर सकते। समाज-सुधार-सम्बन्धी कामों पर तभी विश्वास किया जा सकता है जब वह थोड़े से उत्तरदायी आदमियों के हाथ में हों; न कि ऐसे लोगों के हाथ में हों जो नेकटाई-कालर लगाने, हाथ मिलाते और गुड़ मारिग़ करने को ही अपने समय का सर्वस्व समझते हों और जिनका यह विश्वास हो कि इन्हीं सब बातों से सभ्यों की सूची में स्थायी रूप से नाम

शिक्षा जाता है। समाज-सुधार का काम ऐसे लोगों को नहीं सौंपा जा सकता। समाज-सुधार के विकट प्रश्नों पर वे लोग नहीं विचार कर सकते जो यह समझते हैं कि ऊपर से देखने में जो कुछ भ्रष्टा और आकर्षक जान पड़े, वही बिना सोचे-समझे ग्रहण कर लेना चाहिए और उसी का अनुकरण करना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि हमें अपनी परम्परागत बातों और भावों का कुछ भी ध्यान नहीं करना चाहिए अथवा समय के प्रवाह के सामने समझदारी को ताक पर रख देना चाहिए, वे लोग न तो वर्तमान सामाजिक कठिनाइयों से हमारी रक्षा ही कर सकते हैं और न उन्हें ऐसा करने का प्रयत्न ही करना चाहिए। समाज-सुधार-सम्बन्धी समस्याओं का पाश्चात्य दृष्टि से अध्ययन किया गया है। हमारे देश की सब बातों और संस्थाओं की पाश्चात्य दृष्टि से आलोचना की गई है; और वह दृष्टि कभी-कभी तो ठीक और न्यायसङ्गत रही है, पर बहुधा पक्षपातपूर्ण ही रही है।

इन सभी बातों में अनेक प्रकार के ऐसे भिन्न-भिन्न प्रस्ताव तथा साधन हमारे सामने रखे गये हैं जिनमें बहुत अधिक पारस्परिक अन्तर है। जो कुछ किया गया है, उसमें कोई एकरूपता नहीं है। उसमें राष्ट्रीयता के स्वरूप का नितान्त अभाव है। हमारे समाचार-पत्र, हमारे सामयिक पत्र और हमारी पुस्तकें, हमारे लड़कपन और अभ्यवस्थित आचरण के श्रेष्ठ प्रमाण हैं। हर एक आदमी सब कुछ कर डालना चाहता है, पर अन्त में वह कर कुछ भी नहीं पाता। हम प्रत्येक बात में पूरे दृढ़ होना चाहते हैं जो बिल्कुल असम्भव है; और अन्त में हमें किसी बात का कुछ भी ज्ञान नहीं होता; और ऐसे लोगों की साधारणतः यही दशा हुआ करती है। सभी प्रकार की असङ्गत बातें उठाई और की जाती हैं; और इसी लिए न तो हम लोगों के उद्देश्य प्रत्यक्ष हो सके हैं और न उपाय या साधन। हमने न तो किसी विषय को अच्छी तरह से समझा है और न अच्छी तरह से उसका सञ्चालन किया है।

इन सब परिस्थितियों में आवश्यक यह है कि अनुभव प्राप्त किया जाय, निरीक्षण किया जाय और परम्परा तथा जीवन का ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया

जाय जो हमारे कृत्यों या कर्तव्यों में एक प्रकार से सर्वमान्य हो सके। एक ऐसा मार्ग-दर्शक या अभीष्ट स्थान निश्चित होना चाहिए जो हमें आगे की ओर ले जा सके और या जिस तक हम अवश्य पहुँच जायें।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस समय हम एक आश्रयमय युग में हैं। इस युग में प्रत्येक चिह्न नष्ट हो रहा है, प्रत्येक विश्वास की सत्यता के सम्बन्ध में प्रश्न किया जा रहा है, प्रत्येक स्थापित संस्था की परीक्षा हो रही है, चारों ओर सुधार की पुकार मची है और प्रत्येक वक्ता या लेखक क्रान्ति का सबसे बड़ा नेता बन रहा है। इस अशान्ति और क्रान्ति से समाज का शान्त और व्यवस्थित पुनर्घटन होगा, अथवा उस पुनर्घटन से पहले क्रान्ति का भीषण अनर्थ उपस्थित होगा, यह नहीं कहा जा सकता। यह बात जनता की इच्छा, बुद्धिमत्ता और गुणों पर निर्भर करती है; और ये सब बातें अधिकांश में उस प्रकाश तथा नेतृत्व पर निर्भर करती हैं जो आगे चलकर प्राप्त होगा। और ये दोनों बातें भी मुख्यतः उन लोगों के उत्तरदायित्व के भाव पर निर्भर करती हैं जो अपने व्याख्यानों और लेखों के द्वारा लोकमत को सम्बालित करते और उसे नये सॉचे में ढालते हैं।

अवश्य ही यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। यह नये विचारों को ग्रहण करने के लिए बहुत बड़ी जाग्रति है। अतः यह हमारे लिए एक ऐसा संकेत और पूर्व-सूचना है जो हमें बतलाती है कि जीवन के उच्च आदर्शों को बनाये रखने के लिए हमारे कितने बड़े और अधिक उत्तरदायित्व हैं।

221086

अनुक्रमणिका

अ

अकाल २०

—कमीशन, १८८० का १७

—, भीषण—१८७७-७८ १२०

„ „ १८८६-१८९० १२६

—सम्बन्धी सरकारी नीति २१

अगस्त १६१७ की घोषणा १३८,

१६४, १८६

अल्लूतों का आन्दोलन १७७

अधिकार विभाग १८८

—, आर्थिक—१८६

अप्रतिकार का सिद्धान्त २३५

अमात्य ६१

अलीगढ़ काब्रेज, १६१२ में १७३

असहयोग, अहिंसात्मक १४६, १५१

—का कार्यक्रम १४५

—का सन् १६२० १४०

—में आंशिक सफलता १४६

असहयोगी ११७

अंगरेजों के दो नियामक तत्व १६६

आ

आगाखी १७१

आज्ञापालन की आदत २३८

ऑफिशल सीक्रेट्स ऐक्ट १२८

आयात ६४

—की मुख्य-मुख्य वस्तुएँ ६४

आरम्भिक सभाएँ १०६

—स्थानिक तथा प्रान्तीय सभाएँ ११२

आर्डिनेन्स १५३

आर्थिक जीवन १, २, ४१

आर्म्स ऐक्ट २६३

—, १८७८ ११६

आवागमन के मार्ग, जल और स्थल के ५

इ

इलबर्ट बिल ११०, १२०

इस्लिंग्टन कमीशन २५६

इंडियन एसोसिएशन १०६

इंडियन काउंसिल ऐक्ट १८६१—१५६

—, १८६२—१५८

—, १८०६—१५६, १६०

—, १८०६ का स्वरूप १६२

इंडियन डेरिटोरियल ऐक्ट, १६२०

२६३

ईश्वर के स्वामित्ववाली कल्पना ६४

उ

बदर और नरम दलवाले ११५

ए

एकतन्त्र शासन-प्रणाली ८८

एकतन्त्री राज्य ८७

एकता की आरम्भिक शक्तियाँ ११०

एविङ्गक्यूटिव के हस्तक्षेप २३४

एचिसन कमीशन, १८६५ में २५५

एनी बेसेंट, श्रीमती १५२

—, और राजनीति १३५

एमिग्रेशन ऐक्ट १६४

ऐ

ऐक्ट—, १८३३ का १८१, २५४

—, १८३४ का २४५

—, १८५३ का १५७, १८२

—, १८६१ का १८३

—, १८७८ का २४५

—, १८७८ का रद्द होना २४६

—, १६१० का २४८

—, १६१६ की प्रस्तावना २१७

औपनिवेशिक शासन-प्रणाली २१४

—स्वराज्य २१२

—स्वराज्य और स्वतन्त्रता की सम-

स्या २०६

कङ्कन, खांडे १५२

—की साम्राज्य-वादिता और

आचरण १२८

कानून बनाने के अधिकारों का

विभाग १८७

कानूनी अधिकार २२४

—बाधाएँ २४७

काम्रेस—११२

—, अमृतसर १६१६ १४०

—, अहमदाबाद १६२१ १४७

—, आन्दोलन के कुछ प्रमुख

कार्यकर्त्ता १२५

—, कन्वेंशन १३२

—, कलकत्ता १६०६ १३०

—, कलकत्ता और नागपुर १६२०

१४३

—, का आरम्भिक उद्देश्य १२०

—का पहला अधिवेशन, १८८५

१२२

—का ब्रिटिश सिद्धान्तों के लिए

आग्रह १२४

—का भाव १४०

—का राष्ट्रीय स्वरूप १२६

—की वृद्धि में महत्वपूर्ण प्रभाव,

१६१४ के बाद १३४

—की शाखाएँ और कार्य १२४

कांग्रेस की सदस्यता १३२

- के उद्देश्यों और संघटन का पुनर्निर्माण (१८६६) १३६
- के स्वीकृत प्रस्तावों का स्वरूप १२२
- , नागपुर, १६२० १४१
- पर नरम दलवालों का अधि-
कार १३१
- , बनारस, १६०५ १३०
- , मद्रास, १६०८ १३१, १३२
- में दो दल १४८
- में नवीन दल और नवीन
उद्देश्य, उद्देश्य के कारण १२७
- में राष्ट्रीय दल का प्रवेश १३६
- , जलनऊ १६१६; लीग और
कांग्रेस का समझौता १७३
- लीग योजना (१६१६) १३७
- , विशेष १६१६ १३६
- , विशेष दिल्ली १६२३ १४६
- , सूरत १६०७ १३०
- , सूरत के रुग्णों के बाद १३३
- , सूरत में फूट १३१

कांग्रेसों, आरम्भिक—, के कार्य का
महत्त्व १२६

कुटी-शिखर ४६, ४७

कृषकों—की व्यक्तिगत और सामा-
जिक कठिनाइयाँ ३०

—की शिक्षा २४

कुचि—की अवस्था २१

- के सिवा और पेशों का अभाव ३२
- सम्बन्धी कुछ कड़े उपाय ४०
- सम्बन्धी हितकारक सुधार ३३

कैसरे हिन्द ११६

कोआपरेटिव या सहयोग आन्दो-
खन ३२

क्रान्तिकारक आन्दोलन; उसका
स्वरूप और विस्तार १२१

क्रान्तिकारी ११८

क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ऐक्ट १३३
ख

खिलाफत आन्दोलन १७३

ग

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट १८५

गान्धी, महात्मा १४०, १४७, १४६

- का आदर्श और सत्याग्रह आश्रम
की नियमावली १४४

—की नई नीति और कार्य-प्रणाली १४१

गाँव ६७

—और केन्द्रीय शासन या सर-
कार ७१

—का आर्थिक संघटन ६७

—का वर्गीय या सामुदायिक जीवन ६३

—के आर्थिक संघटन का स्वरूप ६८

—के कर या आय के साधन ७१

गोखले १३०, १३६

ग्राम पञ्चायत और जाति पञ्चायत ७१

घ

घोषणा—, १८५५ वाली २५४

—, १९२० वाली २५६

—, अगस्त १९१७ की १३८, १६४,

१८६

च

चित्तरंजनदास १४७, १४८, १४९

चेटी, राव बहादुर पी० धियागरैया १७५

ज

जनता—की जाग्रति १०४

—की शारीरिक अवस्था २७१

—के स्वास्थ्यात्मक जीवन का स्वरूप

२७१

जन-संख्या की वृद्धि २५

जन्म तथा मृत्यु-संख्या २७६

जमींदारी की प्रथा ७९

जमीन पर दबाव और बेकारी ४३

जागीरदारी की प्रथा ९६

—की भावना ९६

जाति पञ्चायत ७१

जातीय शाखाएँ ११८

ट

टाटा, जे० एन० १०९

ड

डफरिन, लार्ड १२२, १६१

—और कांग्रेस १२३

डार्लिंग, मि० १९, २०

डिग्बी, मि० २०

डिफेंस ऑफ इंडिया ऐक्ट १५३

डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन १६३,

२५१

त

तिलक, लोकमान्य १३३, १३४,

१३५, १३६, १४१, १५२

तैलङ्ग, के० टी० १२२

थ

थामस मनरो, सर २४३

—का मत, समाचार पत्रों की स्व-

तन्त्रता और विदेशी शासन

पर २४३

थियोसोफिस्ट १०८

द

दण्ड-स्वरूप अतिरिक्त पुलिस २३३

दफा—, १२४ ए—, का सुधार २४७

—, ५०५ का सुधार २४७

दयानन्द सरस्वती, स्वामी १०८, १०९

दादाभाई नौरोजी ११२, १२२, १३०

—द्वारा नए उद्देश्य की व्याख्या १३०

दास, सी० आर० १४७, १४८,

१४९

देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था ११

देशी राजाओं—की कामनाएँ २०१

—की बेचैनी २००

देशी रियासतें—और ब्रिटिश सम्राट्
११२

—और १८५८ की घोषणा ११४

देशी रियासतों—का ब्रिटिश भारत
और ब्रिटिश साम्राज्य के साथ घनिष्ठ
सम्बन्ध ११८

—का वर्गीकरण ११४

—का वास्तविक स्वरूप ११६

—का संघ में सम्मिलित होना
११०

—की समस्या, भारत की स्वराज्य-
भोगी ११०

—के शासक और शासित ११७

—के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि-
कोण २०४

—के साथ पुरानी सन्धियों का
स्वरूप १११

—के हित भी शेष भारत के हित
के समान हैं १११

ध

धार्मिक जाग्रति और सुधार १०८

न

नगर ७३

—और केन्द्रीय सरकार ७६

—का आर्थिक संघटन ७३

—का श्रेणी-संघटन ७४

—का समाज ७३

नगरों—की समस्या २७२

—के शिल्पीय जीवन का ह्रास ७७

—तथा ग्रामों के सम्बन्ध के लेखे ८०

नये—दंग के कार्यकर्त्ताओं की
आवश्यकता १४४

—सुधार, ११२३ में २४१

नरम और गरम दल १३१

नरम दलवाले १३६

नरम दलवालों का सिद्धान्त १३२

नरेन्द्र-मण्डल २०३

नागरिक—अधिकारों का उत्खनन
भारत में २३१

—प्रजा और परदेशी २२५

—भाव ७६

नागरिकों—के कानूनी अधिकार और
कर्त्तव्य २२०

—के भिन्न-भिन्न अधिकार २२६

—के मुख्य अधिकारों की घोषणा
२२८

—के रक्षात्मक अधिकार २२६

नायर, डी० टी० एम० १७५

निर्यात—६४

—की मुख्य-मुख्य वस्तुएँ ६५

निषेधकारी कानून ३६

नेहरू—कमेटी १७४

—, मोतीलाल १४७, १४८

—रिपोर्ट ११२८ १५०

नैशनल लीग, बङ्गाल में १०६

न्यूज पेपर्स ऐक्ट २४७

प

पंजाब—का हत्याकाण्ड १२४

—में अत्याचार १३४

पिछाई, श्रीयुक्त २३

पूर्ण स्वतन्त्रतावाला कांग्रेस का
प्रस्ताव १२१

प्रतिकारी सहयोगी ११७

प्रत्यक्ष कार्य—और पार्लिमेंटी कार्य
१५०

—हड़तालें १५१

प्रान्तों का पुनर्विभाग और सांस्कृतिक
स्वतन्त्रता २३६

प्रेस ऐक्ट १३३, २४२

प्रेस ऐक्टों का इतिहास २४२

प्रेसीडेंसी एसोसिएशन,

बम्बई में १०६

फ

फीरोज़शाह मेहता १२२, १३६

फेडरल १८६

ब

बङ्ग का काम या महाजनी ६३

बङ्ग-भङ्ग—१२६, १६०

बच्चों—की मृत्यु २७३

—की मृत्यु-संख्या २७३, २७४

बन्दोबस्त की प्रणाली २८

बन्दोबस्त की प्रणाली—जमींदारी २८

—ताबलुकेदारी २८

—रैयतदारी २८

—संयुक्त २८, २६

—सामुदायिक २८

बाम्बे एसोसिएशन ११२

बारडोली और उसके बाद १४८

बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाना २३३

ब्रिटिश—इंडियन एसोसिएशन ११२

—राज्यतन्त्र ६७

—राज्यतन्त्र, स्वेच्छापूर्ण और नौकर-
शाही से युक्त ६८

—शासन में कार्यकारी शासकों
का प्रभुत्व ६६

ब्रडला १२४

भ

भारत—और संघ २१७

—का भविष्य १७०

—की आबादी २१

—की आर्थिक उन्नति ७

—की दरिद्रता की वास्तविकता १८

—की शिल्पी जनता ४१

भारतवर्ष—की दरिद्रता के मुख्य
कारण १७

—के प्रचुर साधन ३

भारतवासी—का अधिकार और भारत
का संकट २६४

भारतवासी—की औसत आमदनी १३

—की कृषिदारी १८

भारतीयकरण, सरकारी नौकरियों का—२५४

भारतीय—नैशनल कांग्रेस का विश्वय ११३

—राष्ट्र संघटन में सुधार २१७

—राष्ट्रीय महासभा, १८८५ १२१

—राष्ट्रीय विवेक की जाग्रति १२१

भारतीयों—का विभाग, पेशों के अनुसार ८०

—की प्रतिभा ५

भूमि—का वर्गीकरण २४

—छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त २६

—पर स्वामित्व का स्वरूप ३०

स

मजदूरों का विदेश जाना ५६

—इसके लाभ और शर्तें ५६

मजदूरों की वर्तमान अवस्था ५५

मताधिकार २३३

मन्त्रिमण्डल, युद्ध-सम्बन्धी १३३

महमूदाबाद के राजा १७२

महाजन सभा, मद्रास में १०३

महायुद्ध, यूरोप में १३४

—से जोर पहुँचना १३५

मांटफोर्ड-रिपोर्ट १६५, २५६

मांटफोर्ड-रिपोर्ट—सुधार १३४

—सुधार के प्रस्ताव १६५

मार्ले-मिंटो सुधार १५३

—की अनुपयुक्तता १३३

मिंटो, लार्ड १७१, १७२

मुसलमानों राज्यतन्त्र ३४

मुसलमानों के साथ समकौता १३४

मुस्लिम लीग १७३

—, १९०६ में १७२

मूल सिद्धान्त २२३

य

युनिवर्सिटी ऐक्ट १२८

र

रक्षित सेना की प्रणाली २६६

राजनीतिक—जीवन ८६, १०८, १२५,

१८०, २२०, २५०

—शाखाओं का उदय ११४

—समस्याओं पर विचार १८३

राजभक्त १०४

राजा, छोटे-छोटे २०५

—की स्थिति २०६

राज्य के आर्थिक कर्तव्य और नीति ६

—, अकबर के शासनकाल में १०

—, कौटिल्य-काल में १०

रानडे, महादेव गोविन्द १०३,

११२, १२२

रामकृष्ण परमहंस, स्वामी १०८

राममोहन राय, राजा—१०८, १०६

—के मत और सरकार से प्रार्थना २४३

—ने मेमोरियल तैयार किया २४४

राखेट—ऐक्ट (१६१६) १३४, १४०,
१५४

—, मि० जस्टिस १५३

राष्ट्र—के व्यक्तिवादी और समष्टिवादी
सिद्धान्त १००

—वादी ११६

—, सप्ताङ्क—८६

राष्ट्रसंघ—२१३

—और उसके उद्देश्य २१४

—और भारत २१७

—के अन्यान्य कार्य २१५

—के सदस्य और संघटन २१६

राष्ट्र-संघटन-सम्बन्धी समस्याएँ १८०

राष्ट्रीय आन्दोलन १०८

—के आरम्भिक मार्गदर्शक १०८

—के प्रवर्तक ११४

राष्ट्रीय—दल कांग्रेस में सम्मिलित
१३४

—मनोबुद्धि ११३

राष्ट्रीय महासभा, भारतीय १११

—की सृष्टि १२१

—के उद्देश्य १२२

—सम्राट में, १८८४—१२१

राष्ट्रीय शिक्षा १२६

रिपन, लार्ड २४६

—का शासन-काल १२०

रिफार्म ऐक्ट (१६१६) १३६

रेगुलेशन—(१८१८) १५४

—बंगाल (१८२३) २४४

—बम्बई (१८२७) २४४

रोग २७६

ख

लॉ कमीशन १८२

लाजपतराय, लाला १४७

लिटन, लार्ड—, का शासन-काल

और उनकी साम्राज्यवादिता ११६

ली कमीशन २५८

लेखन तथा भाषण की स्वतन्त्रता २३४

ख

वर्तमान बल और संघटन २६५

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट (१८७८) ११६,
२४५

वहिष्कार १२६

विक्टोरिया, महारानी की सन्

१८५८ वाली घोषणा १२६

विज्ञान और मशीनों की सहायता

से काम ५१

विदेशी शासन—असह्य हो रहा है

१०३

—के प्रभाव १०४

विदेशों में भारतीय नागरिक २६८

विरोध का सिद्धान्त २३७

विवेक और आराधना की स्वतन्त्रता
२३२

विवेकानन्द, स्वामी १०८

वेडरबर्न १२३

वेलेसली, लार्ड २४२

वैदिक काल में प्रजातन्त्र और वर्गीय
तन्त्र ८६

वैद्य आन्दोलनकारी ११५

व्यक्तिगत रक्षा का अधिकार २३५

व्यापार—का आरम्भ ५८

—का उन्नत स्वरूप ५६

—, हिन्दू काल में ५६

—, मुस्लिम काल में ६१

—, युरोपियन काल में ६१

श

शासकों—की नीति १५५

—के कुछ समाधानकारक उपाय

१५६

—के हाथ में नियन्त्रण, सेना १५५

शासन के ऐतिहासिक प्रकार ८६

शासनाधिकार का विभाग १८४

शिल्प ४१

शिल्पकार, नए, और मजदूर ४६

शिल्प-कार्य में भारत के पिछड़े

रहने का कारण ४२

—, कुटी, और उनका महत्त्व—४६

शिल्प—, कुटी, के भेद ४७

—, नये और मजदूर ४६

—, नये और मजदूर की आय ५०

—प्रणाली ८

—वाद, आधुनिक ५३

—विभाग ४५

—संघ, भारत में ५३

—सम्बन्धी क्रान्ति १०६

—, सहायक—, की व्यवस्था ३७

शिल्पियों की अवस्था, पुराने ४८

शिल्पी जीवन की श्रेणियाँ, भारतीय ५२

स

सरकार—और कार्तकार का सम्बन्ध

२७

—और जनता ६६

—का कर्तव्य १०१, २७७

—के कर्तव्य, आधुनिक काल में
१०२

—के कार्य और गान्धी का सन्देश

१४२

—द्वारा वैज्ञानिक सहायता ३४

सरकारी—नौकरियों में जातीय पक्ष-
पात २३२

—मिलिकयत का ज़मीन पर प्रभाव
२७

—सहायता और संरक्षण ३७

सर्वदल-सम्मेलन (१६२८) १५०

सविनय आज्ञा-भङ्ग १४७
 सहयोग और संघटन की आवश्यकता ६
 सहयोगी, प्रतिकारी ११७
 सहायक शिल्पों की व्यवस्था ३७
 संघ-सम्बन्धी समस्या १८०
 संघात्मक संघटन १८६
 सत्याग्रह १४१
 समस्याएँ जिनका निराकरण नहीं
 हुआ है १७०
 समाचारपत्रों—का नियन्त्रण २४२
 —की स्वतन्त्रता और उसका
 महत्त्व २४१
 सम्मिलन—की स्वतन्त्रता २३४
 —का अधिकार २३३
 साहमन कमीशन २१७
 —के बहिष्कार की नीति १५१
 साउथ इंडियन पीपुल्स एसोसिएशन
 (१९१७) १७६
 सामाजिक—नियम और राज्य के
 कानून २२२
 —नियमों की आवश्यकता २२०
 —सुधार १०६
 साम्प्रदायिक आन्दोलन १७१
 —, आक्रामक १७५
 —, सुसंयोजितों का १७१
 —, राष्ट्रीयता का विरोधी और भया-
 नक १७८

साम्यवादियों का क्रान्ति और प्रत्यक्ष
 आक्रमणवादी सिद्धान्त २३६
 साम्राज्य—और विदेशी शासन २०७
 —की संगति और सहयोग २१२
 साम्राज्य-महासभा १६६, २१०,
 २६६, २७०
 —१९२१ के बाद से २६६
 —१९२६ वाली २१३
 —के लाभ २११
 साम्राज्य में भारत की स्थिति २१३
 सार्वजनिक—मत के प्रभाव की आ-
 वश्यकता ३८
 —सभा करने का अधिकार २३२
 —सभा, पूने की ११२
 सिंचाई का कार्य ३५
 सिविल अधिकारियों का सैनिक अधि-
 कारियों के अधीन होना २६१
 सिविल सर्विस परीक्षा ११६
 सेडिशस—कमेटी रिपोर्ट १५४
 —मीटिंग्स ऐक्ट १३२
 सुधारों के सम्बन्ध में—मिन्न-मिन्न
 दलों के विचार १३६
 —होमरूलवाले १३६
 सुव्यवस्था ऐयर, एस० १२२
 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी १०६, ११२,
 १२१, १२२
 सूती कपड़ों पर कर ११६

सेना—का वर्गीकरण २६७
 —का भारतीयकरण २६८
 —का स्वरूप २६८
 —में भारतीयों के अधिकार की
 उपेक्षा २६६
 —में साम्राज्य का हस्तक्षेप और
 नियन्त्रण २६०
 सैनिक कालेज २६६
 स्कीन, सर एंड्रयू २६६
 —कमेटी २६०
 स्टैट्युटरी—कमीशन (१६२७) २१७
 —सिविल सर्विस रेगुलेशन २६६
 स्त्रियों की अवस्था २७६
 स्थानिक स्वराज्य ६१, १६८, २६०
 —१६१८ का निश्चय २६२
 —का विस्तार और शक्ति २६३
 —के उद्देश्य २६०
 —सम्बन्धी लार्ड रिपन के निश्चय
 २६१
 —सम्बन्धी लार्ड हार्डिज के निश्चय
 २६२

स्वदेशी १२६
 स्वभाम्य-निर्यात का अधिकार २१८
 स्वराज्य १२६
 —, एक वर्ष में १४६
 —वादियों का हृदय और बल १४८
 —, स्थानिक ६१, १६८, २६०
 —स्थापना आवश्यक १३०
 स्वास्थ्य २७१

ह

हड़तालें—१६१
 हथियार-सम्बन्धी पक्षपात, कुछ वर्गों
 और जातियों के साथ २६२
 हमारे जीवन का परिवर्तन-काल २७८
 हंटर, विलियम २४६
 हार्डिज, लार्ड—का १६१४ का
 भाषण १६४
 —का स्थानिक स्वराज्य-सम्बन्धी
 निश्चय २६२
 होमरूल लीग—ग्रान्दोलन १३४
 —का काम १३६
 ह्यूम, ए० ओ०—१२२, १२३

L.B.S. National Academy of Administration, Library

ਸਸੁਰੀ

MUSSOORIE

यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है।

This book is to be returned on the date last stamped

[illegible]

H
320.454
पुणता

अवाप्ति सं०

ACC. No.....

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No..... Book No.....

लेखक

Author पुणताबेकर, श्रीकृष्ण व्यंकटेश

शीर्षक भारतीय लोकनीति और

Title सभ्यता - दूसरा खंड

320.454

पुणता

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 121752

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving